अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन

स्वर्गीय श्री वेंकटेश्वर शर्मा

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना-३

वक्तव्य

'अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन'-नामक यह ग्रन्थ, पूज्य राष्ट्रपति देशरत्न डॉक्टर राजेन्द्रप्रसादजी ने, परिषद् से प्रकाशित करने के लिए, भेजा था। परिषद् के सञ्चालक-मण्डल ने नियमानुसार दो विशेषज्ञों—पटना-विश्वविद्यालय के दर्शन-शास्त्र-विभाग और मनोविज्ञान-विभाग के प्रोफेसर पण्डित हरिमोहन झा और कुमार दुर्गानन्द सिंह—से इसको जँचवाकर प्रकाशनार्थ स्वीकृत किया। तत्पश्चात् सञ्चालक-मण्डल के ही आदेशानुसार गया-कॉलेज के मनोविज्ञान-विभाग के प्रोफेसर और हिन्दी-त्रैमासिक 'दार्शनिक' के अन्यतम सम्पादक श्री अर्जुन चौबे काश्यप से इसका संशोधन-सम्पादन कराया गया। उन्होंने लेखक की मौलिकता की सुरक्षा पर ध्यान रखा।

दक्षिण-भारत के एक स्वर्गीय हिन्दी-लेखक इस ग्रन्थ के निर्माता हैं। एक तो यह ग्रन्थ पूज्य राष्ट्रपतिजी द्वारा प्राप्त हुआ था, दूसरे यह एक आन्ध्र-राज्य-निवासी और राष्ट्रभाषानुरागी युवक द्वारा एक गहन विषय पर सफलतापूर्वक लिखा गया था, इसलिए परिषद् ने इसका विधिवत् निरीक्षण-परीक्षण और सम्पादन कराने के बाद प्रकाशन किया।

यद्यपि इस ग्रन्थ के प्रकाशन में कुछ अधिक समय लग गया, तथापि हमें हर्ष और सन्तोष है कि स्व० ग्रन्थकार के वयोवृद्ध पिता और उनकी विधवा के जीवन-काल में ही यह प्रकाशित हो गया। ग्रन्थकर्त्ता के अत्यन्त वृद्ध पिता इसको प्रकाशित देखने के लिए बहुत उत्सुक और व्यग्र थे। वे नाममात्र हिन्दी जानते हैं, पर लेखक की विधवा हिन्दी लिखने-पढ़ने में कुछ अभ्यस्त हैं और उन्हीं के द्वारा परिषद् से इस विषय में बराबर पत्र-व्यवहार होता रहा। परिषद् की फाइल में सुरक्षित वृद्ध पिता के अँगरेजी-पत्र और उक्त विधवा देवी के हिन्दी-पत्र अत्यन्त कारुणिक हैं। हम नहीं कह सकते कि प्रस्तुत ग्रन्थ को हस्तगत करके उन दोनों के हृदय में कैसी करुणा उद्वेलित होगी, यह तो सहृदयजनों के लिए ही अनुभूति का विषय है।

लेखक-परिचय[1]

लेखक का शुभ जन्म आन्ध्र-राज्य के 'निलोर' जिले के 'कवाली' तालुके में, एक विद्या-वैभव-सम्पन्न ब्राह्मण-परिवार में, सन् १६०६ ई० में, हुआ था। यह परिवार अपनी सदाचारिता, उदारता और सेवापरायणता के लिए प्रसिद्ध है। लेखक के पिता, पितामह और प्रपितामह नामी वकील थे। सन् १६२१ ई० में, महात्मा गाँधी के असहयोग-आन्दोलन में, पिता ने अर्थकरी वकालत छोड़ दी। लेखक ने भी हाई स्कूल की अन्तिम परीक्षा से चार मास पूर्व ही पढ़ाई छोड़कर आयुर्वेद तथा संस्कृत-साहित्य का अध्ययन आरम्भ किया और दो वर्षों में ही 'आयुर्वेद-विद्वान्' की परीक्षा में सफलता प्राप्त की। किन्तु, क्रान्तिकारी विचार रखने के कारण चिकित्सकों की धनलोलुपता देखकर चिकित्सक होना पसन्द नहीं किया।

१—लेखक के पिता से प्राप्त सामग्री के आधार पर संक्षिप्त लिखित।

उसी समय नवयुवक लेखक राष्ट्रभाषा हिन्दी की ओर आकृष्ट हुए। आप इतने उत्साह से उसके साहित्य के अध्ययन में तत्पर हुए कि दो ही वर्षों में हिन्दी के अच्छे वक्ता और लेखक हो गये। सन् १९२५ ई० में आप काशी-विद्यापीठ में पढ़ने चले आये। वहाँ डॉ० भगवान दास, आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री सम्पूर्णानन्दजी और श्रीयुत श्रीप्रकाशजी के स्नेहपात्र छात्र रहकर चार वर्षों तक बड़े मनोयोग से विद्याध्ययन किया। विद्यापीठ में आप योगेश बाबू—वर्त्तमान स्वामी प्रज्ञानपादजी, राँची—के भी स्नेहभाजन थे। उनमें आपकी असीम श्रद्धा-भक्ति थी। वे भी आपकी कुशाग्र बुद्धि, सुशीलता और स्वाध्याय की लगन देखकर बहुत संतुष्ट रहते थे। आप श्री गोपाल शास्त्री दर्शन-केसरी से संस्कृत-साहित्य तथा दर्शन-शास्त्र पढ़ा करते थे। किन्तु, आप केवल विद्या-व्यसनी ही नहीं थे, कई कलाओं में भी दक्ष थे। हरद्वार में हुई अखिलभारतीय चर्खा-प्रतियोगिता में आप सर्वप्रथम हुए थे। गुरुकुल-विश्वविद्यालय (काँगड़ी) की हिन्दी-वाद-विवाद-प्रतियोगिता में आपने एक पदक तो प्राप्त किया ही, अपने विद्यापीठ के लिए एक ट्रॉफी भी जीती।

सन् १९२९ ई० में आप काशी-विद्यापीठ से दर्शनशास्त्री हुए। उसी साल सितम्बर में इस ग्रन्थ को पूरा तैयार कर दिया। इसमें आपको अपने गुरु योगेश बाबू से पर्याप्त प्रोत्साहन और पथ-प्रदर्शन प्राप्त हुआ। इसके अन्तिम अध्याय में योगेश बाबू से आपको यथेष्ट सहायता लेनी पड़ी। ग्रन्थ-समाप्ति के पश्चात् आन्ध्र लौटकर आपने सैकड़ों व्यक्तियों को हिन्दी की निःशुल्क शिक्षा दी। आप ऐसे सफल अध्यापक थे कि विद्यार्थी दिन-रात आपको घेरे रहते थे। आपकी प्रसन्न मुद्रा और सरल प्रकृति से विद्यार्थी अनायास आकृष्ट हो जाते थे। जिन लोगों से आपका सम्पर्क होता था उनमें देश-भक्ति, हिन्दी-सेवा, खद्दर-प्रेम और राष्ट्रीय शिक्षा के महत्त्व की भावना सदा जगाया करते थे। समाज-सुधारक के रूप में आप एक सजीव संस्था थे। घर पर आपके चारों ओर जिज्ञासुओं की भीड़ लगी रहती थी। वाद-विवाद में अपने प्रतिद्वन्द्वियों के लिए आप एक आतंक थे; किन्तु उसमें कभी आप अशिष्टता या अभद्रता नहीं दिखाते थे। जो कुछ आप दूसरों को उपदेश करते थे, उसी के अनुसार स्वयं आचरण भी करते थे।

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त आपने दक्षिण-भारत के विश्व-विख्यात सन्त महर्षि रमण की जीवनी भी हिन्दी में लिखी है। आपने पाल ब्रांटन की अँगरेजी-पुस्तक 'सर्च इण्टू सिक्रेट इण्डिया' (Search into Secret India) का सुन्दर हिन्दी-अनुवाद भी किया है। उक्त दोनों पुस्तकें रमणाश्रम (तिरुवन्नामलई, मद्रास) से प्राप्त हो सकती हैं। दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार-सभा (मद्रास) के तत्त्वावधान में आपने 'हिन्दी-तेलुगु-शब्दकोश' तैयार किया। 'बोधि-चर्या' का और डॉ० सम्पूर्णानन्द के समाजवाद-विषयक हिन्दी-निबन्धों का तेलुगु में जो अनुवाद किया था, वह अभी तक अप्रकाशित है।

सन् १९३२ ई० के सविनय अवज्ञा-आन्दोलन में सत्याग्रही होने और सार्वजनिक स्थान में विदेशी वस्त्रों को जलाने के कारण आपको एक वर्ष का सश्रम कारावास का दण्ड मिला था। उसके साथ पाँच सौ रुपये का अर्थ-दण्ड भी था। परन्तु, गोरी सरकार आपसे कुछ वसूल न कर सकी। आपके वृद्ध पिता चार बार और वृद्धा माता

तथा छोटे भाई दो-दो बार कृष्ण-जन्म-स्थली की यात्रा कर आये हैं। स्वतन्त्रता-संग्राम में आपका सारा परिवार बलिदानी वीर बना रहा।

कारा-मुक्त होने पर आप कुछ दिन गणटूर जिले में, स्वामी सीताराम के विनयाश्रम में, जन-सेवा-कार्य करते रहे। तदुपरान्त आन्ध्र-विश्वविद्यालय में 'हिन्दी-पण्डित' के पद पर नियुक्त हुए। विश्वविद्यालय में अपनी अद्भुत मेधाशक्ति के प्रभाव से स्नातकों को ऐसा आकृष्ट किया कि वे आपके अनुगत हो गये। उनको आप दर्शन, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, हिन्दी, तेलुगु, संस्कृत, अँगरेजी आदि विषयों पर वाद-विवाद करने के लिए तैयार करते थे। आपके चरित्र-बल से स्नातक इतने प्रभावित थे कि उन्होंने सन् १९४२ ई० में आपके आकस्मिक निधन के पश्चात् पर्याप्त धन-संग्रह करके विश्वविद्यालय की ओर से आपके नाम पर हिन्दी के सर्वोत्तम छात्र को प्रति वर्ष एक पुरस्कार देने का निश्चय कराया तथा आपके शोकाकुल बच्चों के लिए पाँच सौ रुपये भेजकर गुरु-भक्ति का आदर्श उपस्थित किया।

आपके शोक में जो सभा विश्वविद्यालय में हुई, उसमें वक्ताओं ने आपको 'विश्वविद्यालय का सर्वश्रेष्ठ आदर्श अध्यापक' कहकर श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। स्थानीय पत्रों ने भी लिखा था कि 'आन्ध्र के आकाश का एक दीप्त नक्षत्र अस्त हो गया।' आपने अनेक विषयों पर ऐसी टिप्पणियाँ लिख छोड़ी हैं, जो कई स्वतन्त्र पुस्तकों के रूप में विकसित की जा सकती हैं और उनमें हिन्दी का पारिभाषिक कोश तैयार करने योग्य प्रचुर सामग्री भी है।

लेखक के पिता[१] के उद्‌गार[२] का सारांश

"जिस भाषा में यह मनोवैज्ञानिक पुस्तक लिखी गई है, उसका मुझे अत्यल्प ज्ञान है, किन्तु जो उसके मर्मज्ञ हैं उनका कथन है कि यह महान् ज्ञान का उद्‌घाटन करती है और गवेषणापूर्ण तथा मौलिक चिन्तन से संवलित है। इसका प्रणयन सन् १९२७ और १९२९ ई० के मध्य हुआ था। उस समय इसके लेखक की अवस्था तेईस वर्ष की थी। इसकी रचना की प्रेरणा श्री योगेश बाबू से मिली थी और उन्होंने ही अन्त तक मार्ग-प्रदर्शन किया था। यद्यपि यह पुस्तक पचीस वर्ष पूर्व लिखी गई थी, तथापि इसमें वर्णित अध्यात्म-विषय चिरनवीन और शाश्वत है।

"इतने अधिक विलम्ब से भी इस पुस्तक का प्रकाशन हो सका, यह डा० राजेन्द्रप्रसाद की कृपा का फल है। उन्होंने मेरी अपील सहानुभूतिपूर्वक सुन ली और इसे प्रकाशित करने के लिए बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से सिफारिश कर दी। अतः मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मैं विद्वद्वर श्री वियोगीहरि का भी आभार मानता हूँ, जिन्होंने इसपर अपनी सम्मति[३] देने की कृपा की, जिससे प्रभावित

१—**Vorugante Venkata Subbaiya.**

२—लेखक के वृद्ध पिता ने लेखक की विस्तृत जीवनी और अपना यह मन्तव्य अँगरेजी में लिखकर भेजा था। उसी का संक्षिप्त हिन्दी-अनुवाद यहाँ दिया गया है।

३—इसी ग्रन्थ में अन्यत्र प्रकाशित।

होकर राजेन्द्र बाबू ने इसमें दिलचस्पी लेने की कृपा की। मैं अपने पुराने मित्र श्री डी० रांगेया (मन्त्री, अखिलभारतीय आदिमजाति-सेवा-संघ, दिल्ली) का भी बड़ा उपकार मानता हूँ, जिन्होंने श्री वियोगीहरि के पास इसकी पाण्डुलिपि ले जाकर दिखलाई और उनकी सम्मति के साथ इसे राजेन्द्र बाबू की सेवा में विचारार्थ उपस्थित किया। मैं बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का भी बहुत धन्यवाद करता हूँ, जिसने इसका संपादन कराके इसे शीघ्र छपवाया।

"मेरे पुत्र वेंकटेश्वर शर्मा के मरे चौदह वर्ष हो गये। उठती जवानी में ही वे चल बसे। किन्तु, उनकी आत्मा यह देखकर प्रसन्न होगी कि उनका परिश्रम व्यर्थ नहीं हुआ, बल्कि विद्यानुरागी परिवारों में उसका आदर हो रहा है।

"यह पुस्तक राँची के स्वामी प्रज्ञानपादजी को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक समर्पित है, जो पहले योगेश बाबू के नाम से परिचित थे और जो काशी-विद्यापीठ में ग्रन्थकार के गुरु थे तथा जिनके अविरल स्नेह एवं अनवरत प्रोत्साहन से लेखक को इस पुस्तक के लिखने की प्रेरणा मिली और जिन्होंने इसे सम्पूर्ण करने में भी बड़ी सहायता दी।"

निलोर (आन्ध्र)
१४-६-५६ ई०

अरूकुटे वेंकट सुब्बय्या

लेखक के पिता ने, भारतरत्न डॉ० भगवानदास जी और आचार्य नरेन्द्रदेव जी से ग्रन्थकार को प्राप्त हुए दो प्रशंसापत्र भी भेजे हैं, और उनकी इच्छा है कि पुस्तक में वे भी छपें। अतः उन दोनों की अविकल प्रतिलिपि अन्यत्र प्रकाशित है।

श्रद्धेय श्रीभगवानदासजी ने इस ग्रन्थ पर अपनी सम्मति देते हुए लिखा है कि भारतीय भाषाओं में ऐसा कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं देखने में आया है। आशा है कि हिन्दी-पाठकों को भी यह दार्शनिक ग्रन्थ सुरुचिपूर्ण और ज्ञानवर्द्धक प्रतीत होगा।

श्री रामनवमी, शकाब्द १८७९
वि० सं० २०१४, सन् १९५७ ई०

शिवपूजन सहाय
(संचालक)

ग्रन्थकार—स्वर्गीय श्री वेंकटेश्वर शर्मा
(आन्ध्र-राज्य-निवासी)

लेखक को प्राप्त डा० भगवानदास के प्रशंसा-पत्र की अविकल प्रतिलिपि

Shri O. Venkateshwara studied in the Kashi Vidyapith of Banaras for some time. As President and Principal of that institution, I had occasion to see his work. He has acquired very great proficiency in the Hindi language. At a debate, in Hindi, in the Gurukula Mahavidyalaya (of Kangri), he won a medal for himself, once and also a trophy for the Kashi Vidyapith.

He had compiled, in Hindi, a work on Psycho-analysis, based on some standard works on the subject in English. I have seen portions of it, and found it very promising. If a teacher of Hindi be needed by any institution in the Andhra country, it would be difficult to find one better qualified for the work than shri Oruganti Venkateshwara.

I have seen in part the book 'Adhyatma Yoga' and am very greatly pleased with it. I think there is no such book in any of the Indian languages.

3, Canning Lane
New Delhi
12-2-1935.

Sd./-(**Dr.**) **Bhagwan Das.**
(President, Kashi Vidyapith.)
BANARAS.

लेखक को प्राप्त आचार्य नरेन्द्रदेव के प्रशंसा पत्र की अविकल प्रतिलिपि

Shri Venkateshwar Sharma passed the Shastri Examination of the Kashi Vidyapith in the year 1929, with English, Hindi, and Philosophy (both Eastern and Western) as his optional subjects and was placed in the First Division.

He has a fair Knowledge of Hindi. He has passed the 'Visharad' Examination of the Hindi Sahitya Sammelan and has also worked as a Hindi-teacher in Guntur. His stay in Banaras for more than four years has been of special benefit to him in this subject. He has not only come in living contact with the language, but has also had an opportunity of meeting some of the best writers of Hindi. His character is exemplary.

Shri Kashi Vidyapith
Banaras
1-2.1935.

Sd./-**Narendra Dev.**
Principal,
Kashi Vidyapith.

लेखक की पुस्तक पर श्री वियोगी हरि जी की सम्मति

स्व० लेखक काशी-विद्यापीठ के एक प्रतिभाशाली स्नातक थे और निवासी आन्ध्र देश के। तेलुगु-भाषा-भाषी होते हुए भी अच्छी परिमार्जित हिन्दी और उत्कृष्ट शैली में ऐसे गम्भीर विषय पर यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखकर श्री वेंकटेश्वर शर्मा अमर हो गये, इसमें सन्देह नहीं। ग्रन्थ के देखने से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने अध्यात्म-योग एवं चित्त-विकलन का कितना गहरा अध्ययन किया था और एतद्विषयक प्राच्य तथा पाश्चात्य-साहित्य की सूक्ष्म और विस्तृत गवेषणा की थी।

युवावस्था में ही क्रूर काल ने इस साहित्यकार को हमारे बीच में से उठा लिया। हिन्दी-साहित्य को यह आन्ध्र निवासी विद्वान्, यदि जीवित रहता, तो बहुत-कुछ दे जाता। यह जानकर दुःख होता है कि यह अनूठा ग्रन्थ अब तक प्रकाश में नहीं आ पाया। निम्न-श्रेणी तक का साहित्य प्रकाशित हो जाता है और बिक भी जाता है; पर 'अध्यात्म-योग और चित्त-विकलन' जैसे रत्न धूल में पड़े रह जाते हैं। प्रकाशकों को यह डर रहता है कि उनका पैसा फँस जायगा, और साहित्य-सेवा का दम भरनेवाली संस्थाएँ भी ऐसे ग्रन्थों की उपेक्षा कर दिया करती हैं।

हरिजन-सेवक-संघ, किंग्स-वे, दिल्ली-९
१४-४-५४ ई०

वियोगी हरि

विषय-सूची

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नवाँ अध्याय

उपसंहार

अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन

विषय-प्रवेश

संसार में किसी को सदा तृप्ति नहीं मिलती। आशा-निराशा, तृप्ति-अतृप्ति, सुख-दुःख आदि सभी को होते हैं। यद्यपि जीवन-संग्राम में मनुष्य निराशा, अतृप्ति और दुःख को मूल से उखाड़ फेंकना चाहता है, पर वे पुनः-पुनः उसे आ घेरते हैं। जितने वेग से वह उनको हटा देना चाहता है, उतने ही वेग से वे आकर उससे लिपट जाते हैं। इस कारण मनुष्य प्रायः हमेशा ही संतप्त रहता है और चाहता है कि उसे कोई ऐसा आलम्बन या आधार मिले जिससे वह संतृप्त हो जाय। वह ऐसे आधार की खोज में निकल पड़ता है, जो शाश्वत सुख देनेवाला हो, जो सदा एक-सा रहता हो, जो पूर्ण हो और हो जो नित्य। वह उस आलम्बन के लिए सारे विश्व को खोज डालता है। इस खोज में उसकी इन्द्रियाँ उसे बहुधा धोखा देती हैं, क्योंकि वे स्वभाव से वाह्य दृष्टिवाली होती हैं। उपनिषद् का कहना है—'स्वयंभू ने इन्द्रियों को वाह्योन्मुख उत्पन्न किया। अतः व्यक्ति वाह्य को ही देखता है।'[1] वह अन्तरात्मा को नहीं देखता। यह बात ठीक ही है। मनुष्य जन्म से ही वाह्य वस्तुओं को अर्थात् विषयों को देखता है। अतः वह समझने लगता है कि इन्हीं विषयों से उसे तृप्ति मिलेगी। वह इन्हीं विषयों में अपनी तृप्ति का आलम्बन पाना चाहता है। वह देखता है कि अपना सुख वह स्वयं नहीं साध सकता। संसार में अनेक विषम परिस्थितियाँ उसे दिखाई पड़ती हैं। उन्हें जीते विना उसे शान्ति या सुख की तनिक भी आशा नहीं मालूम होती। उन परिस्थितियों में वह केवल अपने ही बल पर विश्वास नहीं करता, प्रत्युत उसे अपने ही सदृश विचारोंवाले अन्य लोगों की सहायता की अपेक्षा होती है। अतः समान उद्देश्यवाले, समान विचारोंवाले व्यक्तियों के इस समवाय से एक समाज की स्थापना होती है।

व्यक्ति देखता है कि समाज में रहने से उसे अनेक सुविधाएँ हैं। किन्तु साथ ही समाज के लिए उसे अपने अनेक स्वार्थों को तिलांजलि भी देनी पड़ती है, यद्यपि वे स्वार्थ पाशव स्वार्थ ही होते हैं। फिर भी साधारणतया दुःख की अपेक्षा सुख की मात्रा अधिक मिलती है। अतः समाज की शीतल छाया में थोड़े समय के लिए उसे अपनी खोज नहीं रह जाती। वह समाज को सर्वोपरि मानने लगता है और समझने लगता है कि समाज के सुख में ही उसका सुख है तथा समाज की अवस्थिति के लिए उसका अस्तित्व है। वह जानता है कि समाज उसकी रक्षा करेगा। अतः वह सोचता—

१—परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कठोपनिषद्, २-४-१।

है कि यदि समाज के लिए उसे प्राण भी देने पड़ें तो भी उसे हिचकना नहीं चाहिए। ऐसी स्थिति में समाज के नियम उसे अटल और शाश्वत प्रतीत होते हैं। उसे लगता है, समाज की सुस्थिति सृष्टिजन्य संकल्प है, अतः समाज की उन्नति उसके लिए अन्तिम लक्ष्य है और उसके नियमों का पूर्णतया प्रतिपालन उसका परम कर्त्तव्य है। ऐसी स्थिति में जीवन के अन्य उच्चतर ध्येयों को वह समाज के लिए ही, उसके विकास एवं संस्थिति के लिए ही ग्रहण करता है और उनकी प्राप्ति के लिए सतत सचेष्ट रहता है। किन्तु इस प्रकार का जीवन-लक्ष्य एक आदर्शमात्र है; उसका अनुसरण करना कठिन है। इसी आधार पर वह कहता है—'आदर्श प्राप्त करना सम्भव नहीं है, उसके आसपास ही पहुँचा जा सकता है।'[१] इस प्रकार व्यक्ति समाज के नियम तथा समाज के विकासोत्कर्ष-सम्बन्धी तत्त्वों के प्रति विशेष जागरूक रहता है।

बहुधा यह देखने में आया है कि व्यक्ति अपने ही समाज को अन्य समाजों से श्रेष्ठ मानता है, अपने ही समाज के नियमों को वह दैवी समझता है। व्यक्ति दूसरे समाजों पर अपने समाज की धाक जमाना चाहता है। इस कारण वह जिस सुख की खोज में आगे बढ़ता है, उसे ही भूल जाता है। उसके स्थान पर वह यह मानने लगता है कि समाज जैसे एक कल्पित ध्येय के लिए ही अस्तित्व रखता है। वह चेष्टा करता है कि दूसरे लोग भी समाज का सिक्का मानें। इस विचारधारा में पड़कर मानव-समाज के अनेक उत्साही व्यक्तियों ने साम्राज्यों की स्थापना की। यही भावना 'ब्रिटेन राज्य करे, उसकी (उसके सिन्धु की) लहरें राज्य करें', 'पिता-भूमि' एवं 'मातृ-भूमि'[२] आदि उद्घोषणों का रूप धारण कर विकसित हुई। 'समाज के सुख-साधन में ही उसका सुख है।' ऐसा समझकर वह समाज के भीतर रहना पसन्द करता है। अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता को भी तिलांजलि देकर वह सीमाबद्ध होता है और अपनी सारी शक्तियाँ समाज की उन्नति के लिए लगाता है। फलतः समाज में उपकरणों की भरमार हो जाती है, संपत्ति बढ़ती है और सुख-सामग्री से दुनिया भर जाती है। उसकी इन्द्रियानुभूतियाँ जिन-जिन वस्तुओं तक पहुँच पाती हैं, उनकी उन्नति में वह लग जाता है—पृथ्वी, समुद्र, आकाश सभी पर उसका आतंक छा जाता है। प्रकृति उसे प्रत्येक स्थल पर आह्वान करती-सी प्रतीत होती है। उसके आह्वान को स्वीकार कर वह दृश्य प्रपंच को वश में करता है। इस प्रकार व्यक्ति विषय-सुख या भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए प्रकृति की सारी शक्तियों को अपनी प्रज्ञा की शृङ्खला में बाँध लेना चाहता है। वह प्रकृति के अनुकूल अपने को परिवर्तित नहीं करता, वरन् अपनी इच्छा के अनुकूल प्रकृति को मोड़ देना चाहता है।

इस प्रकार की विचारधारा के अनुयायी पश्चिम के रहनेवाले हैं। वे प्रवृत्ति के मूर्तिमान अवतार हैं। बाह्य विषय उनके लिए प्रधान है। गति उनके लिए साधन और साध्य दोनों है। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए वे प्रयत्न करते हैं। वे

१—The weal is only approximately, approachable.

२—'Rule Britania, rule the waves' 'Fatherland', 'Motherland.'

समझते हैं कि बिना बुद्धि के प्रकर्ष के प्रकृति वश में नहीं की जा सकती। अतः वे बौद्धिक विकास पर भी ध्यान देते हैं। किन्तु उनके लिए विशेषतः वाह्यजगत् ही, विषय ही तथा समाज ही प्रधान है। उनकी दृष्टि में मानसिक शक्तियाँ गौण हैं। उन्हें इनकी आवश्यकता वहीं तक प्रतीत होती है, जहाँ तक प्राकृतिक शक्तियों को वश में करने में उनसे सहायता मिले। फलतः मानसिक शक्ति की विशेष उन्नति नहीं होती। भौतिक उन्नति तो पराकाष्ठा को पहुँच जाती है, लेकिन मानसिक उन्नति प्रायः प्राथमिक अवस्था में ही रह जाती है। अतः सुख के सभी साधनों एवं उपकरणों के उपस्थित रहते हुए भी मनुष्य की तृप्ति नहीं होती। उपकरण और भौतिक विज्ञान बढ़कर एक दूसरे के विध्वंस में व्यक्तियों की सहायता करते हैं। अतः अतृप्त व्यक्ति सोचने लगता है कि उसे समाज से वांछित सुख नहीं मिल सकता; कोई वाह्य विषय उसे अभिलषित चरम सुख या शान्ति की प्राप्ति नहीं करा सकता। तीनों कालों में एक ही प्रकार की शान्ति प्रदान करनेवाली कोई वस्तु उसे दिखाई नहीं देती। वह सब-कुछ अध्ययन करता है और अन्त में हार मानकर बैठ जाता है। जैसे फौस्ट ने कहा है—

कठिन परिश्रम करके मैंने,
किया अध्ययन गहरा
दर्शन, वैद्यक, न्याय, धर्म का।
किन्तु खड़ा हूँ ज्ञान लिए मैं
निपट अनाड़ी और दरिद्र
पहले सा ही।
जाना केवल यही सत्य है
'नहीं जान सकते हम कुछ'।[१]

भौतिक विज्ञान ने बहुत उन्नति की है, परन्तु व्यक्ति की तृषा अब भी नहीं बुझी। भौतिक विज्ञान के सर्वश्रेष्ठ पाश्चात्य विद्वानों के विचार डाँवाडोल हो रहे हैं। वे कहाँ जा रहे हैं, उन्हें नहीं ज्ञात है। उनका कहना है, 'हम अपने आविष्कारोन्मुख प्रतिभा एवं विज्ञान का गर्व करते हुए भी सत्यता के स्वभाव-रूप एवं उसकी प्रगतियों से मौलिक रूप से अनभिज्ञ हैं। हम कहाँ जा रहे हैं, नहीं जानते, और न हमें यही ज्ञात

१—I have, alas ! Philosophy,
Medicine, Jurisprudence too,
And to my cost Theology,
With ardent labour studied though.
And here I stand, with all my love,
Poor fool, no wiser than before
.........................and learn
That we in truth can nothing know.

--Faust, Part I, 15

है कि हम अपने अनुकूल मार्ग पर हैं। यदि भविष्य में कोई वांछनीय लक्ष्य है भी, तो कदाचित् हम उससे बहुत दूर जा पड़े हैं।'[१]

'यह आश्चर्य किन्तु सत्य है कि प्रतिवर्ष मानव मन प्रकृति की शक्तियों पर विभुता स्थापित करता जा रहा है, किन्तु उसे अपने पर ही संयम नहीं है और वह ज्यों-का-त्यों अबौद्धिक एवं असभ्य पड़ा हुआ है।'[२]

'हम सब अन्धे,
जब तक हम यह समझ न पाते
कोई भी निर्माण न सार्थक
यदि इस मानव-अभियोजन से
मानव का निर्माण न होता।'[३]

इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों को विदित हो रहा है कि मानव विषयों में सुख-शान्ति नहीं पा सकता। सभी वाह्य उपकरणों के मिलने पर भी मनुष्य का अन्तरङ्ग जीवन नहीं बदलता। वह 'मानव' नहीं बन सकता। अतः पाश्चात्य विद्वान् अब अपनी दृष्टि वाह्य जगत् से हटा रहे हैं और मानव बनानेवाले साधनों के लिए अन्यत्र खोज कर रहे हैं। उनकी दृष्टि वाह्य रूप को छोड़कर क्रमशः अपनी ओर लौट पड़ती है और अन्त में अपनेमें आकर ठहर जाती है।

अपनेको प्रत्येक व्यक्ति 'मैं' कहता है। उसी 'मैं' को वह अपने आलम्बन समझने लगता है। वाह्य जगत् के सभी पदार्थ बदलते हैं। किन्तु 'मैं' का जो बोध होता है, वह नहीं बदलता। 'मैं हूँ या नहीं हूँ'[४], यह सन्देह किसी को नहीं होता;

१—With all our bousted ingenuity and science we are almost fundamentally ignorant of the character of our civilization and its tends. We do not know where we are going; neither do we know that we are on our way, If there is desirable goal somewhere in the future we may be far out of our way.—*Wilson D. Wallis, Scientific Monthly, May 1929, p. 454.*

२—It is strange that but true that year by year the human mind tends towards omnipotence over the forces of nature remaining an irrational primitively in the lack of command over himself.—*Scientific Monthly, April 1929.*

३—We are all blind until we see
That, in the human plan
Nothing is worth the making, if
It does not make the man.

—*Edwin Markhan, Scientific Monthly, June, 1929.*

४—नहि कश्चित् सन्दिग्धे अहं वा नाहं वेति। भामति, अध्यास।

डेकार्टे (Descartes) ने कहा 'Cogito' ergo sum' (मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ।) पर यह उचित नहीं है, क्योंकि विना एक के अस्तित्व के वह सोच भी नहीं सकता। 'Sum, ergo cogito' (मैं हूँ अतः सोचता हूँ) कहना साधुतर होगा।

क्योंकि सन्देह करनेवाली चेतन-शक्ति भी तो 'मैं' ही है। 'मैं' कहने से प्रायः देह-विशिष्ट चैतन्य लिया जाता है, क्योंकि 'मैं' कहते ही व्यक्ति को 'अमुक का पुत्र मैं', 'अमुक नामधारी मैं' इसी प्रकार का अनुभव होता है। व्यवहार में चैतन्य और शरीर का भेद नहीं दिखाई देता। चेतन और जड़ के बीच के तादात्म्य पर व्यवहार अवलम्बित है। इसी व्यवहार से मनुष्य को सुख-दुःख, तृप्ति-अतृप्ति आदि का अनुभव होता है। सुख और दुःख वेदनाएँ हैं। वाह्य प्रपञ्चगत विषयों के सम्पर्क से व्यक्ति को सुख-दुःख का बोध होता है। विषय वाह्य प्रपञ्च में है। उनसे होनेवाली वेदनाएँ तथा भाव व्यक्ति के अन्दर होती हैं। इससे पता चलता है कि अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग दोनों को जाननेवाला कुछ है और वह दोनों के मध्यदेश में है। इस मध्यवर्ती 'कुछ' को मन कहते हैं। इसी दृष्टि से 'मनु' का यह कथन है :—

'उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्।'[1]

फिर आत्मा से सत् और असत् भावमय, दृश्य-अदृश्य-स्वरूप, चेतन-जड़-स्वभाववाले मन को प्रकट किया।

मन मध्यवर्ती है। अपने स्थान के बल से वह दो राज्यों का प्रभु है। उसकी शक्ति से दो प्रान्त रञ्जित होते रहते हैं। यदि हम मन को वश में कर लें तो दोनों अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग हमारे वशीभूत हो जायँगे; क्योंकि जितने संवेद्य हैं, सब मन से ही संवेदना पाते हैं। अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग दोनों संवेद्य हैं। मन इन दोनों के लिए कीलक स्वरूप है। अतएव संसार के सभी विद्वानों ने मन की प्रधानता स्वीकार कर ली है।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है।

'जीवश्चित्तपरिस्पन्दः पुंसां चित्तं स एव च।'

जीव चित्त का परिस्पन्द है और पुरुष का चित्त जैसा है, पुरुष वैसा ही है। मन को छोड़कर और कुछ नहीं है। हम मन के अभिव्यक्त रूप हैं। शरीर केवल नश्वर विश्वासमात्र है। जैसे विचार होते हैं, मनुष्य वैसा ही होता है।[2]

'जाकी रही भावना जैसी, हरि मूरति देखी तिन तैसी'—ऐसे अनेक वाक्य मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट मालूम होता है कि मन एक मुख्य अवयव है।

सुख या शान्ति के आलम्बन का अन्वेषण करते-करते मनुष्य ने मन को पाया, जो विशिष्ट-स्थानवर्ती है, जिसके ज्ञान से अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग दोनों वशंवद होते हैं। अतः मानवी प्रज्ञा ने मन का अध्ययन किया और अब भी कर रही है।

इस विषय का अध्ययन करते समय पाश्चात्य देशों के लोग प्रायः मन के भौतिक रूप का ही अध्ययन करते हैं। भौतिक जगत् में अभिलषित शान्ति पाने पर भी उसकी असत्यता पर उन्हें विश्वास नहीं होता। अतः मन में और भूत जगत् में क्या

१—मनुस्मृति, १-१४।

२—There is nothing but mind; we are expressions of the one mind; body is only a mortal belief; as a man thinketh so is he.—*W. James, Varieties of Religions Experience P. 104.*

सम्बन्ध है, इसी का पाश्चात्य लोग अध्ययन करते हैं। वे देखना चाहते हैं कि मानस शास्त्र के अध्ययन से समाज में रहते हुए व्यक्ति को 'मानव' बनाया जा सकता है या नहीं।

कभी-कभी वहाँ के प्रमुख विद्वानों का ध्यान अन्तरङ्ग की ओर जाता है। वे समाज की सीमा से ऊपर उठकर एक क्षण के लिए चारों ओर दृष्टि दौड़ाते हैं। उन्हें शान्ति दिखाई पड़ती है, किन्तु समाज के प्रति उनका जो राग है, वह नहीं छूटता। अतः वे उस कल्लोलशून्य परम शान्ति के आभास से भी हिचकते हैं और उसकी ओर से आँखें बन्द कर लेते हैं। वे स्थूल, प्रत्यक्ष, रूपयुक्त विषय चाहते हैं। जर्मनी के प्रमुख दार्शनिक ग्वेटे कहते हैं:—

"भारत के विरुद्ध मेरे मन में कुछ नहीं है। परन्तु मुझे उससे भय है, क्योंकि वह मेरी कल्पना को अरूप तथा निराकार के राज्य में खींचे लिए जाता है। इस परिस्थिति से मुझे अपनेको सदा से अधिक बचाना चाहिये।"[१]

एक स्थान पर वियना के प्रमुख मनोविज्ञानवेत्ता डा० सिगमण्ड फ्रायड भी यही संकोच दिखाते हैं:—

"जो बातें उद्भूत होती हैं, वे यदि गम्भीर और रहस्यपूर्ण दिखाई दें, तो यह हमारी भूल नहीं होगी; क्योंकि हमने उस प्रकार के सिद्धान्त पर पहुँचने के लिए कोई कोशिश नहीं की है।"[२]

पश्चिम के लोग वास्तविकता के उपासक हैं। इसी कारण पूर्ण तत्त्वज्ञ नहीं बन सके। पाश्चात्यों की यह परिस्थिति केवल उन्हीं की नहीं है। 'मानव' बनने के लिए जो कोई भी प्रयत्न करेगा, उसका भी आरम्भ में यही हाल होगा। उसे पहले भौतिक जगत् का ज्ञान होता है और विविध भोगों का भागी बनना पड़ता है। बाह्य विषयों के भोग द्वारा तृप्ति होने के बाद ही व्यक्ति साधक बन सकता है। उपनिषद् की कहानी है कि नारद ने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया। किन्तु उन्हें शान्ति प्राप्त नहीं हुई। भगवान् सनत्कुमार से वे शान्ति का मार्ग पूछते हैं—

'अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्त ँ्होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति ॥१॥ स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेद ँ् सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्य ँ् राशिं दैवं निधिं वाक्योवाक्यमेकायतनं देवविद्यां

१—I have absolutely nothing against India, but I am afraid of it, for it drags my imagination into the realm of the formless and misshapen, against which I must defend myself more than even.—*Goethe to Withem Von Humboldt, Oct. 22, 1826.*

२—If what results gives an appearance of 'profundity' or bears a resemblance to mysticism, still we know ourselves to be clear of the reproach of having striven against anything of the sort.—*Freud, Beyond the Pleasure Principle, P- 46.*

ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्या ँ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥२॥ सोऽहम् भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुत ँ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरतिशोकमात्मविदिति सोऽहम् भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति···[१]

"नारद सनत्कुमार के पास शिक्षा प्राप्त करने के लिए गये और उनसे बोले, भगवन्! मुझे विद्या दीजिए। सनत्कुमार ने कहा—जो आप जानते हैं, वह मुझे बता दीजिए। इसके बाद मैं कहूँगा। नारद ने कहा—मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, पित्र्य (तर्पण आदि की विधि) राशि (अंकगणित), दैव (भविष्य जानने की विद्या), विधि (समय-विज्ञान), वाक्योवाक्य (तर्कशास्त्र), ऐकायन (कर्तव्यशास्त्र), देवविद्या (अक्षरबोध), ब्रह्मविद्या (उच्चारण वाक्य-रचना, छन्दोरचना आदि), भूत-विद्या, क्षत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या, सर्प-विद्या, देवजन-विद्या जानता हूँ। भगवन्! मैं केवल मन्त्रवित् हूँ, कुछ शब्दों को ही जानता हूँ, आत्मवित् नहीं। आप-ऐसे लोगों से सुना है कि आत्मवित् ही शोक का विनाश कर सकता है। भगवन्! मैं चाहता हूँ कि आप मुझे शोक के पार पहुँचावें।"[२]

नारद अधिलोक, अधिविद्य और अधिप्रज १४ विद्याओं में पारंगत हुए। परन्तु उन्हें शान्ति नहीं मिली। शोक-समुद्र से पार होने के लिए उन्हें इन तीनों से मुँह मोड़ कर आत्म-विज्ञान् या अध्यात्म विद्या का अन्वेषण करना पड़ा। याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का भी संवाद उल्लेखनीय है :—

'मैत्रेयीतिहोवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ॥१॥ साहोवाच मैत्रेयी यन्नुम इयं भगो-सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णास्यात्कथं तेनामृतास्यामिति नेतिहोवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवित ँ स्यादमृतत्वस्य तुनाशास्ति वित्तेनेति ॥२॥ साहोवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥३॥[३]

"याज्ञवल्क्य ने कहा—मैत्रेयी, मैं इस स्थान से चला जाता हूँ। तुम कात्यायनी के साथ धन को बाँट लो। मैत्रेयी ने कहा, यदि यह पृथिवी वित्त से पूर्ण रहे तो क्या मैं अमृत हो जाऊँगी? याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं, तुम्हारा जीवन जैसे उपकरण-वालों का है, वैसा ही होगा। वित्त से अमृतत्व पाने की आशा नहीं है। तब मैत्रेयी बोली—जिससे मैं अमर नहीं बन सकती, उससे मेरा क्या प्रयोजन! भगवन्! जो आप जानते हैं, वही मुझे बताइए।"

इस प्रकार व्यक्ति भोग और उपकरणों की अनित्यता का अनुभव कर भौतिक जगत् से अपना मुँह मोड़ लेता है और अध्यात्म मार्ग की ओर चलने लगता है। फलतः व्यक्ति की विशेषता का महत्त्व अधिक हो जाता है। समाज की उन्नति के स्थान पर व्यक्ति की पूर्णता ध्येय बन जाती है। इसी दृष्टि से समाज का पुनः संघटन होता है। इस प्रकार की संस्कृति के उदाहरण प्राच्यवासी हैं। उनकी विचार-

---

१—छान्दोग्य उपनिषद्, सातवाँ अध्याय।

२—तैत्तिरीय उपनिषद् १-३-१

३—बृहदारण्यक उपनिषद्, चतुर्थ ब्राह्मण।

धारा पश्चिम के लोगों के विचार-प्रकट से विपरीत है। वे समाज को अपनी उन्नति के लिए सधनमात्र समझते हैं। अतः व्यक्ति की उन्नति उनके यहाँ परम ध्येय है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे समाज का तिरस्कार करते हैं। वे भी समाज-निर्माण करते हैं। वे भी समाज की सुस्थिति चाहते हैं। किन्तु वे समाज को यह अधिकार नहीं देते कि वह उसकी सीमा को पार कर और अपनी मुख्य, परम और चरम उन्नति के मार्ग पर जानेवाले साधक को रोके। प्राच्यवासी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उनकी धारणा यह है कि आत्मा अभौतिक है; अनिर्वचनीय है। उसे जान लेने से भवपाश से मुक्ति होगी; दुःख का ऐकान्तिक और आत्यन्तिक नाश होगा। यही परम पुरुषार्थ है। इसे साधने के लिए हरएक को प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही जो भौतिक अनुभूति है, जो भोग है, वह भी अवश्य चाहिए, क्योंकि उसके विना आत्मज्ञान के लिए वांछनीय निर्वेद प्राप्त नहीं हो सकता। भागवत का कहना है—

'विषयों का अनुभव किये विना किसी प्राणी को उनकी तीव्रता का ज्ञान नहीं होता। अतः वह स्वयं निर्वेद पावें, यही ठीक है। दूसरों के वचनों से कोई वैसा निर्विण्ण नहीं हो सकता।'[१]

अतः भौतिक विषयों का अनुभव आवश्यक है; किन्तु साधन के रूप में। प्राच्य के लोग चतुर्वर्गवादी हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चतुर्वर्ग हैं। अर्थ और काम किसी प्राच्य सन्तान को ऐकान्तिक ध्येय नहीं बताये जाते। वे दोनों धर्म के लिए, तथा धर्म, अर्थ और काम ये तीनों मिलकर मोक्ष के लिए साधन हैं। मोक्ष परम पुरुषार्थ है। जबतक निर्वेद प्राप्त नहीं होता तबतक धर्म, अर्थ, काम में प्रवृत्त रहना चाहिए। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि पूर्व के रहनेवालों के लिए मोक्ष ही सर्वोत्कृष्ट प्राप्य है। उपनिषद् कहती है—

'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः।'

आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति की विधि है। समाज प्रवृत्ति का लीलाक्षेत्र है। भारतीय कहते हैं:—

'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेद्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्॥'

कुल के लिए एक को छोड़ें, ग्राम के लिए कुल छोड़ें, ग्राम को जनपदार्थ त्यागना चाहिए और आत्मलाभ के लिए पृथ्वी त्याज्य है।

भारतीय प्रवृत्ति मार्ग को धर्म का अंग मानते हैं। परमार्थ दर्शन में वह गौण रूप धारण करता है। भारतीय निवृत्ति-मार्ग के पथिक हैं। प्रवृत्ति से कहीं-कहीं सहायता लेते हैं और अंतरंग की ओर अभौतिक की ओर बढ़ते हैं।

निवृत्ति मार्ग में वे परम सुख की कामना से प्रवृत्त होते हैं। सुख के लिए मनुष्यमात्र की इच्छा होती है। किन्तु संसार में दुःख की मात्रा अधिक दिखाई पड़ती

१—नानभूय न जानाति जन्तुर्विषयतीव्रताम्।
निर्विद्येत स्वयं तस्मात्र तथा भिन्नधीः परे॥—भागवत पुराण।
Bhagavan Das, Science of Social Organisation, P. 31.

है। फिर भी, प्राणिमात्र दुःख का नाश कर सुख पाने की चेष्टा करता है। भारतीयों ने देखा कि सुख भी दुःखान्त है—'सुखमेवाहि दुःखान्तं'। जबतक शरीर है तबतक दुःख है। 'अशरीरं वा वसन्तं न प्रिया प्रिये स्पृशतः।' भारतीय सन्तान की जिज्ञासा इसी उद्देश्य से होती है कि दुःखत्रय कैसे काटे जायँ। उसकी कामना होती है—

सुखमेव हि दुःखान्तं कदाचिद्दुःखतः सुखम्।
तस्मादेतद्द्वयं जह्याद्यइच्छेच्छाश्वतं सुखम्॥[१]

सुख ही दुःखान्त है। कभी दुःख से सुख होता है। अतः जो शाश्वत सुख चाहता है, वह दोनों को छोड़ दे।

गुरु गोविन्द सिंह से किसी ने पूछा—'गुरुजी, सुख क्या वस्तु है?' गुरु ने उत्तर दिया—'निशित करवाल की धार पर रहनेवाली शहद की बूँद। चाहो तो चाटो। मीठा अवश्य मालूम होगा। पर साथ ही, जीभ चिर जायगी।' जबतक द्वन्द्व हैं तबतक दुःख अवश्य ही रहेगा। अतः द्वन्द्व को काटना चाहिए। अद्वैत शिव है। विषयाग्नि का वहाँ प्रदाह नहीं है। एक योगी कहता है—'यह शीतल शमभू क्या ही रम्य है। इसमें सुख-दुःख की ज्वालाएँ निर्वापित होती हैं।' यही शमभूमि प्राच्यवासियों का गम्य स्थान है। इसी की प्राप्ति के लिए पूर्व के ग्रन्थ निर्मित होते हैं। ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या सब विद्याओं की प्रतिष्ठा है।

ॐ ब्रह्मादेवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥[२]

सब देवताओं के पहले विश्व के कर्ता और भुवन के पालयिता ब्रह्मा उत्पन्न हुए। ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व के लिए ब्रह्मविद्या कही जो सभी विद्याओं की प्रतिष्ठा है।

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥[३]

समस्त देवता आत्मा ही हैं। सब कुछ आत्मा में अवस्थित है। शरीरियों का कर्मयोग आत्मा से ही उत्पन्न होता है।'

इस प्रकार से प्राच्यों का और पाश्चात्यों का प्रस्थानभेद हुआ। दोनों दो ओर चले। एक आत्मा की ओर, दूसरा संसार की ओर। एक मोक्ष की ओर, दूसरा भोग की ओर। एक अपरोक्षानुभूति के मार्ग पर, दूसरा परोक्षानुभूति के मार्ग पर। मानस-शास्त्र इस दृष्टिकोण के भेद से रञ्जित हुए विना नहीं रहा। पूर्व और पश्चिमवाले दोनों अद्वैत मानते हैं। भेद इतना ही है कि पश्चिमवासी जड़ाद्वैतवादी हैं और पूर्व के रहनेवाले चेतना द्वैतवादी। अतः पाश्चात्य लोगों ने मन की सभी स्थूल, प्रत्यक्ष, व्यक्त वृत्तियों का अध्ययन किया और वहाँ एक जड़ मनोविज्ञान की स्थापना हुई। इसके विपरीत प्राच्य विद्वानों ने मन की सूक्ष्म, अप्रत्यक्ष, अव्यक्त चेतनवृत्तियों का अध्ययन किया। फलतः उन्होंने योगशास्त्र की रचना की।

१—महाभारत, शान्तिपर्व, २२–२४।
२—मुण्डक उपनिषद्, १–१।
३—मनुस्मृति, १२–११६।

इन दोनों प्रकारों के भिन्न-भिन्न अध्ययनों से पूर्ण लाभ नहीं हुआ; क्योंकि दोनों ने मन के आंशिक चित्र खींचे। प्राच्य शास्त्र के अध्ययन में पाश्चात्य शास्त्रों से जितनी सहायता मिलनी चाहिए, उतनी नहीं मिली। यदि किसी प्रकार पाश्चात्य और प्राच्य विचारों के मेल से नवीन शास्त्र का निर्माण हो, तो उससे अधिक लाभ होने की सम्भावना है, क्योंकि 'विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः'। सभी विद्याएँ एक ही शक्ति के अभिव्यक्त रूप हैं। दृष्टिकोण के भेद से रूप-भेद दिखाई पड़ता है। सब वस्तुएँ एक ही शक्ति से विनिर्गत होती हैं। उसी को प्रेम, धर्म, संयम आदि भिन्न-नामों से पुकारते हैं। इसका कारण भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण ही है। समुद्र, जिस प्रकार तटभेद से भिन्न नाम धारण करता है, उसी प्रकार एक ही शक्ति उल्लास के भेद से अनेक नाम धारण करती है।[१] प्रत्येक मनुष्य में शरीर और चेतनधर्म दोनों है। भारतीयों ने चेतन धर्म का अध्ययन किया, तो पश्चिमवालों ने शरीर धर्म का; एक ने अध्यात्म का, दूसरे ने अधिभूत का। परन्तु एक का भी अध्ययन दूसरे की सहायता के विना पूर्ण नहीं हो सकता। अतः जिज्ञासु की इच्छा होती है कि दोनों में कुछ ऐसी बातें मिलें जिनसे दोनों की पूर्णता हो सके।

अनेक वर्ष बीत गये, पर कोई ऐसा समान धर्म नहीं मिला जो पूर्व और पश्चिम को एक ही सूत्र में बाँध देता। घटनाचक्र के फेर से पाश्चात्य मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक महान् परिवर्तन हुआ। यह चित्त-विकलन शास्त्र का जन्म है। चित्त-विकलन मन के चेतनधर्म का अध्ययन भौतिक शास्त्र-प्रकार से करता है। इसका झुकाव अध्यात्म की ओर है; किन्तु यह अपने पैरों को भौतिक शास्त्र और नियमों की दृढ़ स्थूल पृथ्वी पर जमाये रखना चाहता है। इसके अध्ययन से प्राच्य शास्त्रों के अनेक अस्पष्ट नियम और सिद्धान्त स्पष्टरूपेण भासित होने लगते हैं। आज तक प्राच्य शास्त्रों के सिद्धान्त सूत्रबद्ध हैं और प्राच्य जीवन में, सदाचार में, उनका प्रयोग होता है। पर जिज्ञासु को इसका पता नहीं चलता कि किस प्रकार और क्यों कर आचार्य इन नियमों पर पहुँचे। चित्त-विकलन शास्त्र से इन बातों की कुछ-कुछ झलक दिखाई पड़ती है। अभी चित्त-विश्लेषण उस चिड़िया के समान है जो अपार समुद्र में जहाज से उड़-उड़कर भी फिर अपनी बलहीनता का स्मरण कर उसी जहाज पर लौट पड़ती है। उसके डैनों में अध्यात्म शास्त्र के विना बल नहीं आ सकता। योग की अपूर्व दृष्टि से चित्त-विकलन शास्त्र की उन्नति देखी जाय तो उसका सारा रहस्य और भावी उन्नति का मार्ग दिखाई पड़ने लगता है। हम इस ग्रन्थ में यही चाहते हैं कि दोनों विचार-धाराओं के मिलाप से एक ऐसा अपूर्व संगम उत्पन्न करें, जिसमें अवगाहन कर जिज्ञासु का श्रान्त हृदयं कुछ शान्ति का अनुभव करे। हमारा विश्वास है कि इस प्रकार के अध्ययन से भौतिक और आध्यात्मिक मार्गों के बीच जो असत्य भेद प्रतीत हो रहा

१—For all things proceed from the same spirit, which is differently named love, justice, temperance, in its different applications, just as the ocean receives different names on the several shores which it washes. —*Emerson's Address to the graduating class at Divinity College in 1838; Quoted : W. James, Varities of Religious Experience.*

है, उसे दूर करने के उपाय सूझ पड़ेंगे। क्योंकि, उपनिषद् के शब्दों में हमें दोनों ही विद्याएँ चाहिए। दोनों के मिलाप से ही जीव वांछित शान्ति को प्राप्त हो सकता है।'

'द्वे विद्ये वेदितव्ये इतिहस्म ब्रह्मविदोवदन्ति पराचै वापरा चैव।'[1]

ब्रह्मविद् कहते हैं कि परा और अपरा—दोनों विद्याएँ जाननी चाहिए।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोमय सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्याऽमृतमश्नुते॥[2]

विद्या और अविद्या दोनों को जो जाने, वह अविद्या से मृत्यु को जीतकर विद्या से अमृतत्व पाता है।

लेकिन इस ज्ञान की आवश्यकता किसके लिए है? सभी व्यक्ति सभी शास्त्रों का अध्ययन नहीं कर सकते। इसी दृष्टि से प्राच्य विद्वानों ने यह बताया है कि किस व्यक्ति को किस शास्त्र के पढ़ने का अधिकार है। इस शास्त्र के कौन अधिकारी हैं? यह प्रश्न अवश्य उठता है।[3] अधिकारी के लिए शास्त्रों का क्या कहना है, यह बताने का प्रयत्न हम करते हैं, जिससे मालूम हो कि इस शास्त्र का सत्य कौन जान सकता है। वेदान्त दर्शन का कहना है कि अधिकारी के लिए—(१) नित्यनित्यविवेकः, (२) इहामुत्रफलभोगविरागः, (३) शमदमादिसाधनसम्पत् और (३) मुमुक्षुत्वं चाहिए। नित्य और अनित्य वस्तुओं का विवेक, ऐहिक और पारत्रिक भोग के प्रति वैराग्य, शम (अन्तरिंद्रिय संयम), दम (वहिरिंद्रिय संयम), तितीक्षा (शीतोष्ण, क्षुधा तृष्णा इत्यादि द्वन्द्व जात की सहिष्णुता), उपरति (विषयानुभव में इन्द्रियगण की विरति), समाधान (आत्मत्व का ध्यान), श्रद्धा (गुरु और वेदान्त वाक्यों में सम्यक् आस्था), और मुमुक्षुत्व (मोक्ष के लिए प्रबल इच्छा) चाहिए। इनके विना साधक अभिलषित साध्य को नहीं पा सकता। इनपर ध्यानपूर्वक विचार करें तो सत्य की पहचान के लिए अपेक्षित उपकरणों का ज्ञान हो जायगा। प्रत्येक वस्तु को सत्यस्वरूप में देखने की शक्ति चाहिए; क्योंकि राग के रहने से सम्भव है कि सत्य का वास्तविक रूप ज्ञानगोचर न हो सके। इसके साथ-साथ इन्द्रियादि का संयम भी चाहिए। प्रत्येक उपनिषत्कार इस इन्द्रिय-आप्यायन पर विशेष ध्यान रखता है। जबतक व्यक्ति की वाञ्छाएँ पूर्ण नहीं होंगी और जबतक वह ताटस्थ्य भाव से, निःस्वार्थ भाव से, सत्य को नहीं देखेगा, तबतक उसका ठीक-ठीक रूप उसके देखने में नहीं आवेगा। अतः सभी उपनिषद् पहले उसी इन्द्रिय-विरति पर जोर देते हैं, जिससे जिज्ञासितव्य पर, ध्यानविप्लव के विना, चित्त का नियोग किया जा सके। उपनिषद् के वचन हैं:—

'ॐ आप्यायन्तु ममांगानि वाक् प्राणश्चेक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्मनिराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणमस्तु तदात्मनिविरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।'[4]

१—मुण्डक उपनिषद्, १-४।

२—ईशावास्य उपनिषद्, ११।

३—इस सम्बन्ध में देखिए डा० गंगानाथ झा—*Philosophical Discipline, Calcutta University, 1928.*

४—केनोपनिषद्।

'मेरे अंग अप्यायन पावें। मेरी वाक्, प्राण, चक्षु, कर्ण, बल और सभी इन्द्रियाँ प्रसाद पावें। मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ। ज्ञान-ब्रह्म मेरा निराकरण न करें। अनिराकरण हो, अनिराकरण। जो धर्म आत्मा में निरत होने पर प्राप्त होते हैं, वे मुझमें हों। मुझे वे प्राप्त हों।' इसके साथ-साथ सत्य को जानने के लिए प्रबल इच्छा की आवश्यकता है।

अहं बद्धो विमुक्तः स्यामितियस्यास्ति निश्चयः।
नात्यन्तमज्ञो नोतज्ञः सोऽस्मिंच्छास्त्रेऽधिकारवान्॥[1]

मैं बद्ध हूँ, मैं विमुक्त हो जाऊँ, इस प्रकार का जिसे निश्चय है, जो अत्यन्त अज्ञ न हो, जो इस शास्त्र को पूर्णतया नहीं जानता हो, वह इस शास्त्र का अधिकारी है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥[2]

हे पूषण (पोषन करनेवाले)! मैं सत्यधर्मा हूँ, सत्यदर्शन का मैं अधिकारी हूँ, सत्य के ऊपर का सब आवरण हटा दो।

उपनिषदों का विधान, वेदान्त का कथन, योगवाशिष्ठ की उक्ति, सभी शास्त्रों के अध्येताओं के लिए ध्यान देने योग्य है। विज्ञान के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य है भौतिक विज्ञान का परिचय देकर उसमें और प्राच्य दर्शनों के सम्बन्ध का उद्घाटन। हम जिज्ञासु को, साधक को, उसकी विषम परिस्थितियों और समस्याओं में कुछ सहायता देने की, कुछ आश्वासन प्रदान की चेष्टा करना चाहते हैं। साथ ही हम कुछ ऐसे नियमों का, जिनके अनुसार भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत् का संचालन होता है, एवं मनुष्य की जाग्रत्, स्वप्न आदि चित्त-वृत्तियों पर प्रकाश पड़ता है, संक्षिप्त परिचय देना चाहते हैं। संस्कृति, सभ्यता, धर्म, कला आदि क्षेत्रों का दिग्दर्शन कराना इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। विषय गम्भीर है। उसका सम्बन्ध है—उस सहज आदि-रस से जो मनुष्य के लिए गर्हित-से-गर्हित और स्तुत्य-से-स्तुत्य समझा जाता है, जो मानव-जीवन पर अधिक प्रकाश डालता है। ऐसे विषय के अध्ययन में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जो उपादिष्ट है, उसकी परीक्षा और समीक्षा साहश्यभाव से की जाय। इसके लिए वैज्ञानिक दृष्टि चाहिए अर्थात् शिशु-भाव, सत्य पर अटल श्रद्धा और बौद्धिक विद्रोह की आवश्यकता है।

वैज्ञानिक का क्या काम है? वह कोई नवीन वस्तु उत्पन्न नहीं करता। अवस्थित वस्तु का ही वह अध्ययन करता है। उसका परिशीलन करता है। वह जो कुछ प्रतिपादन करता है, उसकी परीक्षा हो सकती है। विज्ञान का काम सत्य की खोज है, उस सत्य की खोज जिसका परीक्षण पुनः सम्भव हो सकता है।

'व्यवस्थित ज्ञान एवं उसके अन्वेषण का ही दूसरा नाम विज्ञान है। वह उन सत्यों का और उनके सम्बन्धों का ज्ञान है जो पुनः परीक्षित हो सकते हैं; वह उन

१—योगवाशिष्ठ, वैराग्य प्रकरण, सर्ग २, श्लोक २।
२—ईशावास्य, १५।

परिणामों का ज्ञान है जो प्रयोग और गवेषणा द्वारा तथा व्यक्त एवं ज्ञात से अव्यक्त और अज्ञात की ओर उन्मुख होते हुए कोई सामान्य सिद्धान्त स्थित करने की सूचना देता है और परीक्षण करता हुआ ज्ञात (वस्तुओं के विस्तृत क्षेत्र) से ले-लेकर हमारे ज्ञान-भाण्डार की वृद्धि करता जाता है।'[१]

वैज्ञानिक प्रकृति के मर्म जानने का प्रयत्न करता है, उन्हें सुचारु रूप से ग्रथित करता है, और किस तरह काम कर रहे हैं, यह दिखाने की चेष्टा करता है।

प्रकृति अपूर्व शक्तिशालिनी देवी है। विशेष व्यक्ति ही उसे जान सकता है। उसकी दैवी मूर्ति पल्लवांगुलियों से, मरु स्पर्श से जिज्ञासु को आह्वान करती है। उसकी पूर्ति अति पवित्र है। उसके आलय में श्रद्धावान् पुरुष ही प्रवेश कर सकता है। जबतक व्यक्ति शिशुभाव से उसके सामीप्य-लाभ की चेष्टा नहीं करेगा, तबतक न तो वह उसके दिव्य रूप का दर्शन कर सकेगा और न उसकी हृत्तन्त्री का मधुर स्वर ही उसको श्रुतिगोचर हो सकेगा।

शिशु माता के पास प्रेम तथा विश्वास के साथ जाता है। वह जानता है कि माता के हृदय में उसके प्रति प्रेम है। वह जानता है कि माता उसके सभी प्रश्नों का उत्तर देगी। इसी से कहा गया है—

'प्रकृति के पास शिशु-भाव से जानने की चाह से पहुँचो।'[२]

शिशु किसी वस्तु को नहीं फेंकता। अत्यल्प वस्तु भी उसके लिए ग्राह्य है। उस वस्तु की वह परीक्षा करता है। यदि वह अनुपयुक्त जँचती है तो उसे फेंक देता है। उसके मन में उस वस्तु के प्रति पूर्व से इच्छा-अनिच्छा नहीं रहती। वह समाज के नियमों को नहीं जानता। वह वस्तु को ठीक उसी रूप में देखता है जिस रूप में वह रहती है। उसकी दृष्टि वस्तु-तन्त्र है। शिशु का ज्ञान असफलता और प्रयोग से बढ़ता है। पूर्ण ताटस्थ्य-भाव से वह प्रकृति के इंगितों को समझने की चेष्टा करता है। फोस्ट का निम्नलिखित उद्‌घोष विचारणीय है—

'जब प्रकृति देवी अपने विचारों का उन्मेष करती है तब तुम्हारी आत्मा (विषय से असंसक्त होकर) उसके साथ उसी प्रकार का सम्पर्क प्राप्त करने की चेष्टा करती है जिस प्रकार का दो आत्माओं में होता है।[३] प्रकृति के इंगितों को,

---

१—Science is simply other name for organized Knowledge and the pursuit of it. It is the knowledge of verifiable facts and of the relations between them; the results of experiment, research, generlization, proceeding from the known to the unknown, predicting, verifying and gradually adding to our stores of the known from the vast stores of the unknown.'—*Science and Religion* P. 73.

२—Go to Nature with a child-like mind asking that you may know.—*Science and Religion* P. 74.

३—When Nature doth her thoughts unfold
To thee, thy soul shall rise and seek
Communion on high with her to hold,
As spirit doth with spirit speak !

—Faust-Part I, page 16.

सत्य की झलक को वही देख पाता है जिसे वस्तु-तन्त्र दृष्टि से देखने की शक्ति है, जिसे सत्य पर अटल श्रद्धा है। सत्य के प्रति श्रद्धा ज्ञान का आदि और अन्त है।'[१]

प्रश्नोपनिषद् का निम्नांकित अंश पठनीय है—

'सुकेशा च भारद्वाजः, शैब्यश्च सत्यकामः, सौर्यायणी च गार्ग्यः, कौशल्यश्चाश्वलायनो, भार्गवोवैदर्भिः, कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः। तान्हस ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ, यथाकामं प्रश्नान्पृच्छथ, यदि विज्ञास्यामः सर्वं हवो वक्ष्याम इति।'[२]

ब्रह्मपर, ब्रह्मनिष्ठ सुकेश (भारद्वाज), सत्यकाम (शैब्य), गार्ग्य (सौर्यायणी), आश्वलायन (कौशल्य), भार्गव (वैदर्भि), कबन्धी (कात्यायन) परब्रह्म का अन्वेषण करते हुए समित्पाणि होकर, भगवान् पिप्पलाद के पास (इस आशा से) गये कि वे सब कुछ बतावेंगे। उनलोगों से ऋषि ने कहा—'और एक वर्ष तप, ब्रह्मचर्य एवं श्रद्धा से रहो। इसके बाद जैसी इच्छा हो, प्रश्न पूछना। यदि हमें उनका ज्ञान होगा तो हम सब-कुछ बतावेंगे।' तात्पर्य यह कि तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा के विना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

सत्य का ज्ञान होने पर व्यक्ति बौद्धिक विद्रोह करता है। सत्य के ज्ञान के पूर्व जितने संस्कार और जितने विचारों का वह अनुयायी रहता है, उनको सर्वथा छोड़ देता है और सत्य के पीछे 'फकीर' बन जाता है। नई घटनाओं का अर्थ उसकी समझ में आने लगता है। हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि इस ग्रन्थ का विषय बहुत गम्भीर और अबोध्य है। हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि हम इस ग्रन्थ में एक ऐसे शास्त्र की चर्चा करने जा रहे हैं जिसका पश्चिम में घोर विरोध हो चुका है। फिर हम पश्चिम और भारतीय विचारों में सम्बन्ध दिखलाने की भी चेष्टा करेंगे। अतः इस विषय में अनेक मतभेद, घृणा और विरोध उत्पन्न होने की सम्भावना है। पाठकों से हमारी प्रार्थना है कि वे इसे वैज्ञानिक की दृष्टि से अर्थात् शिशु-भाव से, सत्य के प्रति श्रद्धा-भाव से, देखने का प्रयत्न करें। इसमें उपनिबद्ध विचार विएना के प्रमुख विज्ञानवेत्ता फायड के अदम्य उत्साह, अपूर्व परिश्रम और सत्यप्रियता के प्रतिफल हैं। उनके ये विचार कहाँ तक उपादेय हैं, यह शान्तिपूर्वक जिज्ञासा करने से ही विदित होगा। फ्रायड के चित्तविकलन शास्त्र का पश्चिम में घोर विरोध क्यों हुआ, इसके कारणों का उन्हीं के वचनों में उल्लेख करना उचित होगा :—

'चित्त-विश्लेषण का ज्ञान, सर्वप्रथम, व्यक्ति को अपने चित्त के, अपने ही व्यक्तित्व के अध्ययन से होता है। चित्त-विश्लेषण-शास्त्र अपनी दो मान्यताओं के

१—Reverence of truth is the beginnig and end of all knowledage. —*Science and Religion*.

२—प्रश्नोपनिषद्, १-१।

कारण सारे संसार का कोपभाजन बन जाता है और अपने प्रति घृणा उत्पन्न करता है। इनमें से एक तो बौद्धिक पक्षपात को और दूसरी सौन्दर्यमूलक एवं नैतिक पक्षपात को रुष्ट करती है। चित्त-विश्लेषण-शास्त्र की रुष्टकारक मान्यताओं में से एक यह है कि चित्त-वृत्तियाँ स्वतः अचेतन हैं, और जो चेतन अथवा ज्ञात हैं, वे सम्पूर्ण मानसिक जीवन की केवल आंशिक एवं पृथक्कृत प्रक्रियाएँ हैं। दूसरी मान्यता, जिसे चित्त-विश्लेषण-शास्त्र ने अपनी खोजों में एक खोज उद्घोषित किया है, प्रमाणित करती है कि वे मूलप्रवृत्यात्मक उत्तेजनाएँ, जिन्हें कोई भी व्यक्ति संकीर्ण तथा अपेक्षाकृत विशद अर्थ में काम-सम्बन्धी ही कह सकता है, स्नायविक एवं मानसिक व्याधियों को उत्पन्न करने में एक असाधारण भाग लेती हैं, और वे इस प्रकार की कारणभूत उत्तेजनाएँ हैं जिन्हें भली प्रकार अभी तक मानित नहीं किया गया है। इतना ही नहीं, सचमुच, चित्त-विश्लेषण-शास्त्र यह दृढ़ता के साथ दावा करता है कि इन्हीं मूलप्रवृत्यात्मक उत्तेजनाओं ने मानव मन के उत्तम-से-उत्तम सांस्कृतिक, सौन्दर्य-सम्बन्धी (कला-विषयक) एवं सामाजिक प्राप्तियों में अमूल्य सहायता दी है। किन्तु यह मानव का स्वभाव है कि वह अरुचिकर भावना को पहले से असत्य ठहरा लेता है, और तभी उसके विरोध में तर्क उपस्थित करना उसके लिए सरल हो उठता है।'[१]

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक नित्शे के कथनानुसार 'मानवजाति नूतन संगीत को कर्णकटु समझती है।'[२] सत्य मार्ग का अनुसरण करनेवाले को समाज द्वारा कौन-

१—Psycho-analysis is learned first of all, from a study of one's ownself, though the study of one's own personality......with two of its assertions, psycho-analysis offends the whole world and draws aversion upon itself. One of these assertions offends and intellectual prejudice, the other an aesthetic-moral one...... The first of these displeasing assertions of psycho-analysis is this, that the psychic-processes are in themselves unconscious, and that those which are concious are merely isolated acts and parts of the total psychic life. The next assertions which psycho-analysis proclaims as one of its diseoveris, affirms that those instinctive impulses which one can only call sexual in the narrower as well as in the wider sense, play an uncommonly large role in the causation of nervous and mental diseases, and that those impulses are a causation which has never been adequately appreciated, Nay, indeed, psycho-analysis claims these same sexual impulses have made contributions whose value can not be overestimated to the highest cultural, artistic and social achievements of the human mind. page 8. But it is a predisposition of human nature to consider and unpleasant idea untrue, and then it is easy to find arguments a against it.—Dr. Sigmund Freud : A General Introduction to Psycho-analysis ; Boric and Liveright. N. Y., 1922. pages 7–9.

२—'Mankind has a very bad ear for new music.'—Nietzsche.

कौन-सी यातनाएँ प्राप्त नहीं हुईं? सत्य की बलिवेदी पर कितनी पूत आत्माएँ स्वाहा नहीं हुईं? किन्तु, फिर भी सत्यवक्ता समाज से कभी नहीं डरते हैं। उन्हें सत्य के प्रति जो अविचल प्रेम है, जो असीम श्रद्धा है, उसके कारण वे असत्य को अपने मन से निकाल बाहर करते हैं। जो कुछ सत्य है अथवा ठहराया जा चुका है, उसके लिए वे अपना उत्सर्ग कर देते हैं। जबतक सत्य की कसौटी पर किसी आचार या किसी सम्प्रदाय की परख नहीं हो पाती, तबतक वे उसे मान्यता नहीं दे सकते। सत्य के प्रति ऐसी ही अटल श्रद्धा चित्त-विश्लेषण-शास्त्र के अध्ययन के लिए परम आवश्यक है और तभी सत्य का ज्ञान हो सकता है, नहीं तो, पाठकों के भ्रम में पड़ जाने की सम्भावना है, क्योंकि चित्त-विश्लेषण-शास्त्र का विरोध होना स्वाभाविक है। श्री बिएट्रिस एम० हिंक्ल ने लिखा है :—

"एक मनोविज्ञान के—जो समझने में कठिन है तथा दो युगों तक मानव जाति की चली आई हुई भावनाओं में उथल-पुथल कर देनेवाला है—विरोध में उठनेवाली समीक्षा तथा आलोचना को समझना कठिन नहीं है, विशेषतः जबकि इसे समझने के लिए एक विशिष्ट प्रक्रिया अपेक्षित है और एक अनुभवी पर्यवेक्षक ही मानसिक गतियों को पहचानकर उनकी सत्यता प्रमाणित कर उसका महत्त्व स्वीकार कर सकता है कि कोई भी बात आकस्मिक नहीं होती, प्रत्येक मानस क्रिया एवं अभिव्यक्ति सार्थक होती है; क्योंकि वह व्यक्ति के अन्तरभावों एवं कांक्षाओं से निर्णीत होती है।[१]

चित्त-विश्लेषण शास्त्र व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया का सच्चा कारण, उसकी अचेतन मानस क्रियाओं में दिखा देता है। वह यह भी बतलाता है कि हम उन कारणभूत नैसर्गिक आवेगों एवं संक्षोभों का संयमन किस प्रकार कर सकते हैं; और मानसिक जीवन में अधिक साम्य एवं शान्ति ला सकते हैं। प्राच्य दर्शन शास्त्रों से भी इस शास्त्र का सम्बन्ध है। प्राच्य दार्शनिक कहते हैं—यदि हम गम्भीरतापूर्वक भारतीय दर्शन-शास्त्रों का अनुशीलन करें तो चित्त-विश्लेषण-शास्त्र का उनसे जो सम्बन्ध हो सकता है, प्रकट हो जाय। भारतीय दार्शनिक कह उठता है :—

'वासना मनसो नान्या मनो हि पुरुषः स्मृतः।'[२]

१—It is easy to understand that criticism and opposition should develop against a psychology so difficult of comprehension and so disturbing to the ideas which have been held by humanity for ages; a psychology, which furthermore require a special technique as well as an observer trained to recognise and appreciate in psychologic phenomena a varification of the statement that there is no such thing as chance, and that every act and every expression has its own meaning, determind by the inner feelings and wishes of the individual.—*Beatrice M. Hinkle, Introduction to Jung's Psychology of the unconsious.*

२—योगवाशिष्ठ, वैराग्य प्रकरण, सर्ग ७।

अर्थात् वासना मन से अन्य नहीं है; मन ही पुरुष है। वासना-नाश से मनोनाश होता है। मन के अमनीभाव हो जाने से मुक्ति प्राप्त होती है। वासनाओं का मन पर अधिक प्रभाव है। चित्त-विश्लेषण-शास्त्र से चित्त-वृत्तियों का विकलन या विश्लेषण होता है! ग्रन्थियाँ शिथिल पड़ जाती हैं। तब वेदान्त-ज्ञान की तीक्ष्ण कृपाण से उनका उच्छेद करना सुसाध्य हो जाता है। चित्त-विश्लेषण-शास्त्र निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग, दोनों के ही पथिकों को उपादेय है। वह अध्यात्म शास्त्र का सहकारी है। उससे व्यक्ति को पता चलता है कि कौन-सी शक्ति किस प्रकार मानस में आसीन रह कर जीव की सब वृत्तियों का परिचालन कर रही है। उसके सच्चे ज्ञान से व्यक्ति का जीवन शान्तिमय होगा, क्योंकि चित्त-विश्लेषण-शास्त्र का ध्येय, योगवाशिष्ठ के शब्दों में, यही है :—

इच्छामात्रं विदुश्चित्तं तच्छान्तिर्मोक्ष उच्यते।
एतावन्त्येव शास्त्राणि तपांसि नियमाः यमाः॥[१]

चित्त इच्छामात्र है। उसकी शान्ति मोक्ष है। सभी शास्त्र, सभी यम और नियम की पहुँच यहीं तक है। इसी इच्छा-शान्ति, निर्वासन-भाव को प्राप्त करना 'मानवधर्म' है। यही 'मानव' का सत्यरूप है और यही है 'आप्तकामं आत्मकामं अकामं रूपं शोकान्तरम्।'

१—वही, निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्द्ध, सर्ग ३६, श्लोक २५।

चित्त-विश्लेषण का इतिहास

'चित्त-विश्लेषण' उस प्रक्रिया और शास्त्र का नाम है, जिसकी सहायता से व्यक्ति का मानसिक अभियोजन होता है। इस शास्त्र का उद्देश्य है—व्यक्ति की अज्ञात अथवा अचेतन इच्छाओं और भावों को ज्ञात अथवा चेतन में लाना, एवं व्यक्ति को शान्ति देने में सहायता करना। चित्त-विश्लेषण से व्यक्ति उन सभी अज्ञात शक्तियों को जान सकता है, जिनके अचेतन रूप के कारण ही उसकी मानसिक शान्ति में बाधा पहुँचती है और प्रायः उसे अपस्मार आदि वातव्याधियों का ग्रास बनना पड़ता है। एक बार उन अज्ञात शक्तियों को जानने के बाद व्यक्ति उन्हें वश में लाकर एक नवीन दृष्टिकोण से जीवन पर विचार करने लगता है, जिससे उसे पुनः उस प्रकार की अशान्ति और व्याधियाँ न सतावें।

चित्त-विश्लेषण का प्रमुख उद्देश्य यही है कि प्रत्येक कार्य के मूल में जो इच्छा या सङ्कल्प पाया जाता है, उसे प्रकट करे और व्यक्ति को सदा जागरुक एवं वाह्याचरण के आलोक में रखे जिससे वह अपने जीवन को वाह्य परिस्थितियों के अनुकूल बना सके।

चित्त-विश्लेषण अथवा चित्त-विकलन एक विशेष प्रकार का शास्त्र है। वह उस हेतु-फल-सन्तति को, जिसे कवियों और दार्शनिकों ने अपनी 'अन्तःप्रेरणा' से निरूपित किया था, विज्ञान की सुदृढ़ भीत्ति पर खड़ा करता है और उसे मानस-क्रियाओं में भी दिखाता है। इस शास्त्र का उदय पूर्वगामी विद्वानों की खोज और परिश्रम के कारण सुलभ हुआ है। प्रारम्भ में यह मूर्च्छा (हिस्टिरिया) आदि अपस्मार व्याधियों के निदान खोजने, उनके लक्षणों को हेतु-फल-सन्तति से बाँधकर दिखाने और उन लक्षणों और व्याधियों के उपशमन के प्रयोगों तक ही सीमित था। किन्तु आज उसका क्षेत्र बहुत ही विस्तृत हो गया है और उसने धर्म, पुराण, कला, कविता आदि क्षेत्रों को भी रञ्जित किया है तथा उसी के अनुकुल आज बहुत-से शास्त्रों ने अपने रूप-भेद में परिवर्तन किया है। इसके सब सिद्धान्तों में 'मैथुन-मीमांसा' का घोर विरोध हुआ। इसके सिद्धान्तों के कारण पश्चिम की जनता उद्वेलित हो गई। अनेक वर्षों तक इस शास्त्र की निन्दा सर्वत्र होने लगी थी। प्रायः जनता गतानुगतिक है—'गतानुगतिको लोकः।' उसे मनन करने की शक्ति है, किन्तु वह उसका प्रयोग नहीं करती है। कहने को सभी मानव हैं, पर उनमें, वास्तव में, न्यायसङ्गत विचार करनेवाले थोड़े ही हैं। प्रत्येक व्यक्ति सुखमय जीवन के संपादन करने में अपनेको कृतकृत्य समझता है। समाज ने उसे शान्ति दी। उसकी छाया में वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। वैचारिक जीवन से उसें कुछ भी प्रयोजन नहीं है। मनुष्य के जीवन में प्रायः द्रुत गति से कोई परिवर्तन नहीं होता है। मानव एक हजार वर्ष के पूर्व जैसा था, आज मूलतः प्रायः वैसा ही है। बहुधा शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करने में ही उसका जीवन बीतता है; किन्तु मानव बौद्धिक प्राणी है, उसका मानसिक जीवन भी है। वह कुछ परम्परानुगत

विचार रखता है। कुछ बातों में विश्वास करता है, जिनमें भी वह किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहता। वस्तुतः उसका जीवन कोई जीवन नहीं है, क्योंकि जीवन-संग्राम में वह कभी उद्यत नहीं दिखाई पड़ता। वह एक भाँति के तामसिक मोह में डूबा रहता है और उसी को शान्ति के नाम से पुकारता रहता है। उस शान्ति में यदि कोई बाधा पहुँचाती है तो वह क्रोधोन्मत्त हो जाता है, और समाज के अधिकाधिक लोग उसकी हाँ-में-हाँ मिलाकर बाधक को दण्ड देने के लिए तत्पर हो जाते हैं। यदि किसी कारणवश उस बाधक का बल बढ़ता जाय तो क्रमशः समाज का विरोध घटता जाता है, और एक दिन वह समाज उसी सिद्धान्त की रक्षा के लिए प्राण देने के निमित्त उद्यत हो जाता है जिसके नाममात्र से एक दिन उसे असह्य घृणा उत्पन्न होती थी। यह मानव-समाज का स्वभाव है। नया सङ्गीत कर्णकटु है।[१]

चित्त-विश्लेषण के उदय से पश्चिम की जनता की यही दशा हुई। उसके विरोध का स्वाभाविक कारण भी है, क्योंकि उससे उसके अभिमान एवं परम्परानुगत धारणाओं पर तीव्र आघात हुआ। व्यक्ति अपनेको सबसे श्रेष्ठ समझता है। वह किसी प्रकार से भी इस अभिमान की हानि नहीं सह सकता है। अभिमान अहंकार है।[२] धर्म सदा से अहंकार का पृष्ठपोषक रहा है। यहाँ हमारा तात्पर्य उस धर्म से है जो पैतृक धन के समान सन्तान से सन्तान को प्राप्त होता जाता है। साधारण जनता पर धर्म का प्रबल प्रभाव है। उसके लिए धर्म प्रवक्ताओं का प्रत्येक शब्द दैवी वाणी है, जिसका उलङ्घन महान पाप है। शास्त्रों के विरुद्ध सामान्य जनता कुछ भी नहीं सुनना चाहती। युक्तियुक्त होने पर भी यदि वह बात[३] 'आचार' के विरुद्ध हो तो निन्द्य हो जाती है। धर्म के कारण व्यक्ति के अभिमान अथवा अहंकार की प्रकारतः तीन उपाधियाँ हैं— (१) आश्रयगत, (२) योनिगत और (३) गुणगत।

(१) व्यक्ति को अपने स्थान का, अपने जन्म का और अपने गुणों का गर्व होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने देश को देवनिर्मित समझा है। अपने ही जन्म को, अपनी ही जाति को, अपने ही कुल को सर्वश्रेष्ठ मानता है। उसे अपने ही गुण निराले और दैवी लगते हैं। इस गर्व में धर्म से अधिक सहायता प्राप्त होती है। व्यक्ति जब अपनेको मानव समझता है, तब उसका आश्रय कोई विशेष प्रान्त वा देश नहीं रहता है, प्रत्युत वह अपने स्थान को अन्य स्थानों के, अपनी योनि को दूसरी योनियों के, अपने गुणों को दूसरों के गुणों के सादृश्य में श्रेष्ठतर समझता है। प्राचीन काल में सभी धर्मशास्त्र और सभी सम्प्रदाय इसी की पुष्टि करते थे कि मनुष्य का आश्रय पृथ्वी ही सभी ग्रहों का केन्द्र है। वह सब ग्रहों में विशिष्ट है और उनकी धारणा थी कि यदि देवताओं को भी मुक्ति पाना है तो पृथ्वी पर जन्म-ग्रहण करना होगा। पृथ्वी को केन्द्र बनाकर सभी ग्रह घूम रहे हैं। किन्तु इस प्रकार का आश्रयगत गर्व अधिक दिन नहीं रहा। कॉपर्निकस नामक विख्यात शास्त्रज्ञ ने दिखा दिया कि हमारा जगत सौरजगत है।

१—'Man kind has a very bad ear for new music'—नीत्शे।

२—'अभिमानोऽहंकारः'—सांख्यकारिका।

३—परम्परागत आचार जो पीढ़ी-से-पीढ़ी तक चलता रहता है।

सूर्य को केन्द्र बनाकर सभी ग्रह उसकी परिक्रमा कर रहे हैं। उन्होंने अपने इस आविष्कार से जनता में, विशेष कर धर्माचार्यों में खलबली मचा दी।

(२) कुछ ही सदियों के अनन्तर कॉपर्निकस के सिद्धान्त से भी तीव्र आघात मनुष्य के अभिमान पर हुआ और वह था 'विकासवाद' के सिद्धान्त का अवतरण। विकासवाद के जन्मदाता श्री डार्विन तथा वालस आदि ने यह सिद्ध किया कि मनुष्य आदम और हौवा की सन्तान नहीं है, वे ईश्वर की हड्डी से उत्पन्न नहीं हुए, प्रत्युत अन्य पशुओं से विकसित होते-होते वे मनुष्य-योनि में उत्पन्न हुए। विकासवादी जैव-शास्त्रज्ञ विकसित शरीर-रचना के समर्थन में मानव-शरीर के कुछ अनुपयोगी अवयव जो कतिपय अन्य प्राणियों में उपयोगी हैं, दिखाने लगे। इस प्रकार अभिमान का दूसरा आश्रय निकल गया।

(३) तीसरा अभिमान गुणगत है। लोग अपनेको सदा कारणवान् समझते हैं। मानव बौद्धिक प्राणी है। वह पशुओं के समान वासना के वेग में कोई काम नहीं करता है, प्रत्युत उसे चिन्तन-शक्ति प्राप्त है। इस प्रकार के अभिमान के नाश करने का यश विएना के एक वैद्य को प्राप्त हुआ है। फ्रायड आस्ट्रिया के प्रमुख मनोविज्ञानवेत्ता थे। उन्होंने दिखाया कि चित्त की अधिकांश वृत्तियाँ पशुवत् होती हैं। शरीर-रचना में जिस प्रकार मनुष्य पशुओं का विकसित रूप सिद्ध हुआ, उसी प्रकार चित्त के विषय में भी है। फ्रायड के उद्घोषों से लोग आगबबूला हो गये। उनके पहले शोपनहॉवर आदि दार्शनिकों ने फ्रायड के समान विचार प्रकट किये थे। उन्होंने भी निरोध, मिथुन-शक्ति-प्रबलता पर अपने ढंग से प्रकाश डाला था। किन्तु वे विचार विचार-मात्र रह गये थे, क्योंकि उनके कारण व्यक्ति को अपना वैचारिक दृष्टिकोण नहीं बदलना पड़ा। फ्रायड उन दार्शनिकों के विचारों से परिचित न रहने पर भी रोगियों के लक्षणों से उनका परिज्ञान किया और उन लक्षणों के भीतर जो चैत्त नियम काम कर रहे हैं, उनका रहस्योद्भेदन करने लगे। फलतः उनके विचार दार्शनिकों के विचारों के समान होते हुए भी विज्ञान की नींव के ऊपर स्थापित किये जाने के कारण अधिक शक्तिशाली एवं क्रान्तिकारी सिद्ध हुए। फ्रायड की अचेतन मानस-भूमि की स्थापना निरोध या अवदमन का सिद्धान्त और शैशव मिथुन प्रवृत्ति आदि सिद्धान्तों ने मनुष्यमात्र के स्वीय प्रेम पर आघात पहुँचाया। अतः इस शास्त्र का विरोध पश्चिम में स्वभावतः सर्वत्र होने लगा। चित्त-विश्लेषण-शास्त्र बली है। उसकी अपनी महत्ता है। उसमें अपूर्व शक्ति है। वह सहस्रों मनुष्यों की परीक्षा और सैकड़ों घटनाओं के सम्यग्दर्शन पर अवस्थित है। अतः वह मैक्समूलर के शब्दों में वैज्ञानिक है:—

'विभिन्न घटनाओं की अनेकता के मूल में जब मन एक सुगठित एकता की खोज कर लेता है, तब घटनाओं का अनुभूतिजन्य ज्ञान ही वैज्ञानिकता का स्थान ग्रहण कर लेता है।'[१]

१—An empirical acquaintance with facts rises to a scientific knowledge of facts as soon as the mind discovers beneath the multiplicity of single productions the unity of an organic system. *The Science of Language*, First sires, P. 25 as quoted in the Intorduction on Jung's Psychology of the Unconsious. P. VIII.

इसी प्रकार के अनुभव और परिशीलन. से 'चित्त-विश्लेषण-शास्त्र' का उदय हुआ। उसने सभी प्रकार के बालारिष्टों से बच कर आज की प्रवद्‌र्धमान स्थिति की प्राप्ति की है। जबतक उसके आरम्भिक विकास का सम्यक् ज्ञान न हो तबतक हम उसके सम्पूर्ण विकास का भलीभाँति परिचय नहीं पा सकते। चित्त-विश्लेषण प्रारम्भ में मूर्च्छा (हिस्टिरिया) नामक बातव्याधि से सम्बद्ध था। हिस्टिरिया एक विचित्र मानस व्याधि है। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग तक लोग इसके रोगियों को कुछ दिन धूर्त और कुछ दिन भूताविष्ट समझते थे। उनकी पीड़ा के निवारण के उपाय में तत्त्वतः कोई नहीं लगा था। वह समय ही ऐसा था। वैद्य केवल शरीर-ज्ञान तक ही अपने को सीमित रखते थे। चित्त के अस्तित्व में उन्हें किसी प्रकार का ज्ञान न था। अतः अन्य व्याधियों की भाँति हिस्टिरिया के निदान के लिए किसी विशेष पेशी का ज्ञान ही पर्याप्त समझा जाता था। जब इस व्याधि के कारणभूत पेशी का पता नहीं चलता था तब वे इसकी चिकित्सा करना ही छोड़ देते थे और बताने लगते थे कि रोगी पर कोई शैतान सवार है। फलतः रोगियों की स्थिति बड़ी दयनीय हो उठती थी।[१]

इस व्याधि के कारण की खोज के लिए जिन्होंने विशेष ध्यान और दृढ़ता के साथ परिश्रम किया, उनमें पेरिस के चारको अग्रगण्य हैं। चारको पेरिस के नामी वैद्य थे। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप हिस्टिरिया के रोगियों के प्रति जो उदासीनता प्रकट की जाती थी अथवा जो अमानुषिक व्यवहार किया जाता था, वह सब लुप्त-सा हो गया। 'नैतिक पतन से अथवा भूतावेश से हिस्टिरिया होती है।'—इस प्रकार की धारणा का चारको ने मूलोच्छेद कर दिया। उन्होंने हिस्टिरिया के कई विचित्र लक्षण देखे। उनके लक्षण (१) मृदुरूप में, शिर-दर्द, अग्निमांद्य तथा अजीर्ति है; (२) तीव्र रूप में पूर्ण अथवा आंशिक पक्षाघात, हिक्का, कास, मूकता, तीव्र वेदना, अहेतुक शंकाएँ और संकोच आदि हैं। हिस्टिरिया में होनेवाले पक्षाघात में एक विशेषता दिखाई पड़ी। साधारणतः जो पक्षाघात होता है, उसमें एक अवयव का पक्षाघात हो जाने पर अन्य अवयवों का कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के रोगी की रुग्ण अवयवगत धमनियाँ, नाड़ियाँ आदि कुछ विकृत होंगी। परन्तु मूर्च्छा-व्याधिजन्य पक्षाघात में दूसरी ही बात होती है। इसमें किसी प्रकार के शारीरिक विकार नहीं होते हैं। कारण के बिना ही शारीरिक अवयव काम करना छोड़ देते हैं अथवा अन्यथा काम करने

१—The determination of the existence of the 'devils claw' (a patch of ensensitive skin somewhere upon the body of the alleged witch, a sign frequently met with in the modern hospital under the less lurid name of hysterical anaesthesia) together with a member of other fantastic tests, constituted the witch trial. This atrocious institution obtained firm hold upon the nations of Europe and prsisted even into the eighteenth century. Some idea of its extent may be gained from the fact that within a few years six thousand five hundred people were executed for witch craft in the principality of trewes alone". Hart, *The Psychology of Insanity, p. 5.*

लग जाते हैं। दूसरी विशेषता चरको को यह दिखाई दी कि हिस्टिरिया के रोगी के वंश में पूर्व से ही कोई-न-कोई असाधारण बात दिखाई पड़ती थी। चारको की धारणा हुई कि यह व्याधि रोगी को परम्परा से प्राप्त है। उनके परिशीलन ने उन्हें यह भी दिखाई दिया कि हिस्टिरिया पुरुषों को भी होती है। तबतक लोग समझते थे कि वह स्त्रियों को ही हुआ करती है। यहाँ तक कि चारको के यहाँ से कुछ वर्ष के अध्ययन के बाद जब फ्रायड वियना गये और जब वहाँ अनुभवी वैद्यों के सामने पुरुषों में हिस्टिरिया के अस्तित्व दिखाने की चेष्टा की, तब वहाँ के एक वृद्ध सर्जन ने उनका तिरस्कार करके कहा—'परन्तु मेरे प्रिय महाशय, आप इस प्रकार का जल्प कैसे करते हैं? हिस्टिरान का अर्थ गर्भकुहर है। तब पुरुषों को हिस्टिरिया हो कैसे सकता है?'[१] इस प्रकार के भ्रम को चारको ने दूर किया और अनेक पुरुषों में हिस्टिरिया के अस्तित्व को सिद्ध करके बता दिया। हिस्टिरिया के कारण चारको की दृष्टि में कुछ (मानसिक) 'क्षत' हैं।[२] उन्हें विदित हुआ कि किसी-न-किसी शारीर क्षत के अनन्तर ही यह व्याधि उत्पन्न होती है। वही क्षत सभी में रोग उत्पन्न नहीं कर सकता है। किसी व्यक्ति-विशेष में उसका बीज जमता है। रोग की उत्पत्ति जन्मगत परिस्थिति पर अवलम्बित है। चारको ने यह परीक्षण करना चाहा कि कृत्रिम उपाय से रोगी में हिस्टिरिया के लक्षण उत्पन्न होते हैं या नहीं। उन्होंने उपाय करके रोगियों को संमोहित या (Hypnotise) प्रस्वापित किया। उस अवस्था में वे रोगी को सूचित करते थे कि उसे पक्षाघात हो गया। और सचमुच, उस रोगी को पक्षाघात हो जाता था। इससे सिद्ध हुआ कि रोगी के चित्त में दूसरी एक ज्ञप्ति है जो सूचित विषय की जानकारी से उसके अनुसार काम करती है। चारको इस विचार-प्रणाली को पकड़कर आगे नहीं बढ़े। उनकी दृष्टि व्याधि के शारीरिक कारण खोजने की सीमा तक ही बँधी रही। लेकिन उनके कार्य ने आगे के वैज्ञानिकों के लिए एक प्रशस्त मार्ग खोल दिया। 'हिस्टिरिया भूतों का खेल है'—अब यह भ्रम दूर हो गया और यह व्याधि ग्रहों और भूतों से पिण्ड छुड़ाकर मनोविज्ञान एवं मनोवैज्ञानिक उपचार का एक रोचक विषय बन गई। स्पष्ट है, चारको के प्रज्ञाचक्षु से औपचारिक शास्त्र को एक विशिष्ट गति मिली। चारको का सूत्र तदनुकूल विचारकों को बाँधते गया। दूसरे वैद्य, जिन्होंने हिस्टिरिया के विषय में खोज की है, फ्रांस के बेरनहाईम् और लीबो हैं। वे चारको के समकालीन थे। उन्होंने चारको के प्रयोग पर ध्यान दिया। चारको ने सिद्ध किया था कि रोगी के चित्त में गुप्त ज्ञप्ति या चेतना है, जो निर्देशित विषय को अपनाती है। बेरनहाईम् को सूझा कि प्रस्थापित स्थिति में निर्देशित रोगी से चाहे जो करा सकते हैं। चारको ने संकेत से एक रोग-लक्षण उत्पन्न किया। उसी कोटि में सम्पूर्ण व्याधि पर बेरनहाईम् ने

१—One of them, an old surgeon, actually broke out with the exclamation :—'But, my dear sir, how can you talk such nonsense? Hysteron (Sic) means the uterus. So how can a man be hysterical?' —S. Freud, *The Problem of Lay Analysis*; Brentano's N. Y., 1927. p. 204.

२—Trauma.

दृष्टि दौड़ाई। उन्होंने सोचा, 'यदि चारको ने मज्जाघात उत्पन्न किया तो मैं उसके निवारण का प्रयत्न करूँगा।' बेरनहाईम् उसी प्रस्थापित अवस्था में रोगी से विशेष प्रकार से बातचीत करते थे। धीरे-धीरे उन्हें विदित हुआ कि इस प्रक्रिया से रोग के लक्षण दूर होते हैं। उन्हें विश्वास हुआ कि अपनी ही बातों के कारण लक्षण लुप्त हो गये। अतः उन्होंने प्रस्वापन-निर्देश का सिद्धान्त प्रकट किया। इतना हुआ, पर रोग क्यों हुआ? इस प्रश्न पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ा। हिस्टिरिया को दूर करने में प्रस्वापन (Hypnosis) और निर्देश (Suggession) की आवश्यकता प्रकट हुई। लेकिन व्याधि की समाप्ति पर किसी प्रकार का प्रकाश न पड़ा, और खोज ज्यों-की-त्यों रह गई।

इस काम को जैने ने उठाया। उन्हें यह शङ्का हुई कि निर्देश के कारण ही व्यक्ति को हिस्टिरिया हुई। निर्देश से रोग निकल जाता है तो सम्भवतः उसी के कारण रोग उत्पन्न हुआ हो। रोगी ने अपने-आपको निर्देशित किया होगा और उस बात को भूल गया होगा। निर्देशित विषय चित्त में रह जाता है और रोग का कारण बन जाता है। जैने सोचने लगे, व्यक्ति उस बात को क्यों भूल जाता है। उन्हें चारको के संक्रान्तिवाद का स्मरण हुआ। चारको ने कहा था कि रोगी की शरीर-रचना में जन्म से ही अपूर्णताएँ थीं। जैने ने कहा कि इन्हीं अपूर्णताओं के कारण व्यक्ति अपनी गुप्त ज्ञप्ति की बातें भूल जाता है और व्याधि से पीड़ित हो जाता है। सम्भवतः विस्मृति को दूर करने से रोग का निवारण हो सकता है। जैने को उपाय सूझा। 'प्रस्वापित (सम्मोहित) स्थिति में हम रोगी से मनोनुकूल प्रक्रियाएँ करा सकते हैं'—यही बेरनहाईम् का कहना था। निर्देश से व्यक्ति की गुप्त ज्ञप्ति की सभी बातों को प्रभावितकर उन्हें परिवर्तित कर दें तो अच्छा होगा। अपने प्रभाव से रोगी के चित्त में नवीन बातें प्रविष्ट कराने का जैने ने यत्न किया। उसी से रोग के लक्षण मिट जाते थे। उन्होंने देखा कि एक स्त्री आग से बहुत डरती थी। किसी प्रकार से भी वह उसका कारण नहीं बता सकती थी। किन्तु सम्मोहन के प्रभाव में उसके कारणों को अति स्पष्ठ रूप से वर्णन करती थी।[१] हिस्टिरिया की यही विशेषता है। कारणों के पता चलाने में रोगी से किसी प्रकार की सहायता मिलने की आशा नहीं रहती है। अस्तु, जैने ने उस स्त्री को सम्मोहित किया और वे उसकी कारणभूत बातें जानने लगे। इससे जैने ने यह सिद्धान्त निकाला कि व्यक्ति में दो ज्ञप्तियाँ हैं: एक अज्ञात (अचेतन) और दूसरा ज्ञात (चेतन), जो एक दूसरे को नहीं जानती। सम्मोहित दशा में वैद्य निर्देश से उन दोनों स्थितियों को एक रूप में रोगी से बँधवा सका तो रोग का उपशम हो जाता है। इससे जैने ने 'व्यक्तिभेद' का सिद्धान्त निकाला। प्रत्येक व्यक्ति में, वास्तव में, दो भिन्न सत्व हैं: एक ज्ञात और दूसरा अज्ञात, जो आपस में एक दूसरे को नहीं जानते हैं। अज्ञात सत्व का प्रभाव ज्ञात सत्व पर पड़ता है। ज्ञात सत्व उससे अभिभूत होता है, लेकिन वह यह नहीं जानता कि क्यों और किससे वह अभिभूत हुआ है। इस प्रकार से अज्ञात का ज्ञात पर आक्रमण ही हिस्टिरिया का निदान है।

१—Van der Hoof: Character and The Unconsious, Chap I.

जैने के सिद्धान्त के प्रकट होने के पूर्व ही विएना के वैद्य ब्रयार इसी नतीजे पर पहुँचे, किन्तु उनका साधन दूसरा था। जैने के सिद्धान्त में जो छूट गया, वह ब्रयार के सिद्धान्त में भी नहीं है। जैने यह नहीं बता सके कि (१) अज्ञात में रहनेवाली ज्ञप्ति के कारण उसी प्रकार के व्याधि लक्षण क्यों होते हैं ? (२) अज्ञातगत विषयों का क्या स्वरूप है ? (३) उनमें और लक्षणों में क्या सम्बन्ध है ? (४) निर्देश से वे लक्षण दूर कैसे होते हैं ? (५) रोगी ने क्यों अपने-आपको ऐसा निर्देशित किया कि जिससे वह व्याधिग्रस्त हो सकता है ? जैने की पद्धति में भी कुछ त्रुटियाँ हैं, (१) उन्होंने विना परीक्षा के ही चारको के इस मत को स्वीकार कर लिया कि वंश-परम्परा से संक्रान्त शारीरिक दोषों के कारण व्यक्ति हिस्टिरिया से अभिभूत होता है, (२) वे व्यक्ति के मन में अपने विचार प्रवेश कराते थे और व्यक्ति की व्याधि थोड़े दिनों तक लुप्तप्राय दिखाई पड़ती थी, पर वह फिर अपना सिर उठाती थी। अतः उनकी प्रक्रिया से स्थायी लाभ प्राप्त नहीं होता था।

ब्रयार ने उपर्युक्त दोषों को कुछ हद तक दूर किया। इसमें उन्हें फ्रायड से सहायता प्राप्त हुई। ब्रयार ने अपने परिश्रम से कोई प्रक्रिया ढूँढ़ नहीं निकाली। परिस्थिति से ही उन्हें एक नई वैद्यक-प्रक्रिया का पता चला। ब्रयार के यहाँ चिकित्सा के लिए अनेक रोगी आते थे। उनमें एक समय एक स्त्री भी थी। उसकी दशा के परिशीलन ने ब्रयार को नवीन बातें सिखला दीं। संक्षेप में, रोगिणी और रोग का परिचय यह है:—रोगिणी नवयौवना स्त्री थी। वह कुलीना, सुसंस्कृता और विदुषी थी। अपने रोगी पिता की सेवा करते समय वह रोगग्रस्त हुई थी। पिता बीमार थे। उसी को पिता की सेवा करनी पड़ी। सेवा करते समय उसमें मनोव्याधि के लक्षण दिखाई देने लगे। पिता के मरण के बाद उसे हिस्टिरिया हो गई। वह चिकित्सा के लिए ब्रयार के पास आई। उस समय व्याधि के ये लक्षण थे—दाहिना हाथ जड़ हो गया था, उससे उसे कोई संवेदना नहीं मालूम होती थी, वह अपनी मातृभाषा जर्मन को अच्छी तरह जानती और समझती थी। पर रोग की दशा में वह सदा अंग्रेजी बोलने लग गई थी।

ब्रयार इस समय में विषय ध्यान देने लगे। दिन-प्रति-दिन उन्हें यह व्याधि विचित्र मालूम होती गई। सब वैद्य रोगी को 'दर्शन-स्पर्शन-प्रश्नैः' परीक्षा करते हैं। इन तीनो से ब्रयार को कुछ नहीं मालूम हुआ। क्योंकि वह नवयुवती अपने रोग के विषय में कुछ भी नहीं कह सकती थी। एक दिन ऐसा हुआ कि वह उनसे बातचीत करते-करते ऊँघने लग गई। उस तन्द्रा की अवस्था में वह अनूठी बातें करने लगी। वह उस समय अपनी व्याधि के विषय में ऐसी बातें कहने लगी, जिसे जाग्रतावस्था में वह किसी प्रकार भी नहीं कह सकती थी। ब्रयार को आश्चर्य हुआ। इसी तन्द्रा-सी अवस्था पर उनको विशेष औत्सुक्य हुआ। तब से वे उससे प्रस्वापित दशा में व्याधि के कारणों के विषय में प्रश्न करने लगे। फलतः उन्हें ऐसी बातों का पता चला जो उस रोग के निदानभूत परिस्थितियों से सम्बन्ध रखती थीं, जिनमें और व्याधि-लक्षणों में हेतु-फल-संतति का परिदर्शन होता था। क्रमशः ब्रयार महोदय

को उस रुग्ण नवयुवती से निम्नलिखित बातें ज्ञात हो गईं। उसने बताया—"मैं पिता की सेवा करती थी। डाक्टर की प्रतीक्षा करते एक दिन बैठी थी। उनके आने में देर हो रही थी। मैं एक कुर्सी पर बैठ गई, और अपना दाहिना हाथ उस कुर्सी की पीठ पर डाल दिया। मन में विचित्र कल्पनाएँ उठती थीं और तन्द्रा-सी मालूम होने लगी। उसी अवस्था में झट एक साथ साँप सामने दिखाई दिया। वह पिताजी की ओर बढ़ता जा रहा था। मालूम होता था कि वह उन्हें डसने के लिए जा रहा है। उसे भगाने की प्रबल इच्छा से मैं विह्वल हो उठी। हाथ से उसे हटाने गई, किन्तु हाथ उठा नहीं। वह जड़ हो गया था। इतने में देखती क्या हूँ कि सारी अँगुलियाँ छोटे-छोटे साँप बन गई हैं। उनके सिर मृत्यु-देवता के सिर के समान प्रतीत होते थे। मैं भयभीत हो गई। पुकारना चाहा, किन्तु स्वर कहाँ! प्रार्थना करने की इच्छा हुई, पर शब्द नहीं निकले। अन्त में एक अँगरेजी गाना स्मरण आया। मैं गाने लगी। आपत्काल में मैं सदा यही गाना गाया करती थी।"

उस नवयुवती के रोग-लक्षणों में और कथित वृतान्त में अनेक बातें मिलती-सी हैं। पिता के पास बैठी हुई उसने जब वह घोर दृश्य देखा था तब उसका दाहिना हाथ कुर्सी की पीठ पर डाला गया था, और जड़-सा हो गया था। इससे उसके रोग में भी वही हाथ जड़ हो गया। उसने उस समय प्रार्थना करनी चाही। कोई प्रार्थना स्मृति-पट पर नहीं आई। अन्त में उसे अँगरेजी गाना का स्मरण हुआ, जिसे उसने अपने शैशव में अपनी दाई से सीखा था। इसीसे उस रोग की दशा में वह केवल अँगरेजी ही बोल सकती थी और लिख सकती थी। इस प्रकार लगभग डेढ़ साल तक उसे अपनी मातृभाषा जर्मन का स्मरण तक न हुआ। इस घटना के अन्तर्गत किसी शरीर क्षत (घाव) की कोई चर्चा नहीं है। हाथ का जड़ हो जाना अथवा अँगरेजी गान का स्मरण आना क्षत नहीं कहा जा सकता है। लेकिन उस घोर दृश्य की भीषणता ने क्षत का स्वरूप दिया। अतः व्याधि के मूल में कोई भी बात-विशेष क्षतरूपेण विद्यमान नहीं थी। वास्तव में अनेक स्वल्प घटनाएँ व्यूह बनकर अज्ञातरूपेण रहती थीं और रोग के कारण बन जाती थीं। उन सबमें आपस में सम्बन्ध रहता था, किन्तु उनमें और रोग की ज्ञात चित्त-वृत्तियों में किसी प्रकार का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता था। उन सभी अज्ञात घटनाओं में भाव की समानता दिखाई देती थी। साधारण दशा में नवयुवती उन सब बातों को नहीं बता सकती थी। किन्तु सम्मोहन की दशा में उसकी ज्ञप्ति का क्षेत्र विशद होता विदित हुआ। उसके प्रभाव में रुग्ण नवयुवती अतीत स्मृतियों को जानती थी। घटनाओं का उल्लेख करते समय वह भावाविष्ट होती थी। उसकी कही हुई कथा पूर्ण वृतान्त का अंशमात्र थी। बताते समय उसे दुःख होता था। घटना-काल में जो-जो भाव उसके मन में उठे थे, उन्हें वह प्रस्वापित दशा में स्पष्ट प्रकट करने लगी थी। सम्मोहित स्थिति में मालूम होता था कि वह पुनः एक बार घटनाकाल में रहने लगी है। ज्यों-ज्यों अज्ञात बातें विदित होती थीं, त्यों-त्यों भाव का रेचन होता जाता था और लक्षण लुप्त होते जाते थे। रोग-लक्षणों को निकाल देने के लिए वैद्य को विशेष परिश्रम नहीं करना

पड़ता था। निदान के साथ-साथ उसकी व्याख्या से लक्षण मिट जाया करते थे। इन सभी बातों के आधार पर जैने महोदय के सिद्धान्तों से भिन्न 'ब्रयार' ने कुछ सिद्धान्त प्रकट किये :—

(१) जैने ने 'व्यक्तिभेद' का सिद्धान्त निकाला। पर व्यक्तिभेद का कारण वे नहीं बता सके। ब्रयार ने कहा कि कई तन्द्रा-कल्प अवस्थाएँ होती हैं। उसमें व्यक्ति को अपनी क्रियाओं पर पूर्ण अधिकार नहीं रहता है। उस समय व्यक्ति की विचार-शक्ति और संकल्प शक्ति शिथिल रहती है। तब छोटी-से-छोटी बात भी प्रबल वेगवाली विदित होने लगती है और वे अपने वेग से व्यक्ति को अभिभूत करती हैं। उन स्थितियों का नाम तन्द्राकल्प अवस्थाएँ हैं।

(२) सभी 'तन्द्राकल्प' अवस्थाओं की बातों में परस्पर सम्बन्ध रहता है, किन्तु और व्यक्ति के ज्ञान-चैतन्य में कोई सम्बन्ध नहीं रहता है।

(३) उन बातों को व्यक्ति भूल जाता है, किन्तु वे अचेतन रूप से अपने भावावेग के साथ जाग्रत रहती हैं।

(४) व्यक्ति उन अज्ञातगत अर्थात् अचेतन मन में स्थित विषयों का स्मरण नहीं कर सकता है, क्योंकि उनके बताने में लज्जा और घृणा होती है।

(५) अज्ञात भाव शारीरिक रूप धारण करके व्याधि-लक्षणों के रूप में परिणत होता है। इसी को उन्होंने परिवर्तन का नाम दिया।

(६) अतः रोग का निवारण वैसे ही तन्द्राकल्पावस्था में हो सकता है जैसा कि सम्मोहितावस्था में प्रकट है।

(७) रोग के निवारण के लिए निर्देश की कोई आवश्यकता नहीं है। अचेतन मन के रेचन से ही लक्षण मिट जाते हैं।

ब्रयार ने इस प्रकार की चिकित्सा का 'निर्मली' अथवा विरेचन (Catharsis) नाम रखा। रोगी इस चिकित्सा-पद्धति को 'बातचीत चिकित्सा' (टाकिंग क्योर), 'चिमनी बुहार' (चिमनी स्वीपिंग) कहते थे। बातचीत में ही रोगी की व्याधि शमीभूत होती थी। इस प्रकार चारको के प्रयत्न का अवसान हुआ। श्री ब्रयार और डा० फ्रायड में मित्रता थी, अतः ब्रयार ने डा० फ्रायड से इन सभी प्रक्रियाओं की चर्चा कर दी। दोनों इसी प्रणाली से प्रयोग करने लगे। लेकिन कुछ ही दिनों के उपरान्त डा० फ्रायड को ब्रयार से अलग होना पड़ा। दोनों के विचार एक साथ नहीं मिलते थे। फ्रायड अलग हुए और हिस्टिरिया के साथ अपना निजी प्रयोग करने लगे।

(१) दोनों के मतभेद का कारण प्रारम्भ में रोग की संप्राप्ति के विषय में था। श्री ब्रयार का रोग-निदान तन्द्राकल्प अवस्थाओं तक ही सीमित था। उनका अधिक विश्वास व्यक्तिभेद (सत्व-भेद) न होकर तन्द्राकल्प अवस्थाओं पर था। उनके मत में व्यक्तिभेद गौण था, किन्तु फ्रायड को वही मुख्य प्रतीत होने लगा। उनके विचार में व्यक्तिभेद की तह में अज्ञातरूपेण अनेक इच्छाएँ और शक्तियाँ काम करती दिखाई देती थीं। प्रत्येक विस्मृत घटना के मूल में व्यक्ति के कुछ विशेष उद्देश्य दिखाई पड़ते थे और अचेतन मन की वृत्तियों के अज्ञात रहने में तन्द्राकल्प अवस्थाएँ किसी प्रकार की

सहायता पहुँचाती नहीं दृष्टिगोचर होती थीं। (२) ब्रयार महोदय के रोगी की चिकित्सा की परिणाम-दशा डा० फ्रायड को ज्ञात नहीं हुई। श्री ब्रयार ने उनसे कुछ बातें अवश्य छिपाई हैं, ऐसा उन्हें भान हुआ। (३) इसके साथ ही डा० फ्रायड को आरम्भ से ही प्रस्वापन (सम्मोहन) की प्रक्रिया में एक प्रकार का अविश्वास था। उन्हें इस प्रक्रिया में रोग-निवारण का उचित साधन नहीं प्रतीत हुआ। किन्तु विरेचन (कथार्सिस) के लिए किसी अन्य साधन के अभाव में डा० फ्रायड ने कुछ दिनों तक उसी का अनुसरण किया। सम्मोहन-प्रक्रिया के विषय में उनके विरोध के आरम्भिक कारण ये हैं :— (१) वे प्रत्येक रोगी को प्रस्वापित (सम्मोहित) नहीं कर पाते थे। प्रस्वापित होना या न होना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर रहता है, अतः स्पष्ट है, सभी व्यक्ति प्रस्वापित नहीं भी हो सकते थे। (२) यदि रोगी व्यक्ति थोड़ा-बहुत किसी प्रकार प्रस्वापित हुए भी, तो उनकी प्रस्वापितावस्था इतनी प्रगाढ़ नहीं थी जितनी कि अपेक्षित थी। (३) प्रस्वापन-प्रक्रिया से रोग के लक्षण के एकबार शमित हो जाने पर भी फिर उनका पुनरावर्तन हो जाया करता था। रोग के उपशम और रोगी तथा वैद्य के पारस्परिक सम्बन्ध पर उपशम की स्थायी सफलता निर्भर रहती थी। वैद्य के रोगी से अलग हो जाने पर रोग पुनः सिर उठाता था। इससे यह विदित होता था कि निर्मलीकरण अथवा विरेचन की सारी प्रक्रियाओं से भी वैद्य और रोगी का पारस्परिक सम्बन्ध ही व्याधि की उपशान्ति में अधिक सहायता पहुँचाता है। एक घटना ने इन शंकाओं का समर्थन-सा किया और डा० फ्रायड को विवश किया कि वे सम्मोहन-प्रक्रिया छोड़ दें। एक समय उनके निरीक्षण में मानसिक व्याधि से पीड़ित एक नवयौवना थी, जो डा० फ्रायड के प्रत्येक आदेश का पालन करती थी। डा० फ्रायड उसे प्रस्वापित करके रोग का इतिहास पूछा करते थे और भाव के रेचन से व्याधि के उपशम करने का प्रयत्न करते थे। एक दिन उस स्त्री ने प्रस्वाप से उठते ही डा० फ्रायड को गले से लगा लिया। जिस बात की आशंका डा० फ्रायड को पहले से थी, वह प्रत्यक्ष हो गई। इसके उपरान्त उन्होंने सम्मोहन-प्रक्रिया का सहारा छोड़ दिया। इस प्रकार सम्मोहन-प्रक्रिया के परित्याग से चित्त-विश्लेषण-शास्त्र का वास्तविक उदय हुआ। चित्त-विश्लेषण-प्रक्रिया की पूर्वपीठिका से उसका उत्तरकाल अधिक मोहक है।

डा० फ्रायड ने सम्मोहन-प्रक्रिया छोड़ तो दी, किन्तु उन्हें अभी कोई ऐसी प्रक्रिया नहीं उपलब्ध हुई जिसके द्वारा वे अचेतन में अथवा स्मृति के गर्भ में बैठी अनुभूतियाँ जगा सकें। अतः उनकी विशिष्ट खोजों का प्रचलन आरम्भ हुआ। उन्हें अन्त में, एक ऐसी अनुभूति का स्मरण हुआ जिससे उन्हें विशेष गति मिली। उन्होंने अपने आरम्भिक अध्ययन-काल में एक बार बेरनहाईम् के यहाँ प्रस्वापन के कुछ प्रयोग देखे थे। बेरनहाईम् प्रसिद्ध प्रस्वापक थे। बहुधा वे उस प्रक्रिया के अनूठे मर्म पर प्रकाश डाला करते थे। डा० सिगमण्ड फ्रायड ने देखा कि प्रस्वापन के उपरान्त बेरनहाईम् रोगी के मस्तक पर हाथ रखते थे, थोड़ा उसे दबाते थे, और कहते थे, "स्मरण कीजिए, प्रस्वापित अवस्था में आपको कौन-सी बातें कही गईं और आपने क्या-क्या कहा ?" इस पूछताछ से आरम्भ में मालूम पड़ता था कि रोगी को सम्मोहिता-

वस्था की कोई बात स्मरण नहीं है। किन्तु जब बेरनहाईम् मस्तक पर हाथ देकर उसे प्रोत्साहित करते थे, तब रोगी प्रारम्भ में धीरे-धीरे किन्तु कुछ देर के उपरान्त सम्मोहिता-वस्था की सारी बातें धाराप्रवाह कहने लग जाता था। जब फ्रायड ने भी उसी प्रणाली से आगे बढ़ने का निश्चय किया, तब उन्होंने सोचा कि यदि प्रस्वापित दशा की सभी विस्तृत घटनाओं का कुछ प्रयत्न से उस दशा के अनन्तर भी स्मरण कराया जा सकता है, तो अचेतन के गर्भ में बैठी सभी घटनाओं एवं अनुभूतियों को विना सम्मोहन-क्रिया के स्मरण कराया जा सकता है। थोड़ी सहायता से रोगी सभी बातों का स्मरण कर सकता है। डा० फ्रायड ने ठीक बेरनहाईम् के समान ही अपनी प्रक्रिया आरम्भ की। अन्तर इतना ही था कि श्री बेरनहाईम् एक रोगी को प्रस्वापित करते थे और डा० फ्रायड ने ऐसा करना श्रेयस्कर नहीं समझा। किन्तु यही अन्तर बहुत महत्त्व का था। प्रस्वापन (-सम्मोहन-क्रिया) के परित्याग से हिस्टिरिया की संप्राप्ति पर विशेष प्रकाश पड़ा। सम्मोहन-प्रक्रिया के परित्याग से अन्य नवीन बातें भी ज्ञात होने लगीं। प्रस्वापित हुए विना विस्मृत घटनाओं के उल्लेख में रोगी को बहुत ही श्रम करना पड़ता था। सभी बातें याद नहीं आती थीं। स्मरण आने पर भी उन बातों की व्याख्या वह नहीं कर सकता था। उन सभी बातों में कुछ-न-कुछ दुःख, अनिच्छा, जुगुप्सा अथवा लज्जा होने की सम्भावना प्रतीत होती थी, और इसी कारण रोगी को अत्यन्त वेदना और श्रम का अनुभव करना पड़ता था। ऐसा लगता था मानों अपने भीतर-ही-भीतर कुछ शक्तियों का विरोध कर रहा है, और उसके अन्तरतम में कोई घोर संग्राम हो रहा है। ऐसी स्थिति में जब वैद्य उन बातों को अर्थात् अनुभूत घटनाओं को स्मरण करने के लिए रोगी को उद्वेलित करता था, तब रोगी ऐसे प्रयत्नों का प्रतिरोध करता था। इन बातों में चैत्र जीवन का सच्चा स्वरूप दिखाई पड़ने लगा। हिस्टिरिया का कारण न तो 'सत्वभेद' था और न तन्द्राकल्पावस्थाएँ। उसका कारण कांक्षाओं के अवदमन (निरोध) एवं प्रतिरोध में पाया जाता है। इसके कारण के मूल में मानस नियमों की शृङ्खलाएँ भी पाई जाती हैं। चैत्र-यन्त्र जड़ नहीं है। वह चैतन्यविशिष्ट है। उसमें सदा ज्ञात और अज्ञात अथवा चेतन और अचेतन रूप से शक्तियाँ और संस्कार व्युत्थित और निरुद्ध होते रहते हैं। चित्त-वृत्तियाँ आविर्भूत और तिरोभूत हुआ करती हैं। किन्तु डा० फ्रायड ने देखा कि इस प्रकार की उदयास्त प्रक्रिया में विशेष बाधाएँ पड़ जाया करती हैं। किसी विशेष लक्षण के बारे में जिज्ञासा करने से, और उसके मूलभूत स्मृति-संस्कार (स्मृति चिह्नों) को जगाने में रोगी को अत्यन्त पीड़ा होती थी और वैद्य को बहुत ही परिश्रम करना पड़ता था। अतः उन्होंने निश्चय किया कि किसी विशेष लक्षण के बारे में न पूछा जाय, बल्कि रोगी को सम्पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय, जिससे जो कुछ उसके मन में आवे, वह वही कहे। न केवल अपनी कहानी ही, प्रत्युत मन में आनेवाले सभी चित्रों अथवा प्रतिरूपों को बना देने के लिए डा० फ्रायड रोगी को अनुप्रेरित करते। साथ-ही-साथ वे रोगी को यह भी स्पष्ट बता देते थे कि उसे कुछ भी छिपाना नहीं चाहिए। घृणित-से-घृणित, स्वल्प-से-स्वल्प, अर्थशून्य-से-अर्थशून्य बातें या प्रतिरूप भी मन में आ जायँ तो उन्हें भी खोल देना श्रेयस्कर होगा। इस

प्रकार उन्होंने देखा कि इस प्रकार की प्रणाली से भी रोगी अवदमित कांक्षाएँ प्रकट कर देता था; और भाव का रेचन हो जाता था। इस प्रक्रिया को उन्होंने स्वच्छानुबन्ध अथवा स्वतन्त्र या सहज साहचर्य (फ्री एंशोसिएशन) की संज्ञा दी; क्योंकि रोगी यथाभिमत जो कुछ कहता जाता था, उन सभी बातों में एक अनुबन्ध-परम्परा (अतीत स्मृति-साहचर्य-क्रम) दिखाई पड़ती थी[1]।

स्वच्छन्दानुबन्ध अथवा स्वतन्त्र साहचर्य अन्य प्रक्रियाओं से कई बातों में श्रेष्ठतर एवं सुगमतर है—(१) इस प्रक्रिया द्वारा रोगी पर किसी प्रकार का अप्राकृतिक बल नहीं पड़ता, (२) वैद्य को किसी प्रकार का विशेष परिश्रम उठाना नहीं पड़ता है और न वैद्य की ओर से रोगी पर किसी प्रकार का अनीप्सित या ईप्सित प्रभाव ही डाला जाता है। (३) इसमें कभी भी अनुबन्ध-परम्परा नहीं टूट सकी, क्योंकि मन में कोई-न-कोई अनुबन्ध उठता ही रहता है। रोगी को यह समझने का कोई कारण नहीं है कि उसपर कोई अपना प्रभाव डालता है, क्योंकि इस प्रक्रिया में रोगी को अपनी आँखें बन्द नहीं करनी पड़ती हैं। वैद्य रोगी को छूता तक नहीं। रोगी को किसी प्रकार से अपनेको अभिभूत समझने की सम्भावना नहीं है। केवल रोगी को सुखासन पर लेटना पड़ता है। वैद्य उसके पीछे बैठता है, और पीड़ित रोगी की सभी प्रक्रियाएँ सुनता एवं देखता है। वह स्वयं रोगी की आँखों की ओट में रहता है, जिससे रोगी अपने कथन में किसी प्रकार के सङ्कोच का अनुभव न करे। इन सभी बातों के होते हुए भी स्वच्छन्दानुबन्ध को स्वच्छन्द नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अनुबन्धों पर चिकित्सा की परिस्थिति कुछ प्रभाव डालती ही है। "मैं अपने रोग की शान्ति के लिए आया हूँ और वैद्य मेरे रोग का निवारण करेगा, इस प्रकार की भावना का उठना तो रोगी के मन में अवश्यम्भावी है, और इस विचार का प्रभाव अनुबन्धों पर पड़ता ही है। लेकिन यह दोष सभी चिकित्सा-प्रकारों में पाया जाता है और इसके विना चिकित्सा हो ही नहीं सकती है। लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि बातचीत करने में ही रोग का निवारण हो जाता है। बातों में कौन-सा प्रभाव है, यह बहुत कम लोग जानते हैं। अतः उन्हें स्वच्छन्दानुबन्ध अथवा स्वतन्त्र साहचर्य की सचाई में शङ्का होती है। इस विषय में डा० सिगमण्ड फ्रायड का निम्नलिखित कथन पठनीय एवं विचारणीय है—

१—"चलन्नीलोत्पलव्यूहसमलोचनलोलताम् ।
ब्रूहि चेतः कृतां त्यक्त्वा हेतुना केन मुह्यसि ॥ (चेतः=व्यग्रचित्तं)
—योगवासिष्ठ, वैराग्य प्रकरण, सर्ग ११, श्लोक ३४ ।

यथाभिमतमाशु त्वं ब्रूहि प्राप्स्यसि चानघ ।
सर्वमेव पुनर्येन मेत्स्यन्ते त्वांतु नाधय ॥ वही, ११-३७ ।

चञ्चलनीलोत्पलसमूह के समान, चित्त के कारण उत्पन्न, लोचन-लोलता को छोड़कर बताओ किस कारण से दुःख पा रहे हो। ऐ अनघ, अभिमतार्थ को प्रच्छन्न न करो और स्पष्ट हृदय की बातें बताओ। इससे तुम अभिमतार्थ को पाओगे और आधियाँ पुनः तुम्हें कष्ट नहीं देंगी।

"पहले शब्द इन्द्रजाल थे, और शब्द की पुरानी ऐन्द्रजालिक शक्ति आज भी बहुत सीमा तक पाई जाती है। शब्दों के द्वारा मनुष्य दूसरों को धन्य बना सकता है, अथवा निराशा के फन्दे में डाल दे सकता है। गुरु अपना ज्ञान-भाण्डार शिष्य को वचनों से ही प्रदान करता है, वचनों से ही वक्ता श्रोताओं को अपने साथ बहा ले जाता है तथा उनके निर्णयों एवं मतों को निश्चित रूप देता है। वचनों से भावावेग उत्पन्न होते हैं तथा वे मानव-हृदय को मुग्ध करने के विश्वजनीन साधन हैं। अतः मानसिक चिकित्सा में शब्दों की प्रधानता पर हम ध्यान देने में कमी न रखें।"[१] इसी प्रकार से मनु महाराज ने कहा है—"सभी अर्थ वाणी में हैं। सभी का मूल वाक् (वाणी) है। इसी से सभी अर्थ निकलते हैं। अतः जो अपनी वाणी का दुरुपयोग करता है, वह सभी प्रकार के स्तेय को करनेवाला है।" महाकवि 'भवभूति' का कथन है : सुनृत वाक् को लोग सभी मङ्गलों की मा, मङ्गलों को देनेवाली गाय कहते हैं। ऋषियों ने उन्मत्त एवं गर्विष्ठ के वचनों को राक्षसी कहा है। वाणी से ही वैर आदि का उद्भव होता है। वही इस लोक की निऋृति है। अतः स्पष्ट है कि बातें सर्व-प्रधान हैं। इन्हीं के बल से प्रसिद्ध मानसिक चिकित्सक डा० फ्रायड व्याधि निवारण करने में समर्थ हुए हैं।

रोग-शान्ति के लिए प्रयत्न करते समय डा० फ्रायड को सदा यह विदित होता था कि रोगी अपने जीवन के सभी गूढ़ रहस्यों को प्रकट कर देता है। उन्होंने यह देखा कि गूढ़ रहस्यों में प्रधानतया मिथुन-सम्बन्धी बातें ही रहती हैं। वे बातें प्रायः समाज की दृष्टि में निन्द्य इच्छाएँ ही रहती हैं। एक भी ऐसा रोगी उन्हें नहीं मिला जिसने अपने कथन में मैथुन-सम्बन्धी बातों की चर्चा न की हो। उन्हें यह स्पष्ट प्रतीत होता था कि रोग के मूल में मैथुन-सम्बन्धी इच्छाओं का अवदमन अथवा निरोध ही निदान रूपेण रहता है। इन बातों को बार-बार देखने से डा० फ्रायड को दृढ़ विश्वास हो गया कि काम-सम्बन्धी इच्छाओं का इस प्रकार का दमन या निरोध हिस्टिरिया आदि व्याधियों का एकमात्र कारण है।

इसी 'मैथुन सिद्धान्त' के कारण चित्त-विश्लेषण-शास्त्र को समाज द्वारा उतनी मान्यता नहीं मिली जितनी कि अपेक्षित थी। जितना विरोध इस सिद्धान्त का हुआ, उतना और किसी का नहीं हुआ होगा। लोग कहने लगे कि हिस्टिरिया का मूल कारण काम-प्रवृत्ति नहीं हो सकती। विरोध यहाँ तक बढ़ा कि स्वयं डा० फ्रायड के कुछ मित्रों ने भी उनका साथ छोड़ दिया। फ्रायड सोचने लगे—"मैंने तो भूल की है।

१—Words were originally magic, and the word retains much of its old magical power even to-day. With word one man can make another blessed or drive him to despair : by words the teacher transfer his knowledge to the pupils, by words the speaker sweeps his audience with him and determines its judgments and decisions. Words call forth affects and are the universal means of enfluencing human beings. Therfore let us not under estimate the use of words in Psyco-Therapy. S. Freud : A General Introduction to Psycho-analysis; Bori and Levaright, N. Y. 1922, page 3.

कदाचित् मेरा मिथुनवाद प्रभ्रमात्मक है।" किन्तु उनकी यह शंका बहुत दिनों तक न ठहर सकी। अनुदिन के परिशीलन ने उन्हें इस सिद्धान्त के विषय में अटल बना दिया। उन्हें स्मरण आया कि संसार के कुछ प्रसिद्ध वैद्यों का भी वही मत है। उन्होंने इस वाद की स्थापना में अपने समकालीन डाक्टर सर्वश्री ब्रयार, छ्रोबक आदि से तथा चारको से बहुत महत्त्व की बातें सुनी थीं। अपने सिद्धान्त की पुष्टि में उन्हें वे सब तथ्य स्मरण हो आये और वे अपनी स्थापना में दृढ़तर हो उठे।

एक दिन डा० फ्रायड डा० ब्रयार के साथ टहल रहे थे कि एक भद्र पुरुष आकर श्री ब्रयार से मिला। डा० फ्रायड थोड़ा पीछे रह गये। जब वह चला गया तब श्री ब्रयार ने डा० फ्रायड से कहा—"उस भद्र पुरुष की स्त्री विचित्र प्रकार से व्यवहार करती है। और यह कहते-कहते श्री ब्रयार ने कह ही दिया—"These things are always secrets alcove." आश्चर्यचकित डा० फ्रायड ने उनके कथन का तात्पर्य पूछा तो श्री ब्रयार ने उत्तर में कहा, 'alcove' का अर्थ वासक-सज्जा अर्थात् विवाह-शय्या है। उसके कुछ वर्ष बाद जब डा० फ्रायड श्री चारको के यहाँ अध्ययन करने के लिए गये थे, तब उन्होंने एक दिन यह देखा कि चारको महोदय बहुत आवेग के साथ अपने एक मित्र से किसी व्याधि के विषय में कुछ कह रहे थे। वे कह रहे थे—'एक विवाहित स्त्री-पुरुष थे, जिनमें पहले पत्नी बीमार पड़ गई। पति या तो नपुंसक था या विकृत।" और चारको महोदय बार-बार जोर से कहते जा रहे थे—"धैर्य धारण करो,...अतः यत्न करो, तुम जहाँ पहुँचना चाहते हो, पहुँच जाओगे।" श्री चारको अतीव उमंग के साथ बीच में बोल उठे—"किन्तु इन समान बातों में सदा जननेन्द्रिय ही प्रधान है, सदा...सदा...सदा..." यह कहते हुए उन्होंने अपने हाथों को छाती पर रखा, अपनेको कुछ आकुंचित किया और अपने अँगूठे पर धीरे-धीरे अपने स्वाभाविक उत्साहपूर्ण रीति से कूदने लगे।"[१] एक तीसरी घटना लीजिए। विएना के प्रसिद्ध वैद्य छ्रोंबक ने डा० फ्रायड से एक रोगी स्त्री को अपनी निगरानी में ले लेने को कहा। उस स्त्री में एक विचित्रता उत्पन्न हो गई थी। उसे यह जानकर ही शान्ति की प्राप्ति होती थी कि छ्रोबक अनुपल कहाँ-कहाँ रहते हैं। छ्रोबक महोदय ने यह बताया कि उस स्त्री का विवाह हुए अठारह साल हो गये थे; किन्तु वह अब भी कुमारी ही कही जा सकती थी, क्योंकि उसका पति नपुंसक था। छ्रोबक महोदय के शब्दों में उसकी व्याधि की एकमात्र ओषधि थी पुरुष का उससे संयोग होना।'[२] इतने प्रसिद्ध चिकित्सकों के मत ने भी डा० फ्रायड की 'मैथुन प्रवृत्ति' वाली धारणा को प्रधानता देने को प्रेरित नहीं किया। किन्तु असंख्य

१—"Hearten yourself"......'Therefore strive forth, I assure you will arrive there......'But in these similar cases, it is always the genital thing (matters always,......always......always"—S. Freud ! Collected Papers. vol I. pt. 2945.

२—"The sole prescription for such a melady, he added, is familiar enough to us, but we can not order it. It runs : R. Penis normalis dosism respectam, S. Freud; Collected Papers, vol I, p. 296.

रोगियों के निरन्तर कथन से कि मैथुन-प्रवृत्ति का निरोध ही उसकी व्याधि का कारण है, फ्रायड को मिथुनवाद में स्थिर किया। अवदमित कामानिकांक्षाएँ व्यक्ति को ज्ञात नहीं रहती थीं। वे उनके अचेतन में बैठी भी शक्तियुत रहती थीं। इस प्रकार से फ्रायड को विदित हुआ कि व्यक्ति के चित्त में एक अज्ञात या अचेतन भाग भी रहता है, जिसका ज्ञान व्यक्ति को कभी नहीं रहता है। यही 'अज्ञात' निरुद्धइच्छा-व्यूहो (अवदमित कांक्षा-ग्रन्थियों) का केन्द्र है। इन अवदमित कांक्षाओं के व्यूह में मैथुन सम्बन्धी इच्छाएँ अति प्रबल हैं। इस प्रकार से डा० फ्रायड ने मिथुनवाद की स्थापना की और साथ-साथ व्यक्ति के प्रख्यापित वचनों की यथार्थता की पहचान के लिए उन्होंने एक 'अनुव्याख्यान' (इण्टरप्रेटेशन) की प्रक्रिया भी निकाली।

अनुव्याख्यान से उन्हें व्यक्ति में कामज वृत्तियों की अक्षुण्ण प्रबलता का भान हुआ। उनके रोगियों का कथन प्रायः उनके बाल्यकालीन संस्कारों से संगुम्फित रहता था, और यह विदित होता था मानों शैशवकाल में भी उन्हें किसी प्रकार की काम-वासनाएँ रहती थीं। इस प्रकार की शैशव काम-वासनाओं पर जब वाह्य अवरोध अथवा धक्का लगता है, तब व्यक्ति अपनेको सँभालने में असमर्थ हो जाता है और उसकी ये दमित कांक्षाएँ क्रमशः अचेतन में बैठकर अन्य समान रूपवाली से मेल खाती हुई अन्त में वातव्याधि का कारण बन जाती हैं। इससे यह प्रकट हुआ कि बाल्य-कालीन काम-सम्बन्धी जीवन की विषमता ही वात-व्याधि का कारण है, न कि वह जो साधारण जीवन में काम-प्रवृत्ति-दमन से होता है।

अनुव्याख्यानों से और एक लाभ हुआ। डा० फ्रायड ने देखा कि रोगी अपनी कथा कहते समय स्वप्नों को भी बताते हैं। उन्हें उत्सुकता हुई; उन्होंने इस प्रकार के स्वप्न-कथन के मूल में पहुँचने का उद्योग किया। इस प्रकार डा० फ्रायड को स्वप्नों के निविड़ विपिन में प्रवेश करने का सुअवसर प्राप्त हो सका। आरम्भ में उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। किन्तु स्वप्नों से रोग का सम्बन्ध अवश्य है, ऐसा उन्हें विदित होने लगा। अब वे स्वप्नों को रोग-लक्षण समझकर उनकी अभिज्ञता के लिए भी स्वच्छन्दानुबन्ध (स्वतन्त्र साहचर्य-माप) का प्रयोग करने लगे। अतः उन्होंने दृश्य स्वप्न के प्रत्येक चित्र को अलग-अलग अनुबन्धों का विषय बनाया। प्रयोगों से उन्हें विदित हुआ कि सभी के अनुबन्ध एक ही केन्द्र में अवस्थित हो जाते थे। केन्द्र में कोई-न-कोई अवदमित अभिकांक्षा विद्यमान रहती थी और उसी की तृप्ति के लिए दृश्य स्वप्न का वैचित्र्य निर्मित हुआ प्रतीत होने लगा। अभिलाषा-तृप्ति को ध्यान में रखकर सारे स्वप्न का मर्म और विपर्यास समझाया जा सकता था। डा० फ्रायड ने इसी उपयोगिता को यथासम्भव प्रमुखता देकर स्वप्नों के अनुव्याख्यान के लिए एक प्रकिया निकाली और एक विशिष्ट शास्त्र का निर्माण किया। उस शास्त्र का नाम 'स्वप्नानुव्याख्यान' है।[१] रोग-लक्षणों के और स्वप्नों के अनुव्याख्यान ने रोगी के बाल्यजीवन पर अधिक प्रकाश डाला है। उनके अध्ययन से बाल्य-जीवन में अत्यन्त प्रभाववाले एक व्यूह (ग्रन्थि) का पता चला। वह पितृ-ग्रन्थि अथवा

१—Dle Traum dentung—The interpretation of Dreams.

ईडिपस व्यूह[1] है। इस व्यूह के परिशीलन से पता चलता है कि शिशु में 'काम' रहता है। उसका ध्येय सन्तान की उत्पत्ति की भाँति केवल शिशु को तृप्ति और सुख पहुँचाना ही रहता है। बाल्यकाल में इस काम-सम्बन्धी ग्रन्थि का उत्तरदायित्व माता-पिता पर है। शिशु यदि लड़का हो तो माता को और यदि वह लड़की हो तो बाप को अपने 'काम' का विषय बनाता है। इस काम की तृप्ति या अतृप्ति पर बच्चे का भावी जीवन निर्भर करता है। बच्चे के भावी जीवन के सुखमय या दुखःमय प्रासाद की नींव इसी पितृ-ग्रन्थि पर अवलम्बित रहती है।

अब डा० फ्रायड को वातव्याधि के निदानों का पूर्ण परिचय प्राप्त हुआ। क्रमशः उन्होंने इस प्रकार अपने अनुभवों के आधार पर हेतु-फल-सन्तति,[2] निरोध, बाल्यकालीन मिथुन-प्रवृत्ति, मिथुनवाद आदि के सिद्धान्त उद्घोषित किये, जिनकी सहायता से वे रोग का निवारण करने लगे। उन्होंने देखा कि प्रत्येक रोगी के व्याधि-निवारण के अन्तिम दिनों में एक विशेष प्रकार की स्थिति सामने आती है। रोगी वैद्य के प्रति विशेष प्रकार का व्यवहार करने लगता है। रोगी नारी तो प्रायः चित्त-विश्लेषक से प्यार करने लगती है। यह स्थिति प्रायः एक अतीत अवस्था के पुनरावृत्त रूप का द्योतक है। इस अवस्था को डा० फ्रायड ने 'अवदेशन'[3] की संज्ञा दी है। डा० फ्रायड ने चित्त-विश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा देखा कि इस प्रकार की अवस्था में प्रायः रोगी वैद्य से वैसा ही व्यवहार करते थे, जैसा कि उन्होंने अपने बाल्यकाल में माता-पिता आदि से किया था। अतः वैद्य ने इसे भी रोग के लक्षणों के निदान की जानकारी के लिए एक अच्छा उपकरण माना। चित्त-विश्लेषक लोग रोगी से यह प्रकट करते थे कि वह एक अतीत घटना को दुहरा रहा है और वे इस प्रकार से अन्तिम प्रतिरोध को हटाकर व्याधि-लक्षणों का समूल उच्छेदन करने में समर्थ होते थे।

यह प्रक्रिया केवल असाधारण रोगियों के परिशीलन में लागू होती थी और डा० फ्रायड उनके रोगों के भीतर कौन-से नियम लागू होते हैं, उन्हें स्पष्ट समझाने का प्रयत्न करते थे। किन्तु अवदमन (निरोध) का सिद्धान्त साधारण जीवन में भी उपयुक्त है। निरोध साधारण जीवन में भी हुआ करता है और उसी से मानसिक रोग भी हो सकता है। अतः डा० फ्रायड को ऐसा भान हुआ कि रोग के सभी नियम साधारण जीवन में भी लागू हो सकते हैं, क्योंकि स्वास्थ्य मृदु रोग के समान तथा रोग असाधारण स्वास्थ्य है। साधारण व्यक्तियों के स्वप्नों में भी वे ही नियम काम करते दृष्टिगोचर होते हैं। बाल्यकालीन मिथुन-जीवन सभी बच्चों में उसी रूप में दिखाई पड़ता है। अतः डा० फ्रायड ने अपने सिद्धान्तों को केवल निदान से सम्बद्ध न रखकर

१—Oedipus Complex.

२—हेतुफल संतति को ही कार्यकारण-परम्परा कहते हैं। कार्य रहे तो कारण होगा। कारण रहे तो कार्य अवश्य रहेगा। इस प्रकार से हेतु और फल, कारण और कार्य को बाँधनेवाला नियम हेतुफल-संतति अथवा नियति कहा जाता है।

३—Transference.

उनके क्षेत्र को अति विस्तृत बना दिया और एक साधारण मनोविज्ञान की नींव डाली जिसमें विचार, भाव एवं आवेग आदि को यथोचित प्रधानता दी गई।

रोगियों के विषयों में विरेचन-प्रक्रिया (कथार्सिस प्रणाली) पर ही अधिक ध्यान देने के कारण डा० फ्रायड का ध्यान भावना आदि की उत्पत्ति पर गया। वे अपने औत्सुक्य को नहीं दबा सके और भावना का अध्ययन प्रत्येक दृष्टिकोण से करने लगे। इस प्रकार उन्हें वासनाओं, सुख, दुःख आदि भावनाओं का मर्म समझना पड़ा। अतः उन्होंने साधारण मनोविज्ञान के विषय से आगे बढ़कर एक अधिमानस शास्त्र[१] का निर्माण किया, जिसमें उन्होंने यह दिखाने की चेष्टा की कि किसी भी मानस-क्रिया का अध्ययन तीन दृष्टिकोणों से हो सकता है—(१) वह क्रिया कहाँ होती है, ज्ञात (चेतन) में अथवा अज्ञात (अचेतन) में ? (२) वह क्यों, किस कारण और किस उद्देश्य से होती है, सुख के लिए अथवा दुःख के लिए, निरोध या किसी अन्य कारण से ? (३) वह क्रिया किस प्रकार से होती है, भाव के परिवर्तित होने से अथवा व्यूह (ग्रन्थि) बन जाने से ? इन्हीं तीन प्रकार की अध्ययन-रीतियों को उन्होंने भौमिक दृष्टिकोण[२], आर्थिक दृष्टिकोण तथा स्पान्दनिक या सञ्चालक दृष्टिकोण कहा। सुख-दुःख आदि की मीमांसा ने उन्हें मानव-जीवन के सभी व्यवहारों को विभक्त करने पर विवश किया। उन्होंने देखा कि मनुष्य सुख भी चाहता है और रक्षित भी होना चाहता है। मनुष्य के जीवन में अस्तित्व और आनन्द की कामना का संघर्ष अथवा साम्य पाया जाता है। इस दृष्टि से डा० फ्रायड ने मानव-चित्त के दो विभाग किये : (१) अहंकार और (२) अज्ञात या इदम्[३]। मनुष्य की रक्षा के लिए जितनी आवश्यक बातें हैं, उन सभी का संपादन अहंकार करना चाहता है। और इदम् (अचेतन) केवल प्राकृत इच्छाओं की तृप्ति के लिए प्रयत्न करता है। इदम् का साम्राज्य आपाततः सुखेच्छा से रञ्जित है अर्थात् अचेतन में सुखतत्त्व का प्राबल्य पाया जाता है। किन्तु अहंकार सुख का संपादन करता हुआ भी कहीं-कहीं, यदि कुछ दुःख के भोगने से मनुष्य की रक्षा हो सकती है, तो सुख तत्त्वाश्रित होकर ही वाह्य संसार की परवा करता है। इससे स्पष्ट है कि वस्तुतत्त्व का उसपर अधिकार है। मनुष्य का जीवन इन्हीं दोनों तत्त्वों के आश्रित होकर आगे बढ़ रहा है। इन तत्त्वों को चलानेवाली शक्ति चैत्र यन्त्र में निसर्गतः समवेत है। वही डा० फ्रायड के अनुसार कामशक्ति[४] है। कामशक्ति के यथार्थ रूप के ज्ञान विना डा० फ्रायड का कोई भी सिद्धान्त अच्छी तरह से समझ में नहीं आ सकता। इसी सहज शक्ति से मानव की सारी क्रियाओं का मूल उसी महाशक्ति में पाई जाती है। उस शक्ति में अनेक उल्लास हैं। मानव का सारा मानस-संसार इस शक्ति से प्रभावित है। विषय-भेद से इस महाशक्ति के दो भेद हैं। उसका अधिकांश व्यक्ति के अहंकार को ही अपना विषय बना लेता है। व्यक्ति

१—Metapsychology.

२—Topagrophical, Economic and Dynamic points of view,

३—Ego and Id.

४—Libido,

अपने-आपको प्रेम करता है, अपने-आपको सर्वश्रेष्ठ समझता है। इस प्रकार की शक्ति के समुद्रेक को फ्रायड ने स्वीय कामशक्ति[1] की संज्ञा दी है। कुछ शक्ति विषयों को रञ्जित करके उनके द्वारा शक्ति को सुख पहुँचाना चाहती है। इसी को विषयगत कामशक्ति[2] की संज्ञा मिली। एक का विषय वाह्य प्रपञ्च में है तो दूसरी स्वयं अपने ही अहंकार को विषय बना लेती है। एक शक्ति वस्तुतत्त्वाधीन होकर काम करती है तो दूसरी सुखतत्त्वाधीन होकर। एक का नियन्ता अहंकार है तो दूसरे का अज्ञात (अचेतन)। वस्तुतत्त्व और सुखतत्त्व का अध्ययन करते समय डा० फ्रायड को एक अन्य तत्त्व का भी पता चला जिसका नाम उन्होंने मृत्युतत्त्व या मुमुक्षा[3] रखा। इस तत्त्व की खोज से डा० फ्रायड ने अपने सभी परिशीलनों के रूप में परिवर्तन ला दिया। उन्हें लगा कि भूख, प्यास, कामेच्छा आदि सभी वासनाएँ उस अतीत अवस्था को लाना चाहती हैं, जो वास्तव में जड़ हैं। उसमें अहङ्कार केवल उस तत्त्व का सेवक है जो वाह्य आधारों से जीव की रक्षा करता हुआ उसे अपने ढङ्ग से मृतावस्था, शान्तावस्था या मोक्ष की ओर उन्मुख करना चाहता है। मिथुन-प्रवृत्ति सभी मित्र विषयों को अपनी मोहनी शक्ति से एक बनाकर उस अखण्ड शान्तावस्था में, जो जड़ पदार्थ की अद्वैतता की द्योतक है, समाहित होना चाहती है। इन्हीं दोनों के सङ्घर्ष से, प्रवृत्ति-निवृत्ति के चक्र से तथा जीवन-मरण के संग्राम से जीवन आगे बढ़ता जाता है। इस संग्राम में व्यक्ति जन्म से लेकर अज्ञात (अचेतन) के हाथ का कठपुतला बना रहता है। जिस ओर उसकी वासनाएँ उसे बहा ले जाती हैं, उसी ओर प्रवृत्त होता है तथा उन्हीं वासनाओं की तृप्ति की खोज में निकल पड़ता है। व्यक्ति का यह अहंकार इसी कार्य को साधने में प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से लगा रहता है। अहङ्कार स्वयं वस्तुतत्त्व की अधिक अपेक्षा रखने के कारण कहीं-कहीं अज्ञात का शक्ति-निरोध करता है। यदि उसे पूर्ण रूपेण अज्ञात-शक्ति-स्रोत को अवरुद्ध करना पड़ा, और यदि वाह्य संसार की अधिक परवा करके अपनी प्रकृति की तृप्ति नहीं करेगा, तो व्यक्ति के अन्दर रहनेवाली अज्ञात काम-शक्ति किसी-न-किसी रूप में अपनेको प्रकटकर निम्नलिखित उक्ति की सार्थकता प्रकट करेगी :—

"बलवानिंद्रियग्रामो विद्वांसमपिकर्षति।"

इन्द्रिय-समूह बलवान है। विद्वान को भी वह अपने साथ घसीटता है।

"प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥"

प्राणिगण प्रकृति के अनुसार कार्यशील है, निग्रह क्या कर सकेगा। उन प्राकृतिक वासनाओं से अभिभूत होकर व्यक्ति रुग्ण हो जायगा।

इस प्रकार से डा० फ्रायड ने एक नवीन मनोविज्ञान की स्थापना की, जिसका नाम 'चित्त-विश्लेषण-शास्त्र' है। इसकी पूर्व स्थिति केवल वातव्याधियों के निवारण

१—Narcissistic Libido.

२—Object Libido.

३—Death Principle.

तक ही सीमित थी, लेकिन अन्त में यह अविस्तृत रूप धारण करने लगा और सारी मानसिक क्रियाओं को समझाने में सहायता पहुँचाने के कारण यह प्रत्येक सामाजिक शास्त्र का अङ्ग बना। उसके मूल सिद्धान्त दो हैं—(१) मनुष्य की वातव्याधियाँ, रोग-लक्षण, भूलचूक, स्वप्न, कला-कौशल आदि सभी का मूल भावना-प्रपञ्च में है। ये सब भावना के परिवर्तन से समझाये जा सकते हैं। (२) भावना का कला-कौशल आदि रूप धारण करना अथवा रोग-लक्षणों में परिवर्तित होना मनुष्य की बलहीनता और अज्ञान आदि पर अवलम्बित नहीं है, प्रत्युत अचेतन के मूल में अवस्थित उसकी निरोध-शक्ति पर निर्भर है।

चित्त-विश्लेषण-शास्त्र का उद्देश्य है—अचेतन को तोड़ना एवं सारी मानसिक क्रियाओं को वस्तुतत्त्व और सुखतत्त्व के यथोचित सामंजस्य से साम्यावस्था में लाकर मनुष्य को प्रसन्न और शान्त बनाना। इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त यह शास्त्र प्रत्येक प्रकार के निरोध को नष्ट कर देने के लिए प्रयत्न करता है। अतः प्रारम्भ में सर्वश्री चारको, बेरनहाईम्, जैने और ब्रयार के सिद्धान्तों के कारण जो अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न हुई, उनकी सहायता से डा० फ्रायड ने 'चित्त-विश्लेषण-शास्त्र' का आविष्कार किया। इस शास्त्र के लिए उन्होंने एक प्रक्रिया ढूँढ़ निकाली, जिसके लिए उन्हें प्रस्वापन (सम्मोहन), निर्मली आदि प्रक्रियाओं को तिलांजलि देकर एक स्वतन्त्र प्रक्रिया प्रकट करनी पड़ी। इस प्रकार क्रान्तदर्शी चित्त-विश्लेषक डा० फ्रायड ने इस शास्त्र की परिधि को विस्तृत करते-करते उसे निदान के क्षेत्र से उठाकर सामान्य मनोविज्ञान का रूप दे दिया। वे यहीं तक नहीं रुके, प्रत्युत उन्होंने संसार की सारी मानसिक प्रगतियों के मर्मों पर सर्वतोमुखी प्रकाश डालने का महान् प्रयत्न किया। इस चित्त-विश्लेषण-शास्त्र ने उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के चिन्तन को एक विशिष्ट गति दी है। इसके प्रभाव और उसके जन्मदाता की कीर्ति चिरस्थायी रहेगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। चित्त-विश्लेषण मानसिक जीवन में वही काम करता है, जो शारीरिक जीवन में शस्त्र-चिकित्सा से होता है। यह व्यथित व्यक्ति के चैत्त जीवन में साम्य एवं भावना-सन्तुलन स्थापित कर उसके जीवन को रसमय बनाता है और उसे 'प्रसन्नात्मेन्द्रियमन' बनाता है। इस शास्त्र की व्याप्ति धीरे-धीरे किन्तु निरन्तर सर्वत्र हो रही है। चित्त-विश्लेषण-शास्त्र के इस क्षेत्र में जो काम कर रहे हैं, उनके उत्साह, साहस, निर्भीकता और सत्यान्वेषण की उत्कण्ठा और श्रद्धा आदि व्यर्थ नहीं जा सकती। इस चिकित्सा-शास्त्र के विरोधियों की कमी नहीं है। कुछ लोग परिहास भी करते हैं, किन्तु उन्हें ज्ञात नहीं कि इसने अनगिनत व्यक्तियों का कल्याण किया है। वास्तव में, यह शास्त्र आधुनिक युग की एक विशिष्ट देन है। क्रान्तदर्शी डा० फ्रायड सचमुच, एक ऋषि थे, जिन्होंने मानव-जीवन की चिन्तन-प्रणाली में एक महान् परिवर्तन ला दिया और मानस-रोग-निवारण को अभूतपूर्व गति दी।

पहला अध्याय

भौतिक और मानसिक जगत्

'सर्वं एव जगत्यस्मिन्द्विशरीराः शरीरिणः ।
एकं मनः शरीरं तु चिप्रकारि सदाचलम् ॥
अकिंचित्करमन्यत्तु शरीरं मांसनिर्मितम् ।'

—योगवासिष्ठ : उत्पत्ति सर्ग १२, प्रकरण ७, श्लोक १०

संसार में सदा से द्वन्द्व-भावना रही है। मन-शरीर, आत्मा-प्रकृति, शक्ति-जड आदि द्वन्द्वसूचक शब्द नित्य ही सुनाई पड़ते हैं। किन्तु वास्तव में, मानसिक और भौतिक जगत् की सीमा कहाँ है, यह विचारणीय है। साधारणतया ऐसा मालूम होता है कि सर्वप्रथम कोई संवेदना होती है, जिससे ज्ञान होता है, बाद में इच्छा और क्रिया उद्भूत होती है। मान लीजिए, हम पुष्प देख रहे हैं। प्रथमतः उस पुष्प से किरण-लहरियाँ उद्दीपक के रूप में उठकर नयनेन्द्रिय में पहुँचीं तो हमें संवेदना हुई। तब हमें पुष्प का ज्ञान हुआ और सुगन्ध की प्रतीति हुई। अब इच्छा हुई कि पुष्प को चुन लूँ। हम उठ-बैठे और पुष्प बटोरने लगे। ऐसी ही अनेक क्रियाएँ नित्य होती रहती हैं। ज्ञान के बाद इच्छा तथा क्रियाएँ और क्रिया के बाद पुनः ज्ञान तथा इच्छा आदि मानसिक व्यापार चलते रहते हैं। शरीर के विना ज्ञान नहीं हो सकता। शरीर से ही, इन्द्रियों से ही उत्तेजनाएँ भीतर, अर्थात् मस्तिष्क के केन्द्रों में प्रवेश करती हैं और हमें ज्ञान होता है। तब मन का अस्तित्व कहाँ है? मालूम होता है कि व्यर्थ ही शास्त्रकारों ने मन की कल्पना की है। स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा ही ज्ञान होता है। किन्तु वास्तव में, व्यक्ति के जीवन के दो भेद करना आधारहीन नहीं है। लोगों की धारणा का भी आलम्बन है। जीवन को मानसिक और शारीरिक भेद से विभक्त करने के लिए पर्याप्त कारण हैं। भेद इसलिए नहीं मालूम पड़ता कि मानसिक वृत्तियाँ और शारीरिक वृत्तियाँ परस्पर इतनी सम्बद्ध हैं कि स्थूल दृष्टि से उनका विवेचन करना दुष्कर है। केवल अज्ञानी ही मानसिक और शारीरिक भेद नहीं मानते हों, ऐसी बात नहीं है। अनेक शास्त्रविद् भी इस प्रकार की धारणा में उनके साथ हैं। आरम्भ में ही उद्धृत योगवासिष्ठ के कथन से हमें शारीरिक और मानसिक जगत् का विभाग स्पष्ट मालूम होता है। उसमें कहा गया है कि शरीरी के दो शरीर होते हैं—एक मनोमय और दूसरा मांस-निर्मित। उपनिषदों में भी मनोमय और अन्नमय कोशों की कल्पना की गई है। पश्चिम के अनेक शास्त्रज्ञ भी मन और शरीर ('माइण्ड' और 'बॉडी') अलग-अलग मानते हैं। ऐसा मानने के लिए क्या आधार है, इसके लिए कुछ प्रमाण तो अवश्य ही होगा? इस प्रश्न का उत्तर भी योगवासिष्ठ के उपर्युक्त श्लोक में है। शरीर मांस-निर्मित है। मांस स्थूल है, प्रत्यक्ष-गोचर है, उसका स्पर्श किया जा सकता है, उसे देखा जा सकता है।

शरीर का उपचय और अपचय, वृद्धि और ह्रास हम चर्म-चक्षु से देख सकते हैं। लेकिन मन या मानसिक वृत्तियों का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें नहीं होता। मनोवृत्तियाँ ज्ञान, इच्छा, संकल्प, अध्यवसाय आदि हैं। व्यक्ति और विषय के सन्निकर्ष से, सम्बन्ध से, विषय का ज्ञान, तद्विषयक इच्छा या अनिच्छा और उसे लेने की या छोड़ने की किसी प्रकार की क्रिया अथवा क्रिया करने की इच्छा, ये सभी मनोवृत्तियाँ अथवा चित्तवृत्तियाँ कही जाती हैं। उनमें एक प्रकार की शक्ति या चेतना का अनुभव होता है। इच्छा आदि का जो अनुभव हमें होता है, वह स्थूल नहीं है। इच्छा को कोई देख नहीं सकता, कोई उसे छू नहीं सकता, केवल उसके अस्तित्व का अनुमान ही किया जाता है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति ने कोई काम किया। यह काम उसने कैसे किया? उसके और उस विषय के बीच सन्निकर्ष हुआ, अथवा यों कहिए कि विषय का प्रकाश (प्रकाश-लहरियाँ) उसकी आँखों पर पड़ा। अक्षपटल (रेटीना) पर उसका चित्र प्रतिबिम्बित हुआ। इतना बाह्य संसार का व्यक्ति भी जानता है और वह देखता है कि व्यक्ति उसे लेने के लिए हाथ बढ़ाता है। इससे वह अनुमान करता है कि विषय का उसे ज्ञान हुआ होगा और उसे लेने के लिए किसी अन्तरङ्ग शक्ति ने उसको विवश किया होगा, अर्थात् व्यक्ति को उस विषय को लेने की इच्छा हुई होगी। इस प्रकार से शरीर में और इच्छा में एक विशेष प्रकार का भेद अथवा गुण-वैषम्य दृष्टिगोचर होता है। एक स्थूल और क्रियाहीन दिखाई देता है और दूसरा शक्तिशाली एवं वेगवान् मालूम होता है। इसी स्थूल-भेद से शरीर और मन का विभिन्न ज्ञान होता है।

अब देखना चाहिए कि यह भेद मानने के लिए कारण है कि नहीं। सम्भव है—इच्छा भी शारीरिक हो। 'शारीरिक' शब्द का अर्थ क्या है? 'शारीरिक' शब्द से ही मांस-पेशी आदि का ज्ञान होता है। 'मेरे शरीर को चोट लगी', ऐसा कहने से लोग समझ लेते हैं कि हाथ, पैर आदि किसी अंग को चोट लगी। शरीर कई अंगों और प्रत्यंगों का समवाय है। शरीर अवयवी है, उसके अनेक अवयव हैं। उसमें चेतना की कोई भावना ही नहीं है। चेतना या शक्ति शरीर का अंग नहीं है। यदि कोई उसे भी शारीरिक अवयव सिद्ध करे तो मन को भी शारीरिक मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। मनुष्य केवल चेतन नहीं है और न वह केवल शरीर ही है। वह शक्ति और शरीर, चेतन और जड़ का समवेत रूप है। ऐसा होने पर भी यह प्रश्न रह जाता है कि इन दोनों, अर्थात् चेतना और शरीर में परस्पर क्या सम्बन्ध है?

इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर में कुछ लोगों ने कहा है कि चेतना भी शारीरिक है; क्योंकि जिस प्रकार यकृत् और प्लीहा से रक्त, पित्त आदि निकलते हैं, उसी प्रकार मस्तिष्क से विचार, इच्छा आदि निकलते हैं। मस्तिष्क विचार का अवयवी है; उसमें विचार रहता है और उसी में से वह निकलता भी है। सामान्यतः लोग कहा भी करते हैं कि अमुक बात मेरे 'मस्तिष्क' में नहीं घुसती। प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है कि विषय के साथ सम्बन्ध होने पर व्यक्ति के मस्तिष्क के पदार्थों में अथवा द्रव्यों में कुछ अन्तर होता है। वहाँ का धूसर द्रव्य रूप-रंग बदलता है और व्यक्ति को ज्ञान हो जाता है। यदि मस्तिष्क के विशेष केन्द्र को हम निकाल दें तो विशेष प्रकार के विचार रुक ही जाते हैं अथवा वे होते ही नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि चेतना अथवा

विचार भी शारीरिक ही हैं। अतः फिर प्रश्न ने 'घूम-फिरकर वही रूप धारण किया कि 'शारीरिक' शब्द का क्या अर्थ है? शारीरिक द्रव्यों का उदाहरण ही इस 'शरीरवाद' का विरोध करता है। पित्त, रक्त आदि द्रव्य हैं। यदि एक स्थल पर उन्हें रखें तो वे वहीं रह जाते हैं। उनका वजन हो सकता है। शक्ति का प्रयोग करके उन्हें वहाँ ला सकते हैं। उनमें कौन-कौन-से पदार्थ हैं, उन्हें हम अलग-अलग देख सकते हैं? किन्तु ठीक इसी दृष्टिकोण से यदि हम विचार करें तो स्पष्ट होगा कि विचार मस्तिष्क से निकलते दिखाई नहीं देते। उनमें क्या-क्या द्रव्य हैं, यह दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः विचार इत्यादि को हम शारीरिक नहीं कह सकते। किन्तु यह कहना कि मस्तिष्क में विचार होते हैं, क्योंकि प्रत्येक संवेदना के अनन्तर उसके द्रव्यों में अन्तर अथवा परिवर्त्तन पड़ जाता है, युक्तिसंगत नहीं जँचता। शरीर-रचना एक बात है और क्रिया दूसरी बात। रचना और क्रिया में सम्बन्ध होने से क्रिया-रचना नहीं हो सकती और न रचना क्रिया हो सकती है। इससे विदित होता है कि जिस भेद को हमने आरम्भ में स्थूल-भेद कहा था, वही वास्तविक भेद भी है।

मन और शरीर में गहरा सम्बन्ध है। शारीरिक क्रियाओं के अनन्तर मनोवृत्तियाँ होती हैं और मनोवृत्तियों के बाद शारीरिक कार्य। मनोयन्त्र के चालन में वेदना (संवेदना = सेंसेशन) कारण है—'मनोयन्त्रस्य चलने वेदनां कारणं विदुः'। संविद् से मन में ज्ञान होता है। इन्द्रियाँ केवल साधन हैं और उनके मार्ग से संवित्प्रवाह प्रवेश करता है, जिसके कारण मनोवृत्तियाँ होती हैं। इस प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध मन और शरीर में है, फिर भी मन का बल अधिक मालूम होता है। व्यक्ति का शरीर मनोगत वृत्तियों और वेगों से इधर-उधर चलाया जाता है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए मानसिक स्वास्थ्य अत्यावश्यक है। एक प्रकार से मन ही शरीर का नियन्ता है। जीवित शरीर और शव में क्या भेद है? दोनों शरीर हैं; किन्तु एक में इच्छानुकूल कार्य होते हैं, दूसरे में नहीं। इसी कार्यकरण चेतना का अथवा संकल्प आदि का काम है। मन जैसा सोचता है, शरीर वैसा ही करता है। इस विषय में उपनिषद् की ऋषि-वाणी भी सुनिए :—

'यदा वे मनुतेऽथ विजानाति नाम त्वा विजानाति मत्वैव विजानाति' 'स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते, कर्माणि कुर्वीतेत्यथ कुरुते। पुत्रांश्च पशूँश्चेच्छेयेत्यथेच्छत। इमं च लोकमसुंचेच्छेयेत्ययेच्छते। मनोह्यात्मा मनोहि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपासत्वेति॥'[१]

(मन का शरीर पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जिसके जैसे विचार होते हैं, वह वैसा ही बन जाता है। 'ब्रह्मविद्ब्रह्मेवभवति', ब्रह्मविद् ब्रह्म ही हो जाता है। मानसिक शक्तियों से हम शरीर को बदल सकते हैं। कुछ वर्ष पूर्व एक समाचार प्रकाशित हुआ था। इटली राष्ट्र की पताका फहराई जा रही थी। चारों ओर जोश फैला हुआ था। बैण्ड बज रहा था। उस समय वहाँ एक गर्भवती नारी भी खड़ी थी। उसने जोश में

१—छान्दोग्योपनिषद्, ७.१७; ७.१-३।

आकर कहा—'मेरी कोख से जो शिशु उत्पन्न होगा, उसकी दाहिनी भुजा पर इस पताका का चिह्न रहेगा।' कुछ दिन बाद जब शिशु का जन्म हुआ, तब उसकी दाहिनी भुजा पर ठीक उसी पताका का चित्र, जन्म से ही, शरीर की बनावट के साथ ही बना हुआ देखा गया। इस प्रकार की अनेक घटनाओं की सूचनाएँ यदाकदा सुनने में आती हैं। इसी से लोग कहते हैं कि गर्भिणी की दोहद पूरी करनी चाहिए; क्योंकि उसके विचारों का प्रभाव शिशु पर पड़ता है।[१] संकल्प से शरीर में भी परिवर्त्तन होता है। भारतीय प्रारम्भ से ही मानसिक और भौतिक जगत् को विभिन्न मानते आये हैं। पश्चिम में अभी हाल तक बहुत-से लोग मन को शरीर से पृथक् नहीं मानते थे।[२] आधार-आधेय की भावना को उन्होंने एक ही मान लिया था; अतः उन्हें भ्रम हुआ कि मन और उसकी वृत्तियाँ शरीर और उसकी क्रियाओं से भिन्न नहीं हैं। इसका फल यह हुआ कि पाश्चात्य विद्वान् सभी चैत्त वृत्तियों को शारीरिक दृष्टि से समझाने का प्रयास करते रहे हैं। इस प्रकार के विचार से ही पश्चिम में प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का उद्भव हुआ। इसके उद्भावक थे—लिपिजिक मनोविज्ञान-प्रयोगशाला के संस्थापक विल्हेम वुण्ट। इनके अनुयायी सभी चैत्त वृत्तियों को शारीरिक कहते आये हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक चित्तवृत्ति के लिए मेरुदण्ड और मस्तिष्क की नाड़ियों का अनुसन्धान किया जाने लगा। अतः एक विचार-प्रकार (concept) अथवा धारणा का आविष्कार हुआ। विचार-प्रकार का काम अलग-अलग घटनाओं के मर्म समझाना

१—'The conception of a material impression rests on the belief that a powerful mental influence working on the mother's mind may produce an impression either general or definite on the child she is carrying...... p. 218.

'It would seem, on the whole, that while the influence of maternal impressions in producing definite effects on the child within the womle, has by no means been positively demonstrated, we are not entitled to regret it with any positive assurance. But how the mother's psychic disposition can, apart from heridity affect specifically the physical confirmation or even the physic disposition of the child within her womb must remain for the present insoluble mystery even if we feed disposed to conclude that in some cases such actions seem to be indicated.'

—Havelock Ellis, Studies in the Psychology of sex, Vol. V. page 225.

मानसिक भावना से शारीरिक क्रियाओं में भी आमूल परिवर्त्तन का वर्णन अध्यापक बनज्युर (Dr. Bonjour of Lavsanne) ने किया है। उन्होंने एक स्त्री के प्रसवकाल में तीन सप्ताह पहले ही ऐसा प्रभाव डाल दिया था। Quoted in C. Bandouin; Suggestion and Auto-suggestion; George Allen and Unwin, Lord; 1924; pp. 21-22,

२—भारतीय दर्शन में भी इसी प्रकार एक शरीरवाद प्रचलित था जो चार्वाकवाद के नाम से विख्यात है। इस मत का कथन है कि हाथी के किण्व से जिस प्रकार मद उत्पन्न होता है, उसी प्रकार महाभूतों के मिलाप से चैतन्य उत्पन्न होता है:—'चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यः चैतन्यमुपजायते। किण्वेभ्यो मदशक्तिवत्॥' 'सर्वदर्शन-संग्रह' (चार्वाक-दर्शन)।

ही है। उदाहरण के लिए अणु को लीजिये। अणु को न किसी ने देखा है, और न किसी ने उसे छुआ है। सचमुच अणु का अस्तित्व है कि नहीं, यह हम नहीं जानते। लेकिन 'डाल्टन' ने अणुओं के विषय में एक सिद्धान्त निकाला। उस सिद्धान्त का उद्देश्य रासायनिक सम्मिश्रणों को समझाना है। जल में उद्जन (हाइड्रोजन) और ओषजन (आक्सीजन) दो वाष्प रहते हैं। वे दोनों रासायनिक पद्धति से सम्मिश्रित हैं। लेकिन दोनों किन नियमों के अनुसार मिल गये अथवा एक के कितने भाग दूसरे के कितने भागों के साथ मिले, यह नहीं कहा जा सकता था। ऐसी घटनाओं को समझाने के लिए डाल्टन ने अणुवाद का प्रतिपादन किया। विचार-प्रकार और घटनाओं में यही भेद है। घटनाओं को तो सभी जानते हैं, किन्तु किस नियम के प्रभाव से वे घटनाएँ उसी प्रकार होती हैं, यह सबलोग नहीं बतला सकते। ऐसी घटनाओं को समझाने के लिए और भविष्य में होनेवाली घटनाओं का पूर्व-कथन कर सकने के लिए शास्त्रज्ञ विशेष विचार-प्रकारों का आश्रय लेता है।

इसी प्रकार ज्ञान, इच्छा आदि को समझाने के लिए 'उंएट' के अनुयायियों ने शारीरिक विचार-प्रकार (Physiological concept) का आश्रय लिया। उनका सारा ध्यान शारीरिक परिवर्तनों पर ही था। विचार, ज्ञान, इच्छा, क्रोध आदि के पूर्व और पश्चात् मस्तिष्क में कौन-कौन-से विकार तथा कौन-कौन-से परिवर्तन होते हैं, यही उनके अध्ययन का उद्देश्य था। चैतन्य के फल जो विचार आदि हैं, उनसे उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। वे यह जानने का कम प्रयत्न करते कि क्रोध है क्या? वे यही देखना चाहते हैं कि क्रोध के पूर्व और पश्चात् मस्तिष्क में क्या परिवर्तन होते हैं। उनका दूसरा उद्देश्य उन परिवर्तनों को समझाने के लिए नियम बनाना है। ऐसे अध्ययन के फलस्वरूप मन के विषय में अनेक वाद प्रचलित हुए। उनमें मुख्य तीन हैं—(१) स्फोटवाद (Automism), (२) अनुबन्ध अथवा साहचर्य-सिद्धान्त (Association of ideas) और (३) केन्द्रवाद[१]। इनका हम संक्षेप में वर्णन करते हैं।

(१) स्फोटवादः—इसके आचार्य कहते हैं कि मस्तिष्क के अनेक भाग हैं। उन पर जब बाहर से कोई संवेदना प्रहार करती है, तब उसके अणु अपने-आप फूट निकलते हैं और उससे शक्ति चतुर्दिक् फैलकर अपने अनुकूल अणुओं को मिलाकर एक रास्ता बना लेती है। इसी के कारण ज्ञान आदि की उत्पत्ति होती है।

१—चार्लस फॉक्स ने अपने शिक्षा-मनोविज्ञान (Edueational Psychology) में और कुछ वादों का नाम दिया है। उनमें प्रधान Faculty theory और Gestalt theory हैं। Gestalt theory यही है कि 'that what we perceive cannot be accounted for by a union of perceptual element. P. 16.

इसके विषय में और भी जानने की जिन्हें इच्छा है, वे Charles Fox, 'The Educational Psychology' देखें। मनोविज्ञान के आजतक के क्रम-विकास के ज्ञान के लिए Murphy : Historical Introduction to Modern Psychology; Kegam Paul Lord तथा Wood worth की 'School of Psychology' द्रष्टव्य हैं।

(२) अनुबन्ध अथवा साहचर्य का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक अरिस्टॉटल थे। उनका कहना था कि स्मरण करते समय हम अनेक पूर्व अनुभवों को जगाते रहते हैं। भावना-साहचर्य के तीन प्रमुख तथा कुछ गौण नियम हैं : सन्निधि, सादृश्य, विरोध प्रमुख नियम हैं, जो हमारी पुनश्चेतना से अटूट सम्बन्ध रखते हैं। हमारा मन सदैव दो या दो से अधिक वस्तुओं को अथवा प्रतिरूपों एवं भावना-समूहों को एक स्थान पर स्थापित करने में सतत प्रयासशील रहता है जिसमें एक के स्मरण से दूसरा अपनेआप जग जाता है, विद्युत्-चमक के उपरान्त हमें गर्जन का स्मरण हो ही जाता है (सन्निधि), दो समान भावनाओं में एक के स्मरण से दूसरा जगता है, जैसे गाँधी जी के स्मरण से बुद्ध भगवान् का स्मरण (सादृश्य) तथा रात के स्मरण से दिन की भावना का जागरण (विरोध) आदि। हम अपनी सारी अनुभूतियों एवं अभिज्ञताओं को इसी प्रकार शृङ्खलाबद्ध करने में लगे रहते हैं। 'डेकार्टे' ने स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कहा है—जिस प्रकार कागज को एक बार मोड़ने के बाद पुनः उसी तरह से मोड़ने में श्रम नहीं होता, उसी प्रकार मस्तिष्क में चिह्न पड़ जाने के कारण संवेदना एक बार जिस रास्ते से बहती है, उसी रास्ते से पुनः पुनः बहने लगती है। इससे याद करने में सरलता होती है[१]। मान लीजिये, एक व्यक्ति बार-बार अपनी माता को देखता है। ऐसा करने से उसके मस्तिष्क में एक प्रकार का रास्ता बन जाता है, माता का चित्र मस्तिष्क में रह जाता है। वह जब-जब माता की किसी चीज को देखता है, तब-तब वह रास्ता मानों जाग्रत हो जाता है और उसे माता का स्मरण हो आता है। यहाँ हमें कोई मानसिक शक्ति अथवा इच्छा मानने की आवश्यकता नहीं है। घटनाएँ एक के पीछे एक होती हैं। इसी क्रम से संवेदनाएँ, भावनाएँ आदि का साहचर्य स्थापित होता रहता है। एक के स्मरण से अन्य सन्निकट, समान अथवा विरोधी भावनाओं का स्मरण हठात् हो जाता है।[२]

(३) केन्द्र-सिद्धान्त—इसके समर्थकों का कथन है कि मस्तिष्क में अलग-अलग विचारों के अलग-अलग केन्द्र होते हैं। यदि उस केन्द्र के द्रव्य को हटा दिया जाय तो इस प्रकार के विचार उठ ही नहीं सकते।

१—The vestigs in the brain render it fit to move the soul in the same fashion as it was moved before, and thus to make it remember something even as the folds which we in a piece of paper or a cloth make it more fit to be folded as it was before. Charles Fox : Educational Psychology—Chapter I. p. 7.

२—'Thus Bain, one of the chief exponents, stated the law of Association contiguity thus:—

'Contiguity joins together things (he meant sensations, images. etc.) that occur together, or that are, by any circumstance, presented to the mind at the same time'.

Charles Fox : Educational Psychology, chapt. I. p. 11.

इस रीति से और भी अनेक सिद्धान्त प्रकट हुए। लेकिन इनसे सभी चैत वृत्तियों के हेतु तथा उनके भीतर कौन-कौन नियम काम कर रहे हैं, आदि प्रश्न हल नहीं हुए। इन लोगों ने स्वप्न आदि चित्त वृत्तियों का मर्म नहीं समझाया। उन्होंने मानव-जीवन की अनेक बातों पर किसी प्रकार का प्रकाश नहीं डाला। जो मनोवृत्तियाँ कही जाती हैं, उनके मूल में कौन-से नियम काम करते हैं, चाहे वे शारीरिक नियम ही क्यों न हों, यह स्पष्ट रूप से नहीं बताया गया। मानसिक व्याधियों की कारणभूत मांस-पेशियाँ उन्हें मिली ही नहीं। फलतः उन्होंने जिस कार्य को उठाया, उसे अधूरा ही छोड़ दिया। उनकी स्थिति उस भ्रूणविज्ञानवेत्ता के समान हुई जो भ्रूण के सभी अंशों पर, सभी बातों पर, प्रकाश नहीं डाल सकता। इसके उदाहरणस्वरूप हम 'चारको' को ही ले सकते हैं। हिस्टिरिया के विषय में 'चारको' के प्रयत्नों से बहुत-सी बातें मालूम हुईं; किन्तु वे भी उसके शारीरिक कारण खोजने में ही तत्पर थे, अतः वे मूर्च्छापीड़ित (हिस्टीरिया के) थोड़े ही रोगी अच्छा कर सके। इसी से मूर्च्छा, उन्माद, अपस्मार तथा अन्य मानसिक व्याधियों का उपशमन शारीरिक नियमों के अनुसार नहीं हो सका। फलतः प्रायोगिक मनोविज्ञान ने विज्ञान के मूल तत्त्वों को ही पूरा नहीं किया! विज्ञान का कार्य त्रिविध है। वह घटनाओं का परिशीलन करता है, उन घटनाओं को अलग-अलग समूहों में विभक्त करता है और इस बात का प्रयत्न करता है कि इस प्रकार के सिद्धान्त अथवा सूत्रों का प्रतिपादन किया जाय जिनके अनुसार वे सभी घटनासमूह समझाये जा सकते हैं तथा जिनके आधार पर भावी घटनाओं के सम्बन्ध में पूर्व कथन किया जा सके। इस प्रकार प्रायोगिक मनोविज्ञान असफल सिद्ध हुआ। अतः शारीरिक विचार-प्रकार ठीक नहीं है। जब चेतन शरीर से भिन्न है तब शरीरवादी मनोवैज्ञानिक किस प्रकार चैतवृत्तियों का मर्म स्पष्ट कर सकते हैं। इस विचार-प्रकार की सत्यता का परिशीलन करके 'मरीना' नामक शास्त्रज्ञ ने शरीरवाद की अनुपयोगिता का अनुभव किया।[१] मरीना ने एक प्रकार के बन्दरों के विषय में प्रयोग किया। लोग कहते हैं कि आँख पर धूलि डाले तो वह आप ही बन्द हो जायगी। आँख बचाने के लिए पलक हैं। भय के सामने, प्रहार के सामने उसकी रक्षा करने के लिए पलकें उसको अपने भीतर छिपा देती हैं। इसमें विचार का स्थान नहीं है। कोई हमारी आँख पर मुक्का मारे तो हम उस परिस्थिति का विचार करके, पलक बन्द करना अच्छा है अथवा बुरा, ऐसा सोचकर आँखें बन्द नहीं करते, प्रत्युत् पलकें अपने आप, विना किसी व्यक्ति की इच्छा की परवाह किये, बन्द हो जाती हैं। ऐसी क्रियाओं को शरीरवादी सहज क्रियाएँ[२] कहते हैं। इन्हें वे अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए अटूट प्रमाण मानते हैं, क्योंकि इनका चेतना अथवा विचार से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। इसीसे वे अन्य क्रियाओं को भी मन का अस्तित्व माने विना ही समझाने का प्रयत्न करते हैं। मरीना ने इसी की सचाई का परिशीलन करना चाहा। उनकी इच्छा यह जानने की हुई कि ये सहज

१—Charles Fox : Educational Psychology, chap. v. p. 123.
२—Reflex action.

क्रियाएँ विचार के बिना होती हैं या नहीं, वे परम्परा से संक्रान्त हैं अथवा नहीं। यदि वे परम्परा से संक्रान्त हैं तो तत्सम्बन्धी इन्द्रिय की, उदाहरणार्थ आँख की माँसपेशियों में परिवर्तन लाने से उस प्रकार की क्रिया नहीं होनी चाहिए; क्योंकि मांसपेशियों की जो संक्रान्त रचना है, उसमें परिवर्तन हो गया। मरीना ने एक बन्दर की आँख के कुछ भागों में अन्तर कर दिया। जो मांसपेशी आँख को बाहर की ओर घुमाने में काम देती है, उसे निकालकर दूसरे स्थान पर रख दिया और उस पेशी को जो, वास्तव में, आँख को ऊपर की ओर घुमाने में काम देनेवाली थी, प्रथम पेशी के स्थान में कर दिया। घाव भरने के बाद उस बन्दर को अपनी आँख सिर्फ ऊपर की ओर ही घुमानी चाहिए थी, पर ऐसा नहीं हुआ; वह उसे पूर्ववत् ही चारों ओर घुमाता रहा। इस उदाहरण से मरीना ने सिद्ध किया कि कोई शारीरिक अनुबन्ध-मार्ग रूढ़ नहीं है। इस प्रकार अनुबन्ध-सिद्धान्त की शारीरिक नींव पर घोर आघात पहुँचा। फिर, यद्यपि यह बात समझ में आ सकती है कि यदि पहले मस्तिष्क में कोई मार्ग बना हो तो उसी से दूसरी बार क्रिया हो सकती है, लेकिन प्रश्न यह है कि पहले वह रास्ता किसी चेतन शक्ति के बिना बना कैसे? दूसरी बात यह है कि जेम्स के अभ्यास-सिद्धान्त (Theory of Habit) के अनुसार कागज को बार-बार जिस रीति से मोड़ते हैं, ठीक उसी रीति से कागज आप-ही-आप अपने को नहीं मोड़ते। उसे उस रीति से मोड़ने के लिए बाहर का चेतन कर्त्ता चाहिए। यदि ऐसा न होता तो, शाम को अपने कपड़ों को छोड़ रखने के बाद सबेरे किसी व्यक्ति को वे कपड़े पुनः ठीक-ठीक तह की हुई स्थिति में मिलने चाहिए। इस प्रकार के शारीरिक विचार-प्रकार के ठीक विपरीत एक मानसिक विचार-प्रकार[१] है। इसका अनुसरण करनेवालों का यह विश्वास है कि मनोवृत्तियों का अध्ययन स्वतन्त्र रूप से किया जा सकता है। मस्तिष्क में क्या परिवर्तन होते हैं, इसे जानने की कोई आवश्यकता नहीं। शारीरिक विचार-प्रकार के अनुसार चित्तवृत्तियों को मस्तिष्क के परिवर्तनों की अभिव्यक्ति मानना पड़ता है, किन्तु मानसिक विचार-प्रकार उन्हें स्वतन्त्र घटनाएँ समझता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण ग्रहण करने से वह चैत वृत्तियों के उस वैचित्र्य को समझ सका जो अब तक या तो छोड़ दिया जाता था या अस्पष्ट और अपूर्ण रूप से समझाया जाता था। इस विचार-प्रकार की सहायता से अनेक मानसिक व्याधियों का यथार्थ निदान किया जा सका। रोगग्रस्त कई स्त्री-पुरुष जो जीवन में अनुपयुक्त समझे जाते थे, पुनः एक बार जीवन के रस का अनुभव करने लगे। इस विचार-प्रकार के ग्रहण से बिना विशेष ऊहापोह के चित्तवृत्तियों की क्रियाएँ समझ में आने लगती हैं।

मन अथवा चित्त क्या है? अब इस पर विचार करना चाहिए। अनेक शास्त्रज्ञ प्रारम्भ से ही निर्वचन के पीछे पड़ जाते हैं। वे घटनाओं को उनकी सङ्गति में उतनी सावधानी से नहीं देखते, जितने ध्यान से नियमों और निर्वचनों को देखते हैं। वे समझते हैं कि निर्वचन में किसी प्रकार का दोष नहीं रहे तो ठीक है। किन्तु सच्चे

१—Psychological concept.

विद्वान् निर्वचन की उतनी परवाह नहीं करते, जितनी घटनाओं की। चित्त का कोई ठीक-ठीक सार्वजनीन निर्वचन नहीं है ,लेकिन उसका स्वरूप स्थूलतः बताया जा सकता है। पश्चिम के लोग जिसे सामान्यतः 'माइण्ड' कहते हैं, उसी को भारतीय 'मन' कहते हैं। 'माइण्ड' कहने से पश्चिमी विद्वान् तीन वृत्तियाँ समझ लेते हैं—ज्ञान, भाव और सङ्कल्प (कागनीशन, एफेक्शन और वालीशन=Cognition, affection, and volition)। पहले चित्तवृत्तियों के अन्तर्गत भाव नहीं गिना जाता था। अरिस्टॉटल से लेकर रूसो तक सभी चित्त की दो ही वृत्तियाँ मानते थे—ज्ञान और सङ्कल्प। सर्वप्रथम रूसो ने पश्चिम के लोगों के सामने भाव का प्राधान्य निरूपित किया। उनके बाद काण्ट ने उसे अपनाकर अपने ग्रन्थों में 'ज्ञान-भाव-सङ्कल्प' इस प्रकार से त्रिविध मनोवृत्तियों का उल्लेख किया। उस समय से ज्ञान-भाव-सङ्कल्प ही चित्तवृत्तियाँ कही जा रही हैं।[१] इस त्रिगुट में कोई-कोई थोड़ा अन्तर कर देते हैं। कोई-कोई भाव के स्थन पर भाव एवं आवेग का और सङ्कल्प के स्थान पर क्रिया का परिगणन करते हैं :—

भारतीयों ने इन्हें ज्ञान, इच्छा, क्रिया कहा है। कहीं-कहीं क्रिया को कृति भी कहते हैं। पुराने ग्रन्थों में ज्ञान-नामक त्रिगति ही मन की वृत्तियों अर्थात् गतियों के इच्छा-क्रिया रूप में स्वीकृत हुई है:—

प्रथमा रेखा सा क्रिया शक्तिः, 'द्वितीया रेखा सा इच्छा शक्तिः' तृतीया रेखा सा ज्ञान शक्तिः—कलाग्निरुद्रोपनिषद्।

'स्थिरं चरं च यद्विश्वं सृजतीति विनिश्चयः।
ज्ञानक्रियाचिकीर्षाभिस्तिसृभिः स्वात्मशक्तिभिः।
इच्छाशक्तिर्महेशस्य नित्या कार्यनियामिका।
ज्ञानशक्तिस्तु तत्कार्यं कारणं करणं तथा॥
प्रयोजनं च तत्त्वेन बुद्धिरूपाऽध्यवस्यति।
यथेप्सितं क्रियाशक्तिर्यथाऽध्यवसितं जगत्॥
कल्पयत्यखिलं कार्यं क्षणात्संकल्परूपिणी।
—शिवपुराण, वायुसंहिता, उत्तर खण्ड।

ज्ञानेच्छा क्रियाणां व्यष्टीनां महासरस्वती-महाकाली-महालक्ष्मीरिति नामांतराणि—गुप्तवती टीका—दुर्गा सप्तशती।

१—Very different names have been proposed for the three: intellect, feeling, volition; thought, emotion, conation; will, feeling, intelligence, thinking, feeling, willing; imagination, will, activity; cognition, affection, conation; presentation, attention, feeling; intellection, emotion, will; wisdom, will and love, will, wisdom, activity; will, wisdom, power, reception, affection, action; and so on.' Bhagwan Das, 'The Science of Religion.' p. 31,

इस विषय में पश्चिमी और पूर्वी लोगों के मतभेद और उसके समन्वय के लिए Dr. Bhagwan Das, 'The Science of the emotions' के chap III (A) देखना चाहिए।

'जानाति, इच्छति, यतते; यद्ध्यायति तदिच्छति, यदिच्छति तत्करोति, यत्करोति तद्भवति ।'[१]

प्रथम रेखा क्रियाशक्ति है, द्वितीय इच्छाशक्ति और तृतीय रेखा ज्ञानशक्ति है। ज्ञान, क्रिया और सृष्टी करने की इच्छा, इस प्रकार की अपनी तीन शक्तियों से ब्रह्मा चराचर सृष्टि का सृजन करता है। महेश की इच्छाशक्ति नित्य कार्यनियामिका है। हेतुफल-सन्तति का नियमन करनेवाली है। ज्ञानशक्ति उसका कार्य है, करण भी और करण भी। ज्ञानरूपा (बुद्धिरूपा) जो शक्ति है, वह अर्थ का तत्त्वतः निश्चयपूर्वक ज्ञान कराती है, जैसी इच्छा होती है, उसी प्रकार से क्रियाशक्ति परिणत होती है। जैसा ज्ञान होता है, उसी के अनुरूप क्रिया और इप्सित भी होते हैं। इसी प्रकार से सङ्कल्परूपिणी शक्ति क्षणभर में सभी कार्य को सम्पन्न करती है। व्यष्टिगत ज्ञान, इच्छा और क्रिया के समष्टिरूप में महासरस्वती, महाकाली, महालक्ष्मी नामान्तर हैं। जानता है, चाहता है, प्रयत्न करता है; जिसका ध्यान होता है, वही चहता है, जिसकी चाह होती है, वह करता है, जो करता है, वही बन जाता है।

किन्तु ज्ञान, इच्छा, क्रिया इन तीनों मनोवृत्तियो में, विशेषकर ज्ञानात्मक वृत्ति या गति सर्वप्रधान है। अन्य सभी वृत्तियाँ इन्हीं में अन्तर्भूत होती हैं। किन्तु, इतने से सम्पूर्ण मन का अथवा चित्त का निर्वचन नहीं हुआ। पश्चिम के विद्वान् जिसे 'मन' कहते हैं, उसमें ज्ञाता, कर्ता, अन्तरात्मा आदि अन्तर्भूत हैं। उनके यहाँ मन से भिन्न कोई अहंकार (ईगो) नहीं है। सभी वही मन है। अतः उसे स्थूल दृष्टि से अन्तःकरण कह सकते हैं। अन्तःकरण क्या है? इसका निश्चित रूप से निर्वचन नहीं किया जा सकता। प्रत्येक शास्त्र पहले निर्वचनों का ठीक-ठीक निश्चय करके गवेषणा और परिशीलन का आरम्भ करता हो, ऐसी बात नहीं है। अगर ऐसा होता तो शायद ही किसी शास्त्र का विकास और उन्नति हुई होती। तात्कालिक सिद्धान्तों को मानकर चलते-चलते ही शास्त्र बलवान् होता है और उसके विकास में ही एक ऐसी स्थिति उपस्थित होती है जब कि वह अपने मूल तत्त्वों का निर्वचन कर सकता है। आजतक कीटाणु-शास्त्रज्ञ 'प्राण' का निर्वचन नहीं कर पाये हैं। वे प्रतिदिन जीवित प्राणियों पर प्रयोग करते रहते हैं, किन्तु अभी तक यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सका कि प्राण क्या है। पदार्थ-विज्ञानवेत्ताओं ने आजतक ईथर, अणु, शक्ति, इत्यादि का अन्तिम निर्वचन नहीं किया है। गणित और ज्यामिति के आचार्य विन्दु को मानकर चलते हैं। इस रीति से सभी शास्त्रों के मूल में जो तत्त्व समझे जाते हैं, उन्हीं का निर्वचन अभीतक नहीं हुआ है। निर्वचन करने का प्रयत्न सदा विफल ही रहा है। प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता और दार्शनिक जेम्स कहते हैं--'वही सराकरों अथवा राज्यांगों को भलीभाँति जानता है जो उनके निर्वचन के विषय में जा अनेक सार को बताता है, कोई झंझट नहीं उठाता। तो, धर्म की धारणा क्यों न जटिलहो।'[२] उसी प्रकार निर्वचनों के अर्थात् विना निर्वचनों के पूर्ण ज्ञान के वैषयिक ज्ञान हो सकता है।

१—Dr. Bhagwan Das : Sanatana Vaidika Dharm, Page 32.

२—*The varieties of Religions Experience Lecturss II, Page 26-27.*

मूल तत्त्वों का निर्वचन जटिल और दुःसाध्य है, क्योंकि वास्तव में, सभी शास्त्र एक-दूसरे से संबद्ध हैं और विशेषतः मनोविज्ञान तो प्रत्येक शास्त्र का अत्यावश्यक अंग है। व्यक्ति और विषय के सम्बन्ध से सभी शास्त्रों की उत्पत्ति हुई है। उस सम्बन्ध का एकमात्र प्रभु और नियामक मन है। मन की शक्ति और उसकी गतियों पर शास्त्रों की सत्ता है। मनुष्य की वासनाएँ सदा उसे आगे लिये जा रही हैं, और उन वासनाओं का उद्गम-स्थल है मन। अतः मानसिक शास्त्र का महत्त्व प्रत्येक शास्त्र ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। अभी तक कोई भी शास्त्रकार मनोविज्ञान के क्षेत्र में किसी प्रकार के संबद्ध ज्ञान की आवश्यकता नहीं देखता था। वह समझा करता था कि मन सब किसी को है, उसे जानने के लिए किसी शास्त्र की आवश्यकता नहीं है। चित्तविश्लेषण-शास्त्र के उदय से इस प्रकार की धारणा भ्रान्त सिद्ध हुई और उस शास्त्र के शैशव में ही उसके विरोधी निर्वचनों के लिए जोर देने लगे।

वास्तव में किसी वस्तु का निर्वचन ठीक-ठीक हो भी नहीं सकता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने लक्षणों से युक्त है और उसके लक्षण का पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं है। ऐसा होते हुए भी प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं से संबद्ध है। प्रत्येक शास्त्र का उदय अन्य शास्त्रों से हुआ है। शास्त्रों के या वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध को जानना दुष्कर है, क्योंकि प्रत्येक शास्त्र के मूल तत्त्व ज्ञानातीत समझे जाते हैं। जीव क्या है, कोई नहीं कह सकता। विन्दु के विना गणित एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। दोनों का निर्वचन ठीक-ठीक नहीं किया गया है। मनुष्य और पशु का अन्तर कहाँ है? जानवर और वनस्पति इत्यादि को विभिन्न मंडलियों में कर देनेवाली विभाजक रेखा कहाँ है, यह किसी ने नहीं बताया। किन्तु दोनों में भेद मालूम होता है। दोनों में भेद है और है भी नहीं। सभी मूलतः एक ही पाश में बँधे हैं, मनोविज्ञान अथवा मानसिक और भौतिक जगत् इसके अपवाद नहीं हैं।

'सर्वत्र सर्वथा सर्वं सर्वदा सर्वरूपिणी।
अहोनु विषमा माया मनोमोहविधायिनी॥''

सभी सभी प्रकार से सब जगह विद्यमान हैं। सदा सभी सब रूपवाले मन में मोह का निर्माण करने वाली माया तो विषम अथवा जटिल है। इसी प्रकार

सर्वं सर्वेण सबद्धं सर्वं सर्वत्र सर्वदा'।

अर्थात् सभी एक-दूसरे से संबद्ध हैं। सभी सदा सब जगह हैं।

इस दृष्टि से देखने से भौतिक तथा मानसिक जगत् का भेद तत्त्वतः लुप्त हो जाता है। इन दोनों में जो भेद हैं, वे हैं, व्यावहारिक। वस्तुतः शरीरी अपने भोग के लिए दो शरीरों का ग्रहण किये हुए हैं—एक भौतिक और दूसरा मानसिक। ये दोनों शरीरी के ही शरीर हैं, इस कारण एक-दूसरे के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं, और इन दोनों के भीतर व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से शरीरी का तत्त्व काम कर रहा है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जड़ पूर्णतः जड़ नहीं और मन पूर्णतः मानसिक या चैतन्यरूप

१—योगवासिष्ठ, निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्द्ध १५६–४१।

नहीं है। जड़ में भी अव्यक्त रूप में मानसिक शक्ति अथवा चित-शक्ति काम कर रही है, जो मन में व्यक्तरूप में प्रकाशित है। इसी से देह के ऊपर मन के और मन के ऊपर देह के घात-प्रतिघात होते रहते हैं। इसका प्रमाण है, शरीरी का भौतिक अथवा मानसिक आहार-ग्रहण। मन में यदि अच्छा भाव आ जाय, तो उस मानसिक भाव में व्यक्त रूप से रहनेवाली चित-शक्ति के कारण मन प्रफुल्ल होता है और उसी भाव में अव्यक्त रूप से विद्यमान जड़-शक्ति के कारण देह की जड़-वस्तुओं में परिवर्त्तन होता है और तदनुसार देह में विशेष परिवर्त्तन दिखाई पड़ते हैं। अन्यान्य मानसिक वृत्तियों की भी यही कथा है। दूसरी ओर जिस समय शरीरी या देही किसी जड़-वस्तु को आहार-रूप में ग्रहण करता है, उस समय उस जड़-वस्तु के भीतर अव्यक्त रूप में रहनेवाली चित्त-शक्ति शरीरी की चित-शक्ति के साथ मिल जाती है, और इस मिलन से वही जड़-वस्तु जीवन्त जीवकोष में परिणत हो जाती है, जिससे उसी के भीतर (व्यक्तरूप से) रहनेवाली जड़शक्ति से देह की पुष्टि और अव्यक्त रूप से रहनेवाली चित-शक्ति से मन पुष्टि की होती है। इस कारण से ही शास्त्र का कथन है कि अचैतन्य कुछ है ही नहीं—

'अचैतन्यं न विद्यते।'

दूसरा अध्याय

अज्ञात-सिद्धि

चित्त विश्लेषण (चित्त-विकलन) एक विज्ञान है। सभी विज्ञानों में जो सामान्य नियम उपयुक्त समझे जाते हैं, वे यहाँ पर भी उपयुक्त होंगे। सभी भौतिक विज्ञान हेतुफल-सन्तति को मानते हैं। इसी को मानकर वे अन्य नई गवेषणा या परीक्षाओं की मीमांसा करते हैं। यदि अकस्मात् कोई नया सिद्धान्त प्रस्फुटित हो जाए तो आज के सभी विज्ञान निरुपयोगी हो जायँगे। प्रत्येक विज्ञान स्थूल-से-सूक्ष्म की ओर प्रवृत्त होता है। स्थूल घटनाओं के कारण उनसे सूक्ष्म हुआ करते हैं। अतः प्रत्येक गवेषणा का यही कार्य है कि वह ऐसी घटनाओं के कारण खोजकर उन कारणों में और घटनाओं में हेतुफल-सन्तति का निदर्शन कर दे। इसी प्रकार का हेतु-फल-सम्बन्ध, कार्य-कारण- भाव, अथवा यह नियम कि प्रत्येक कार्य का कारण अवश्य होना चाहिए, मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी लागू होना चाहिए। कार्यकारण-नियम ही शास्त्र की मूल भित्ति है। कई वैज्ञानिक कार्य-कारण-वाद को अन्य क्षेत्रों में तो मानते हैं, किन्तु मनोविज्ञान में भी उसे मानने को वे तैयार नहीं हैं। वे समझते हैं, मन हमारा है और उसकी सभी बातें हम जानते हैं। हम यह भी देखते हैं कि मानसिक जगत् में बिना कारण के भी कार्य होते हैं। उनका यह कहना उस वृद्ध स्त्री की बातों के समान होगा जो यह पूछे जाने पर कि शिशु-पालन के सम्बन्ध में उसने कोई शिक्षा पाई है या नहीं, कहती है, 'वाह! शिशु-पालन मैं नहीं जानती हूँ क्या? मैं भी किसी समय शिशु रह चुकी हूँ।' उक्त शास्त्रकारों का कथन भी ऐसा ही है। अन्य विषयों में कोई अपनी प्रज्ञा प्रकट करने का और न अपने मत का शास्त्र कह कर प्रतिपादित करने का साहस उसे नहीं होता। हृदय में रक्त रहता है या नहीं, इसके अपना भी मत शास्त्र कह कर प्रतिपादित करने की हिम्मत उसकी नहीं पड़ती। यद्यपि हृदय में रक्त रहता है, इस बारे में कोई मतभेद नहीं हो सकता, क्योंकि यह प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है, किन्तु मन की बात दूसरी है। उसका विषय प्रत्यक्षगोचर नहीं है, अतः सभी उसमें अपनी बुद्धि द्वारा प्रवेश करना चाहते हैं। किन्तु यह सर्वथा अनुचित है। इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति-मन भिन्न-भिन्न होता है, फिर भी कुछ ऐसे नियम हैं जो सभी व्यक्तियों के मानसिक जगत् में समानरूप से काम कर रहे हैं। मनोविज्ञान भी शास्त्र है, विज्ञान है। विज्ञान कहे जाने के लिए जितनी बातों की आवश्यकता है, उन सभी का अस्तित्व मानस-शास्त्र के क्षेत्र में भी है। अतः इनमें भी कार्य-कारण-परम्परा माननी पड़ेगी।

मन से प्रायः ज्ञात चित्त-वृत्तियों का बोध होता है।[1] चित्त का कोई अज्ञात अथवा अचेतन भाग है, यह किसी को मालूम नहीं होता। व्यक्ति के ज्ञान के विना भी उसके चित्त में कुछ बातें रह सकती हैं और रहती हैं, यह विश्वसनीय नहीं मालूम होता। ज्ञान की सीमा परिमित है। उसमें जितनी बातें हैं, वे ही चित्त में रहनेवाली हैं, ऐसा सब लोगों का प्रारम्भिक विश्वास है। व्यक्ति के ज्ञानालोक में ऐसी अनेक बातें प्रतीत होती हैं जिनका कोई अर्थ मालूम नहीं होता, जिनके सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि अन्य किसी विषय से उसका सम्बन्ध है, जैसे, भूल-चूक, मुद्रा-दोष, जीविका-वृत्ति आदि, किन्तु हैं वे ज्ञानगोचर। यदि मानसशास्त्र विज्ञान है तो उपर्युक्त वृत्तियों को वैज्ञानिक ढंग से पढ़ना होगा। यदि इन मानसिक घटनाओं को मनोविज्ञान कार्य-करण-सम्बन्ध के दृष्टिकोण से नहीं समझा सकता, तो वह विज्ञान के नाम के योग्य नहीं है।

ऊपर से देखने में कारणहीन अनेक घटनाएँ ज्ञानगोचर होती हैं। एक विद्यार्थी से उसके अध्यापक कहते हैं, 'भाई, जाकर उनसे यह कह देना कि मैं अमुक विषय के बारे में व्याख्यान दूँगा।' वह विद्यार्थी 'हाँ' कह कर चला जाता है और वहाँ पहुँचने पर वही काम भूल जाता है जिसे करने के लिए वह वहाँ गया था। कोई-कोई पढ़ता कुछ है, पर पढ़ते जाते हैं कुछ और। सर वाल्टर स्कॉट के विषय में इतिवृत्त है कि कक्षा में किसी प्रश्न का उत्तर देते समय वह अपनी घुण्डी (बटन) घुमाया करते थे। एक दिन उनके प्रतिस्पर्धी ने उसे काट दिया। बाद में प्रश्न का उत्तर देने के लिए स्कॉट उठे। उनका हाथ घुण्डी खोजने लगा। वह मिली नहीं। स्कॉट जवाब नहीं दे सके। कुछ लोग जब किसी वस्तु को खाने लगते हैं, तब उन्हें यह स्पष्ट मालूम रहता है कि वह हानि कर सकती है। अपने को वे समझाते हैं कि उसे खाना ठीक नहीं है, किन्तु फिर भी वे बार-बार उसी को खाते हैं। वे अपने को रोक नहीं सकते। एक स्त्री के विषय में यह कहा गया है कि जब-जब उसके पास बैंक-नोट आते थे तब-तब वह नम्बर देखा करती थी। वह जानती थी कि उस क्रिया का कोई अर्थ नहीं है, तो भी प्रतीत होता था मानो कोई शक्ति उसे उस प्रकार देखने के लिए विवश कर रही हो। किशोर-अवस्था में कई व्यक्ति बैठे-बैठे ही अनेक स्वप्न देखते हैं। किसी भी कारण से वे उनको समझा नहीं सकते। सबसे मुख्य प्रमाण स्वप्न है। प्रत्येक व्यक्ति स्वप्न देखता है। वह उन्हें जानता है। स्वप्न ज्ञानगोचर है। मनोवृत्तियों के स्वरूप हैं। किन्तु उनका कोई कारण नहीं मालूम पड़ता। यह तो व्यक्ति-व्यक्ति या व्यक्ति-विशेष के आचरणों के विषय की बात हुई। कभी-कभी सम्पूर्ण समाज भी इसी प्रकार की घटना के वश में हो जाता है। समष्टि भी ऐसा ही व्यवहार करता है। राष्ट्रीय आन्दोलनों में, सामाजिक क्रान्तियों में एक लहर में समष्टि

१—'मन और 'चित्त' यद्यपि पर्यायवाची हैं, तथापि साधारण भाव से 'अन्तःकरण' के स्थान पर और संकल्प-प्राधान्य को लक्ष्य कर 'मन' शब्द का यहाँ प्रयोग किया गया है। उसी प्रकार भाव-प्राधान्य से, पातंजलयोग के अनुसार (देखिये, योग-सूत्र १.१–२; १-३७-२.५४ आदि) चित्त का प्रयोग है। उपनिषद् का 'हृदय' (छान्दोग्योपनिषद् ८.३ ; बृहस्पति, ५.३) उपनिषद् और पुराण का ब्रह्मा (श्वेत० उप०, १–५, ३–६) चित्त का प्रतिशब्द है। अव्यक्त, अचेतन अथवा अज्ञात मन ही चित्त का नामान्तर है।

मन या लोग बह जाते हैं। यह जानते हुए कि उस प्रकार बह जाना अनुचित है, अज्ञान है, तो भी लोग बह जाते हैं। एक विद्वान् ने एक राष्ट्रीय नेता से कहा, 'आप तो कहते हैं कि नौकरी छोड़ने से देश का कल्याण होगा। क्या यह बात सत्य है?' नेता ने जवाब दिया, 'पंजाब के हत्याकाण्ड से यदि आपके हृदय में आग धधकती होती तो आप ऐसे प्रश्न पूछते ही नहीं।' नेता इतनी उमंग में भरकर ऐसी जोरदार आवाज में बोले कि उससे प्रभावित होकर उक्त व्यक्ति ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया। वह जानता था कि उसने ठीक काम नहीं किया, फिर भी वह अपने को रोक नहीं सका। आजकल दुनिया में विज्ञापन आदि का एक विशेष शास्त्र बन गया है।[1] सभी विज्ञापन, एक-दूसरे से बढ़कर, मनुष्य को मोह में डालना चाहते हैं। व्यक्ति इश्तहार देखता है और तुरत दवा, पुस्तक, घड़ी इत्यादि भेजने के लिए ऑर्डर दे देता है। ऑर्डर देना आदि कार्य मन से ही, संकल्प से ही, होते हैं, किन्तु उस प्रकार का संकल्प क्यों होता है, यह वह नहीं जानता।

उपर्युक्त सभी क्रियाएँ चैत्त हैं। व्यक्ति ही ज्ञानालोक में काम करता है। वह जानता है कि अमुक काम उससे हो रहा है; किन्तु कभी-कभी उस कार्य का कोई कारण उसे दिखाई नहीं पड़ता। अतः अनुमान करना पड़ता है कि सभी चैत्तवृत्तियों के, सभी ज्ञात मानसिक क्रियाओं के कारण ज्ञानालोक में नहीं रहते हैं, प्रत्युत् उनका अस्तित्व कहीं और है। यही बात राष्ट्रीय आन्दोलनों में, शिक्षापद्धतियों में, धार्मिक संप्रदायों आदि में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। नेता, अध्यापक और धर्मगुरु का प्रायः सर्वप्रथम प्रयत्न यह नहीं रहता कि वे जनता की, शिष्य की, अनुयायी की बुद्धि को प्रभावित करें अथवा उनके द्वारा उपस्थित की गई शंकाओं का सामना ही करें, प्रत्युत् उनलोगों का सर्वप्रथम प्रयत्न यही रहता है कि किसी प्रकार जनता, शिष्य अथवा अनुयायियों के चित्त को अपनी ओर आकर्षित करें। एक बार चित्त आकृष्ट हो जाने पर वे जो चाहते हैं, उनसे करा सकते हैं।

राष्ट्रीय आन्दोलनों में नेता जनता की कारण-शक्ति का, तर्कशक्ति का सामना नहीं करते, वे पहले उन्हें किसी बात के औचित्य या अनौचित्य की परीक्षा नहीं करने देते। इसी से नेताओं के व्याख्यान उद्बोधक कहे जाते हैं। वे जनता के क्रोध आदि भावों को उत्तेजित करने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक आन्दोलन के कुछ जय-निनाद, युद्धसूचक प्रतिज्ञाएँ, स्वत्व आदि रहते हैं। फ्रांसिसी क्रान्ति के तीन नारे थे—(१) मनुष्य के स्वत्व (अधिकार), (२) प्रकृति की ओर लौटो तथा (३) राष्ट्र के प्रण।[2] प्रथम यूरोपीय महासमर की युद्ध-घोषणाएँ थीं : (१) दुर्बल जाति की रक्षा, (२) आत्म-निर्माण तथा (३) विलसन के चौदह सूत्र आदि।[3] उद्भावक या नेता ऐसी ही विधियों से जनता में

१—Psychology of Advertisement अवधान (ध्यान या मनोयोग आकृष्ट करने के बहुत-से बाह्य एवं अन्त: निर्धारक होते हैं। देखिये प्रो० अर्जुनचौबे काश्यप का 'सामान्य मनोविज्ञान' भाग २, पृष्ठ १२५-३६।

२—The Rights of Man, Back to Nature, The Covenants of State.

३—Protection of Weaker Nations, Self determination, and fourteen points of President Wilson.

उत्तेजना फैलाते हैं। इस प्रकार बहुत-से सांकेतिक एवं स्फूर्तिवर्द्धक शब्दों[१] एवं वाक्य-विन्यासों की सृष्टि हठात् हो जाती है।

धार्मिक विषयों में भी यही प्रणाली देखने में आती है। जब-जब राष्ट्र उन्नति की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता है, जब-जब समाज की बुरी प्रथाओं को निकाल देने का प्रयत्न होता है, तब-तब राष्ट्र के पूर्वाचार-प्रियव्यक्ति 'धर्म पर वज्रपात', 'भाइयो, बच्चो' 'इस्लाम पर संकट', 'वेद पर भीषण आघात' आदि शब्दों से जनता में आन्दोलन प्रारम्भ करते हैं। विद्या का क्षेत्र इस बात का अपवाद नहीं है। किन्तु अन्य क्षेत्रों में और विद्या के क्षेत्र में कुछ अन्तर है। शिक्षक प्रारम्भ में विद्यार्थियों के चित्त को आकृष्ट करना चाहते हैं, किन्तु उनमें उत्तेजक भावों को उत्तेजित करके नहीं। वे उन छात्रों की 'उत्सुकता'-नामक मूलप्रवृत्ति को तथा उनकी कल्पना को अपने सदाचार, प्रेम तथा अन्य सुष्ठु व्यवहारों से आकृष्ट कर लेते हैं। अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा विद्या के क्षेत्र में ऐसी बात क्यों? इस प्रकार के अन्तर का क्या कारण है? अर्थात् विद्या के क्षेत्र में उत्तेजक भावों के जागरण की बात क्यों नहीं उठती? बात यह है कि विद्या के क्षेत्र एक मात्र कल्याण के क्षेत्र हैं, उनमें किसी व्यक्ति की विशेष स्वार्थ-पुष्टि नहीं है; उनमें शिक्षक का ध्यान मुख्यतः इस बात पर रहता है कि विद्यार्थी की सुप्त शक्ति जाग्रत होकर अपने स्वधर्म में सुप्रतिष्ठित हो जाय। इन सभी बातों में जो कुछ समानता दिखाई पड़ती है, वह यह है कि लोगों के चित्त में ऐसी वृत्तियों को उत्तेजित, उद्बुद्ध किया जाय जिससे कारण समझे बिना भी वे प्रेरित होकर काम तो करें। व्यक्ति सोचता-समझता तो है कि वह क्या कर रहा है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि उसी प्रकार का कार्य वह क्यों कर रहा है। वह, वास्तव में, अज्ञात-शक्ति के आवेग में कुछ कर देता है। सभी उपदेशक, चाहे वे राजनीतिक क्षेत्र में हों या किसी अन्य क्षेत्र में, भावों अथवा व्यक्ति के आवेगों को जगा देने का प्रयत्न करते हैं। भावाकर्षण के अनन्तर 'अकारण' भी सकारण-से दिखाई पड़ने लगते हैं। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक गेटे कहते हैं—

किन्तु वृत्ति जो निकल रही है तेरे केवल उर की,
तेरी ओर झुकाएगी वह वृत्ति अन्य के उर की।[२]

१—Catch words ऐसे शब्द जो कल्पना तथा भाव-जगत् को आकृष्ट कर लेते हैं। 'Slogan' भी ऐसा ही शब्द है।

२—But that which issues from the heart alone.
Will bend the hearts of others to your own.

यहाँ पर 'हृदय' का संकेत है मन की भाव-वृत्ति की ओर। वास्तव में, मनोविज्ञान में 'हृदय' शब्द का प्रयोग मन की भावात्मक गति के रूप में ही होता है और उसका प्रचलित प्रयोग केवल साहित्यिक है। संवेगों अथवा प्रबल भावातिरेक में 'हृदय' की गति में तीव्रता अथवा अत्यधिक कमी आ जाती है। बहुधा कवि 'हृदय' अथवा 'दिल' को दूसरे 'अर्थ' में ही प्रयोग करते हैं। मनोविज्ञान के विद्यार्थियों को यह अन्तर समझ लेना चाहिए। 'दिल तड़प रहा है' का तात्पर्य मन की भावात्मक वृत्ति से है जब कि व्यक्ति वियोग में अथवा किसी कष्ट में है। अतः 'हृदय' या 'दिल' अपने साहित्यिक अर्थ में मनोविज्ञान से निष्कासित हो चुके हैं, क्योंकि 'हृदय' की वृत्तियाँ मन की वृत्तियाँ हैं, जिन्हें हम भाव या संवेग (feelings or emotions) के नाम से मनोविज्ञान में पुकारते हैं।

भावना का प्रताप प्रबल है। भावना मुख्यतः अव्यक्त चित्त की वृत्ति है। विना किसी स्पष्ट कारण के कुछ भावनाएँ मन में रह जाती हैं और सारी चित्त-वृत्तियों पर अपनी प्रभुता फैलाती हैं। जो बात भावना नहीं कर सकती, वह कोई नहीं कर सकता। भावना मनुष्य को मार सकती है और जिन्दा कर सकती है। सृष्टि-नाश, शक्तिहीनता, जीवन-मरण, ये सभी भावना के विभिन्न खेल हैं। भावना की शक्ति के निदर्शन में एक सुन्दर कहानी है जिसे लिखने के लोभ का संवरण हम नहीं कर सकते। फारस के एक नगर के बाहर एक वृद्ध फकीर बैठा रहता था। वह बड़ा साधु था। उसने एक बार देखा कि नगर की ओर भीषण आकारवाला कोई पुरुष आ रहा है। फकीर तत्त्ववेत्ता था। उसने उस आदमी से पूछा, 'भाई, तुम कौन हो?' उसने कहा, मैं महामारी हूँ। मैं इस नगर में इसलिए जा रहा हूँ कि यहाँ के रहनेवाले बड़े दुष्ट हैं। मैं इनका भक्षण करूँगा।' फकीर ने कहा 'भाई, नगर में साधु भी तो हैं।' महामारी ने कहा, 'मैं केवल एक हजार असाधुओं को खाऊँगा।' दूसरे दिन फकीर ने सुना कि शहर में हजारों लोग महामारी के कारण मर गये। उस दिन शाम को फकीर ने महामारी को अपनी तरफ आते हुए देखकर पूछा, 'तुमने तो कहा था कि मैं एक हजार लोगों को ही खाऊँगा किन्तु वास्तव में, तुम कई हजार लोगों को खा गये। भाई, फकीर से भी मजाक!' महामारी ने बड़े विनयभाव से उत्तर दिया, 'बाबाजी, सचमुच मैंने एक ही हजार मनुष्यों का ग्रास किया है। बाकी सब डर से मर गये हैं। इसमें मेरा क्या अपराध?'[१] इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। भयभीत होकर वन्यपशु तक अपना स्वभाव भूल जाते हैं। वे उस समय कुछ ऐसा काम कर बैठते हैं जिनका उन्हें ज्ञान नहीं रहता। दार्शनिक जेम्स ने अपनी पुस्तक 'धार्मिक अनुभव के प्रकार'[२] में एक घटना उद्धृत की है। बंगाल की एक नदी में बाढ़ आई। कई मील तक पानी-ही-पानी फैल गया। उस असीम जल-राशि के बीच में केवल एक टीला ऊपर उठा हुआ था। आसपास के लोग उसी पर एकत्र हुए। थोड़ी देर के बाद एक शेर तैरता हुआ वहाँ पहुँचा और लोगों के बीच में हाँफते-हाँफते लेट गया। डर के मारे वह शेर अपनी प्रकृति को भूल बैठा था।

१—इस सम्बन्ध में कुछ और प्रमाण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। महात्मा लीयो टाल्सटाय अपनी प्रौढ़ावस्था में कहा करते थे, ७ संख्या उनके लिए विपज्जनक है। ७ नवम्बर १९०५ को उन्होंने अपनी Readings for Every Day of the year नामक पुस्तक में मृत्यु के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ विचार दिये हैं। ७ नवम्बर १९१० में उनकी मृत्यु हुई थी, यद्यपि उस दिन उनकी 'स्थिति कुछ खराब नहीं थी।' मृत्युदण्ड से दण्डित एक व्यक्ति की कथा इस प्रकार है। उससे यह कहा गया था कि वह किसी वैज्ञानिक परीक्षा के पात्र के रूप में मरेगा। उसका प्रत्येक अंग सुई से इस प्रकार विद्ध किया गया कि रक्त न निकले। कोठरी में जल का नल खोल दिया गया और उससे कहा गया कि जो बह रहा है, वह जल नहीं है, वह उसके क्षतों से निसृत रक्त है। वह व्यक्ति रक्त बह जाने की भावना में आकर मर गया।

'Freud believes that in many cases death from accident, rashness, mistake etc, is in reality an involuntary suicide dependent upon a complex—C. Bandonin : suggestion and Auto-suggestion; 1924. p. 102.

२—The Varieties of Religious Experience.

भावना कभी-कभी प्राणों की भी रक्षा करती है। बनारस की बात है। रेलवे का एक पैटमैन (प्वाइण्ट्समैन) रेल के नीचे गिर पड़ा और उसका मेरुदण्ड टूट गया। डाक्टरों ने कह दिया कि वह दो घण्टों में मर जायगा, किन्तु वह बराबर चिल्लाता रहा 'नहीं डाक्टर साहब, मैं नहीं मरूँगा, मैं नहीं मरूँगा। आप पट्टी बाँध दीजिये।' डाक्टर ने उसकी तृप्ति के लिए पट्टी बाँधी और चले गये। वह रोगी मरा नहीं। जब डाक्टर ने उससे पूछा, 'भाई, क्या बात है ? तुम कैसे बच गये ?' तो वह कहने लगा 'साहब, मेरी शादी हुए तीन माह ही हुए। पहली औरत से तीन बच्चे हुए। यदि मैं मर जाऊँ तो उसकी देखभाल कौन करेगा ?'[१] भावना क्या नहीं करती ? भावना कभी ज्ञात रहती है, जैसे जप आदि में और कभी अज्ञात। कहीं भावना का कारण मालूम होता है, और कहीं नहीं। भावना मन का सार है। जो जैसी भावना करता है, वह वैसा ही बन जाता है।

'मनोहि भावनामात्रं भावना स्पन्द धर्मिणी।
क्रियातम्दाविता रूपं फलं सर्वोनुधावति ॥[२]

मन भावना मात्र है। भावना से सब कुछ होता है। किन्तु भावना का कारण प्रायः मालूम नहीं पड़ता है। प्रेम की स्थिति में इसी प्रकार के कार्य ज्ञानालोक में होते हैं, किन्तु उनका कारण नहीं ज्ञात होता। कहावत भी है कि कामुक अन्धा है।[३] कालिदास का कहना है :—

'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चतनाचेत्तनेषु'।

कामार्त स्थावर-जंगम का भेद नहीं जानता। महाकवि शेक्सपियर ने पोशिया के इन शब्दों द्वारा इसी अज्ञात शक्ति के अस्तित्व की ओर इशारा किया है :—

'मेरे भीतर कोई आवाज कह रही है कि मैं तुम्हें कभी नहीं खोऊँगी।'[४]

ज्ञानवान् पुरुष भी अनेक कार्य जानकर नहीं करता। क्रिया हो जाती है, तब कहीं वह उसे कारणबद्ध दिखाने की चेष्टा करता है। काम भी तभी अच्छा होता है जब वह अन्दर से किसी अज्ञात प्रेरणा से हो जाय। मनुष्य को हम सब कारणवान्

१—सन् १९१५ में जब पेरिस के ऊपर आकाश-अभियान हो रहे थे, उस समय एक दिन पाँचवीं मंजिल पर रहनेवाली पक्षाघात से पीड़ित एवं चल सकने में अशक्त एक स्त्री ने अपने को नीचे रहने वाले नौकर के घर में पाया। वहाँ खड़ी थी। वह वहाँ कैसे गई, इसका उसे सर्वथा ज्ञान न था। वास्तव में, उसके पास एक बम्ब गिरा था और वह तत्क्षण नीचे भाग आई थी। येनकेनप्रकारेण भाग कर प्राण-रक्षा करने की तीव्र प्रवृत्ति ने उसकी सभी चित्त-वृत्तियों को ग्रस लिया था और उसी भावना के अनुरूप क्रिया भी हो गई थी। आश्चर्य, वह स्त्री पक्षाघात के रोग से मुक्त भी हो गई।—C. Bandonin : Suggestion and Auto-suggestion. p. 116.

२—योगवासिष्ठ, उत्पत्ति प्रकरण, ९९. १।

३—'Love is blind' और इसीलिए कहा जाता है कि 'One must not trifle with love.'

४—Something in me tells me, I will not lose you.—Merchant of Venice.

कहते हैं। उसे युक्तायुक्त का ज्ञान है; किन्तु यह ठीक नहीं है। यदि व्यक्ति समझने को सन्नद्ध न हो तो उसे समझाना कठिन है। लोग कहते हैं 'जी, आप जो कुछ बताते हैं, वह ठीक है पर…।' इस प्रकार सभी कारणों से पुष्ट किसी बात को मानकर भी व्यक्ति 'लेकिन, किन्तु, परन्तु, बल्कि; आदि शब्दों द्वारा ज्ञातलोक से, ज्ञप्ति से भी परे रहनेवाली किसी शक्ति का परिचय देता है।[१] इन सब बातों को देखते हुए हमें ग्राडक् के शब्दों में यह स्वीकार करना पड़ता है कि कुछ अजेय शक्तियाँ हमारा संचालन करती रहती हैं।[२] इस वचन की सत्यता सभी ज्ञानी स्वीकार करते थे। यह अनुदिन की बात है। इसी से धृतराष्ट्र कहते हैं:—

'जानामिधर्मं न च मेप्रवृत्ति-र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥'

मैं धर्म को जानता हूँ, किन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। मैं अधर्म को जानता हूँ, पर उससे मेरी निवृत्ति नहीं होती। हृदय में कोई देव बैठकर मुझे चला रहा है। उसी के अनुसार मैं चल रहा हूँ। इन सभी उदाहरणों और वचनों से सिद्ध होता है कि अपनी अनेक चित्तवृत्तियों का कारण हम स्वयं नहीं जानते। मालूम होता है कि हम अज्ञात शक्तियों के वश में जीवन बिता रहे हैं। वास्तव में यह सत्य है कि कुछ चित्तवृत्तियाँ अज्ञात अथवा अचेतन होती हैं। इस सम्बन्ध में हमें शंका करने की आवश्यकता नहीं है। कभी-कभी यदि हम अपनी दृष्टि को भीतर की ओर दौड़ावें और किसी चित्तवृत्ति का कारण जानने का प्रयत्न करें तो हम सफल हो सकते हैं। एक क्षण पूर्व जो अकारण मालूम होता था, वह अब सकारण जान पड़ेगा। इसीसे हम ऊपर कह आये हैं कि 'कार्य-कारण-परम्परा' चित्त के क्षेत्र में भी काम करती है। उसके विना किसी भी चित्तवृत्ति को हम समझा नहीं सकते। लेकिन प्रायः चित्तवृत्तियों के कारण अज्ञात रहते हैं, वे अज्ञातरूपेण चित्त में रहते हैं और हम उनको अन्तर्निरीक्षण से ज्ञात बना सकते हैं। चित्त के अज्ञात भाग के अस्तित्व में अनेक लोग अविश्वास करते हैं। पर यह उचित नहीं है। यदि हम उन्हें नहीं जानते हैं तो वे चित्त में रह ही कैसे सकते हैं, यह प्रश्न ठीक नहीं है। अनेक ऐसी बातें हैं जिन्हें हम नहीं जानते, तिस पर भी उनका अस्तित्त्व सिद्ध हो चुका है। चन्द्रमा मेघों से आवृत्त हो जाता है, कोई उसके अस्तित्व का निराकरण नहीं करता। वह अपना कार्य करता ही जाता है। समुद्र की तरंगें यथापूर्व उसकी आकर्षण-शक्ति से प्रभावित होती रहती हैं। उसी प्रकार परमाणु तथा अणु दिखाई नहीं पड़ते। फिर भी सारा संसार उन्हीं के आधार पर बना हुआ सिद्ध

१—'A man convinced against his will is of the same opinion still.
—Hart : The Psychology of Insanity. p. 141-42.

If you have a God already whom you believe in, the arguments for God's existence confirm you; if you are an atheist they fail to set you right.

William James : The Varieties of Religious Experience. p. 431.

२—We are guided by uncontrollable forces.

किया जाता है। शक्ति को किसी ने नहीं देखा। उसकी अभिव्यक्ति प्रत्येक पदार्थ या पुद्गल में है। बर्फ का एक टुकड़ा पानी में डाल दिया जाय तो उसका ऊपरी भाग दिखाई पड़ता है, किन्तु भीतर अधिक भाग जल से ढँका रहता है। इन सब उदाहरणों में कार्य तो दृश्य है, किन्तु कारण अदृश्य हैं। दृश्य से ही हम अदृश्य का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार हम देखते हैं कि संवेदना ज्ञान में परिवर्तित होती है। यद्यपि वह दृष्टिगोचर नहीं हो सकती, फिर भी कोई उसका निराकरण नहीं करता। पद-पद पर दृश्य वस्तुओं से अदृश्य वस्तुओं की सत्ता सिद्ध की जाती है। यही विज्ञान का सिद्धान्त है। विज्ञान अदृश्य का निराकरण नहीं करता। वह उसका कार्य चाहता है। 'अदृश्य' यदि दृश्य को समझाता है तो उसकी सत्ता विज्ञान अवश्य मानता है। ऐसा होने पर भी वही विज्ञान, उस साधारण संस्कार के कारण कि लोग नवीनता को बरदाश्त नहीं कर सकते, कभी-कभी अपनी प्रगति को अस्वीकार करना चाहता है और स्वयं नई बातों का खण्डन करने लगता है। गैलेलियो ने सूर्य में धब्बा दिखाया। उसमें साधन दूरदर्शक यन्त्र था। लोगों ने कहा कि उस यन्त्र के शीशे में भूत है।

आँखें सभी को प्राप्त हैं, किन्तु देखनेवाले कितने हैं? उनको दिखानेवाले की आवश्यकता है, संसार में अनादिकाल से गुरुत्वाकर्षण-शक्ति काम कर रही है, किन्तु उसका ज्ञान कराने के लिए न्यूटन की आवश्यकता हुई। इसी प्रकार चित्त के जो विविध कार्य हैं, उनका प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है, किन्तु उनके कारणों को वह नहीं जानता। उन कारणों के अस्तित्व को सिद्ध करने का श्रेय प्रधानतः डा० फ्रायड को प्राप्त हुआ। लेकिन समाज ने उनका विरोध किया। यह विरोध निम्न-सा है—यह हमारे पिताजी का कूप है। हम इसी का पानी पीवेंगे। गंगा का जल हमें नहीं चाहिए...।[१]

प्रारम्भ में समाज नवीन आविष्कारों का विरोध करता है और वह प्राचीन परम्परा की दुहाई देता है और कहता है 'अरिस्टॉट्ल या मनु महाराज तो ऐसा नहीं कहते हैं। उनका कहना गलत नहीं हो सकता। परम्परा-प्रेमी समाज कहता है : शास्त्र कभी मिथ्या नहीं हो सकते। इतना होते हुए भी जो बात सच्ची होती है, वह धीरे-धीरे जनता की समझ में आ जाती ही है। कोई भी कठिन समस्या यदि सर्वसाधारण की समझ में आनेवाली तुलनाओं द्वारा समझाई जाय तो जनता की बुद्धि भी कुछ दिनों के बाद उसे ग्रहण कर लेती है। व्यक्त, स्थूल तथा प्रत्यक्ष वस्तु से अव्यक्त, सूक्ष्म एवं अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान कराया जाता है। किसी वस्तु के प्राप्त न हो सकने से ही हमें उसकी सत्ता के विषय में शंका नहीं करनी चाहिए। परमाणु प्रत्यक्षतः दिखाई नहीं पड़ते, तोभी उनका अस्तित्व है। उनके विना अनेक कार्य सिद्ध ही नहीं हो सकते। जब कार्य दिखाई पड़ते हैं और कारण नहीं दिखाई पड़ते, तब कारणों का अनुमान कार्य देखकर ही करना चाहिए। इसी प्रकार चित्त में जो वृत्तियाँ ज्ञात होती हैं, उनका

१—यो अस्मत्तातस्य कूपोऽयमिति कौपं पिबत्यपः
त्यक्त्वा गांगं पुरः स्थं तं ....। योगवासिष्ठ, उत्पत्ति-प्रकरण, १८. ४।

कारण अज्ञात भले ही हो, पर अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि कारण के विना कोई कार्य नहीं हो सकता।

संसार में कोई भी बात आकस्मिक नहीं होती। जितनी वस्तुएँ हैं, जितनी बातें होती हैं, सब का कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है, फिर चाहे वह ज्ञान हो अथवा अज्ञान हो। दुनिया की कहावतों से भी यह बात सिद्ध होती है। सांख्यकारिका में आया है—

'शक्तस्य शक्यकरणात्।'

जिसे शक्ति , वही शक्य का जनक होता है।

'सतः संजायते'

सत् से ही सत् की उत्पत्ति होती है।

'Omne vivum abovo

Life proceeds from life,

प्राण से प्राण उत्पन्न होते हैं।

'Like proceeds from like'.

समान स समान की निष्पत्ति है।

'En Mihilo mihil fit' (Nothing can come from nothing.)

'नासतो सदुत्पद्यते', 'नासतो विद्यते भाव।'

असत् से सत् उत्पन्न नहीं होता।

'कारणे सत्वश्यं कार्येण भाव्यं कार्ये सत्यवश्यं कारणेन भाव्यम्'

कारण रहे तो कार्य अवश्य रहेगा और कार्य रहा तो कारण अवश्य रहता है।

'कारणेन विना कार्यं आमहाप्रलयं क्वचित्।

न दृष्टं न श्रुतं किंचित्........'

कारण के विना कार्य का होना न कहीं देखा गया है न सुना गया है।

संसार में व्यवहार इसी आधार पर चलता है। यदि कार्य-कारण का सम्बन्ध ध्रुव सत्य न रहता तो संसार में व्यवहार चल ही नहीं सकता। कहीं भी इस नियम में व्यतिरेक नहीं दिखाई पड़ता। ऐसी स्थिति में जहाँ पर कारण का कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है, वहाँ भी कारण की सत्ता माननी चाहिए।

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि लोग कैसी बातों के विषय में कार्य-कारणवाद की सत्यता स्वीकार नहीं करना चाहते। महत्त्वपूर्ण बातों में तो लोग कार्य-कारण-परम्परा का अस्तित्व अवश्य मानते हैं। किन्तु छोटे-छोटे विषयों के सम्बन्ध में वे विश्वास करने लगते हैं कि कार्य-कारणवाद वहाँ लागू नहीं होता। प्रायः आसानी से की जानेवाली क्रियाओं को हम अकारण घोषित कर दिया करते हैं। उदाहरणार्थ, मान लीजिये किसी स्थान की ओर दो मार्ग जाते हैं। अब यदि हम एक को छोड़ दूसरे मार्ग से जायँ, तो कारण पूछने पर हम कह सकते हैं कि यह हमारी खुशी की बात है। इसका कारण क्या बताया जाय? उसी प्रकार यदि किसी के कहने से हमने कोई संख्या चुन ली तो हम समझते हैं कि हमारे इस कार्य का कोई कारण नहीं हो सकता,

क्योंकि हम चाहते तो कोई अन्य संख्या चुन लेते। इसके अतिरिक्त हम उन क्रियाओं को भी इस नियम के अपवाद-स्वरूप समझते हैं जिन्हें हम पहले दो बार ठीक तरह से कर चुके हों, किन्तु उनके सम्बन्ध में हमसे कोई त्रुटि हो गई हो। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति कोई पुस्तक अपने स्वामी को लौटा देना भूल जाता है तो वह अपनी इस विस्मृति को अकारणवश समझने लगता है, क्योंकि इसके पूर्व कई बार वह पुस्तक का लौटा चुका है। इस बार की भूल को वह एक आकस्मिक घटनामात्र समझता है। जिन बातों को व्यक्ति नहीं चाहता है, उन्हें भी वह कारणविहीन समझने लगता है। उसी प्रकार हम कभी-कभी अपने मित्र को पत्र लिखना भूल जाते हैं। हम पत्र लिखना नहीं चाहते। हम यह भी स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि हम पत्र नहीं लिखना चाहते। ऐसी परिस्थिति में अपनी क्रियाओं को हम कारणहीन ही समझने लगते हैं।

चौथी बात हमारी अज्ञानता है। हम प्रायः जिनके कारण नहीं जानते, उन्हें अकारण समझने लगते हैं। शकुन (सगुन) इत्यादि को लोग प्रायः अकारण मानते हैं। जिन बातों के सम्बन्ध में हमें यह विश्वास रहता है कि हम उन्हें अन्यथा कर सकते हैं, जिन्हें यदि हम चाहें तो बिलकुल ही न करें, उन्हें हम प्रायः कारणरहित समझने लगते हैं। किन्तु इनका भी कारण रहता है। हमारा अज्ञान कारण के अनस्तित्व का प्रमाण नहीं है।

ऊपर हमने जो कुछ लिखा है, उसे पढ़कर कई लोगों को आश्चर्य हो सकता है और वे पूछ सकते हैं कि यदि ऐसी ही बात है तो फिर पुरुष के संकल्प का क्या महत्त्व है? यदि सभी कार्य सभी चित्तवृत्तियाँ कारणों द्वारा पहले से ही निश्चित हैं, तब व्यक्ति का यह अनुभव कैसे होता है कि वह स्वयं स्वसंकल्प से कुछ काम करता है, और उसे स्वयं कार्य करने की क्षमता प्राप्त है। यदि कार्य-कारण-सिद्धांत को हम सचमुच मान लें तो विचार-स्वातन्त्र्य अथवा स्वतन्त्र संकल्प के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। किन्तु वस्तुतः आश्चर्य करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जो ज्ञात रूप से स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति का विषय नहीं है, वह अज्ञात कारणों से स्वतन्त्ररूपेण ही निर्धारित होते हैं, अर्थात् ज्ञात रूप से जो अस्वतन्त्र रहते हैं, वे अज्ञातरूप से स्वतन्त्र हैं। जिस समय ज्ञात का संकल्प अज्ञात के संकल्प के साथ मिल जाता है, उसी समय व्यक्ति दृढ़ता के साथ कहता है कि यह 'मेरा स्वतन्त्र सङ्कल्प' है, और वह तदनुसार कार्य भी करता है। मूल बात यह है कि व्यक्त या ज्ञात (चेतन) ही एकमात्र सत्ता नहीं है, उसके भीतर, बाहर अव्यक्त अज्ञात (अचेतन) है। और यह अव्यक्त अज्ञात ही सब क्रियाओं का कारण है (कारणमस्त्यव्यक्तम्)। जिस समय अव्यक्त अज्ञात के अनुसार व्यक्त ज्ञात का काम हुआ, उस समय वह काम स्वतन्त्र प्रतीत हुआ। इसके विपरीत होने से ही वह काम अस्वतन्त्र मालूम होता है। अतः कार्य-कारणवाद के बल पर चित्त की एक अज्ञात भूमि माननी पड़ेगी जिससे ज्ञात की सभी चित्तवृत्तियाँ भलीभाँति समझाई जा सकें।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि 'अज्ञात' अज्ञात क्यों है? वे बातें जो अज्ञात चित्त में हैं, क्यों प्रत्यक्ष नहीं होतीं? इन प्रश्नों का उत्तर सांख्यवादियों ने अच्छी तरह से दिया

पड़ती थीं, अज्ञात-चित्त के भीतर उस समय उन क्रियाओं का अस्तित्व था। अतः विदित होता है कि चैत्तवृत्तियाँ अज्ञात रूप से (अचेतन में) रह सकती हैं।

इस प्रकार का अनुमान कर हम कोई नवीन बात प्रतिपादित नहीं कर रहे हैं। हमारा अनुदिन का व्यवहार ही हमें ऐसा करने को विवश कर रहा है। यह एक मामूली बात है कि हम दूसरों के कार्य देखकर उनके विचारों और उद्देश्यों का अनुमान करते हैं। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के भिन्न कार्यों को एक सुगठित रूप से समझाने के लिए हम मन या चित्त का अनुमान करते हैं, उस प्रकार अपने भीतर की असंबद्ध चैत्तवृत्तियों अथवा मानसिक गतियों को भी क्रमबद्ध रूप से समझाने के लिए एक अज्ञात चित्त अथवा अचेतन मन का अनुमान करना हेय नहीं है। इनके अतिरिक्त सम्मोहन (प्रस्वापन) के प्रयोगों एवं मानसिक व्याधियों के निवारण से भी अज्ञात चित्त का अस्तित्व प्रमाणित होता है।

(२) सम्मोहन-सम्बन्धी प्रयोग—

सम्मोहन के प्रयोगों से व्यक्ति में चित्त के एक ऐसे भाग का रहना सिद्ध हुआ है, जिसका व्यक्ति को कोई भान नहीं था। इस विषय में बेरनहाईम् एवं लीबो के प्रयोग प्रसिद्ध हो चुके हैं। बेरनहाईम् ने एक व्यक्ति को प्रस्वापित (सम्मोहित)[१] किया। उस अवस्था में उन्होंने उसे सम्मोहन के प्रभाव से उठने के बाद एक विशेष समय पर एक विशेष काम करने की आज्ञा दी। प्रस्वाप से जगने के बाद वह पूर्व की तरह पुनः अपने कार्यों में लग गया। उसका उसे तनिक भी स्मरण नहीं रहा। फिर भी, प्रस्वाप में जो समय निर्धारित किया गया था, उसी समय पर उसके चित्त में उक्त विशेष कार्य करने की प्रेरणा हुई और उसने उसे शीघ्रातिशीघ्र कर डाला। वह नहीं जानता था कि वह ऐसा क्यों कर रहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस कार्य की प्रेरणा अज्ञात रूप से उसके मन में जाग्रत रही और ठीक समय पर व्यक्त हुई। किन्तु सभी बातें स्मरण में नहीं आईं। सम्मोहन से अभिभूत होने तथा वैद्य द्वारा आज्ञा देने की याद उसे नहीं रही। इस प्रकार हम देखते हैं कि अज्ञात रहकर भी अनेक भाव और भावनाएँ जाग्रत रहती हैं।

(३) मानसिक रोग-सम्बन्धी प्रयोग—

सम्मोहन-प्रक्रिया से भी प्रबल प्रमाण निर्मली, चित्त-विश्लेषण आदि प्रक्रियाओं से प्राप्त होता है। इन प्रक्रियाओं के कारण रोगी के अनेक विस्मृत विषय जग जाते हैं और अपने पूर्ण भावावेग के साथ ज्ञात हो जाते हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि वे भाव और भावनाएँ चित्त में पहले से ही मौजूद थीं, लेकिन अज्ञात रूप से, किन्तु समय पाकर प्रकट हो जाती हैं। हार्ट महोदय[२] लिखते हैं कि यह प्रायः देखा गया है कि यदि प्रस्वापित अवस्था में किसी व्यक्ति से बातचीत करते-करते धीरे से कान में कोई प्रश्न कह दिया जाय तो उसका हाथ उक्त प्रश्न का उत्तर लिख देता है। वह नहीं जानता कि कागज पर इस प्रकार का उत्तर उसने क्यों लिखा। उसमें

१—S. Freud : Collected works, vol. IV' p. 23.

२—Hart : The Psychology of Insanity, chapter IV.

प्रायः ऐसी बातें कही जाती हैं जो बाल्यकालीन विस्मृत विषय अथवा व्यक्ति के ज्ञात जीवन की क्रियाओं को समझाने के लिए आवश्यक प्रतीत होती हैं। चित्त-विश्लेषण-प्रक्रिया एक अज्ञात चित्त (अचेतन) के सिद्धान्त के कारण ही सफल हुई है। वह अनेक मनोव्याधियों का उपशमन कर रही है। उसका यही प्रयत्न रहता है कि अज्ञात भाव और भावनाओं को ज्ञात बनाकर व्यक्त करा देना। उसकी सफलता ही अज्ञात चित्त के अस्तित्व के पक्ष में प्रबलतम प्रमाण है। किसी अन्य प्रकार का सिद्धान्त न तो ज्ञात मनोवृत्तियों को ग्राह्य रूप से समझा सका है और न व्याधियों का उपशमन भी इस सीमा तक करने में समर्थ हुआ है।

इन प्रमाणों के कारण विवश होकर कई शास्त्रज्ञों को ज्ञात से भिन्न चित्त का एक और भाग मानना पड़ा; किन्तु उसे सभी अज्ञात (अचेतन) कहने को तैयार नहीं हैं। उनके विचारानुसार वह भी ज्ञप्ति-विशिष्ट ही है। वे उसे अज्ञात (अचेतन)[1] न कहकर उपज्ञात (उपचेतन)[2] का नाम देते हैं। वह ज्ञात है, अज्ञात है अथवा उपज्ञात है, यह व्यक्ति के 'अहंकार' से ही निरूपित हो सकता है। यदि यहाँ पर यह प्रश्न किया जाय कि क्या व्यक्ति उस अज्ञात की बातों को जानता है, तो साधारणतया इसका उत्तर यही दिया जायगा कि 'नहीं'। किन्तु दूसरे मत के लोगों का कहना है कि वे बातें ज्ञात तो हैं, पर उतने प्रबल रूप से नहीं कि व्यक्ति की सारी ज्ञप्ति पर आक्रमण कर सकें। इसी से साधारणतया उनका ज्ञान हमें नहीं होता, किन्तु यदि व्यक्ति उनके विषय में पर्याप्त ध्यान दे, तो उन्हें समझ सकता है। जिस बात को व्यक्ति नहीं जानता है, उसे अज्ञात कहने में उसे कौन-सी आपत्ति हो सकती है? जो ज्ञात नहीं है, वह अज्ञात है। ज्ञात होते हुए भी कोई बात अज्ञात कैसे रह सकती है? अतः अज्ञात अथवा अचेतन को स्वीकार न करना युक्तियुक्त और संगत प्रतीत नहीं होता।

उपज्ञात (उपचेतन) भी ज्ञप्ति की ही एक छाया है। कोई अज्ञात नहीं है, वह भी ज्ञप्ति की एक छाया है, यह बात सिद्धान्तः मानी जा सकती है, किन्तु इससे किसी प्रकार का प्रयोजन नहीं सिद्ध होता। 'मृत्यु' कुछ नहीं है, यह जीवन की एक दशा है, अन्धकार कुछ नहीं है, यह आलोक का ही एक रूप है—यह कहने को तो ठीक हो सकता है, किन्तु व्यवहार में इसके अनुसार चलना असम्भव है। यदि कोई कहे कि मृत्यु है ही नहीं, वह जीवन की ही एक दशा है, अतः मरने से बचने का प्रयत्न करना व्यर्थ है, तो वह पागल समझा जायगा। उसी प्रकार यह कहना भी पागलपन है कि जब अन्धकार भी आलोक की ही छाया है तब दीपक जलाने की क्या आवश्यकता है। कुछ लोग जिसे उपज्ञात (उपचेतन) का नाम देना पसन्द करते हैं, वह बहुत प्रयास से ज्ञात होता है। ज्ञात होने के बाद प्रायः देखा जाता है कि व्यक्ति की अन्य ज्ञात चित्तवृत्तियों में और उसमें भारी अन्तर तथा घोर विरोध है। एक ही जगह एक ही ज्ञप्ति में दो विरुद्ध चित्तवृत्तियाँ रह सकती हैं, यह

१—Unconscious.

२—Subconscious.

बात सुकठिन है। अतः कुछ वृत्तियों को तिरोभूत अथवा निरुद्ध और कुछ वृत्तियों को उद्भूत अथवा व्युत्थित समझना सबसे सरल और साधु मार्ग है। ऐसी वृत्तियों को उपज्ञात (उपचेतन) को नाम देना भारी भ्रम है। 'उपज्ञात' शब्द से कोई स्पष्ट प्रतीति नहीं होता। 'उपज्ञात' का अर्थ ज्ञात से नीचे, अथवा जो ज्ञात है, किन्तु है अपर्याप्त मात्रा में, ऐसा मालूम नहीं होता। उपज्ञात एक चैत्तभूमि का नाम है अथवा वह कोई गुण-विशेष है, यह स्पष्ट नहीं होता। अतः इन सब कारणों से अज्ञात को चित्त का एक भाग मानना उचित प्रतीत होता है।

ज्ञात वृत्तियों के कारणों की खोज, सामाजिक राष्ट्रीय आदि आन्दोलन, शिक्षण-पद्धति, धार्मिक सम्प्रदाय, आदत, विज्ञापन, प्रस्वाप (सम्मोहन), चित्त-विश्लेषण द्वारा चिकित्सा आदि से अज्ञात भूमि का अस्तित्व स्पष्ट सिद्ध हो चुका है। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त और प्रयोगों से भी उसकी सिद्धि होती है। ऋषियों की वाणी से भी यह प्रतीत होता है कि वे लोग अज्ञात की शक्ति को पहचानते थे। अज्ञात और ज्ञात के युद्ध कई ग्रन्थों में देवासुर-संग्राम के रूप में वर्णित है। सहज वासनाओं और सामाजिक संस्कारों के बीच घोर युद्ध होता है। हम चाहते हैं कि उन्नति के मार्ग में जायँ, परन्तु कोई अज्ञात चैत्त शक्ति हमें उस मार्ग से अलग ढकेल ले जाती है। इसी शक्ति का उल्लास सर्वत्र दिखाई पड़ता है। ज्ञात इसी अज्ञात शक्ति के हाथों का कठपुतला है।

'जानामिधर्मंनचमेप्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न चमे निवृत्तिः
केनापि देवेनहृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथाकरोमि'।
'बध्नाति काचिदपि शक्तिरनन्तशक्तेः
क्षेत्रज्ञमप्रतिहता भवपाश जालैः'—अवधूतसिद्धपादैः।

अनन्त शक्ति की कोई शक्ति भव-पाश-जाल से जीव को बाँधती है, और वह शक्ति अप्रतिहत है। सारा संसार उसी अज्ञात शक्ति-समुद्र की ऊर्मि-लीला है।

चित्त के अव्यक्त या अज्ञात भाग की सिद्धि के लिए प्रायः साधारण जीवन पर ही विचार किया गया है, जो कि प्रत्यक्ष है, और दैनन्दिन जीवन में सदा अनुभवगोचर है। इसके अतिरिक्त जीवन के और भी दो अंग हैं:—असाधारण (abnormal) और अतिसाधारण (supernormal) भाग, जिनका केवल दिग्दर्शन मात्र इस अध्याय में किया गया है।

एक ही जीवन में मुख्य और गौण पुरुषों[१] में पर्यायक्रम से विभक्त होना, जीवन में पुरुष का आमूल परिवर्तन होना, दूरदर्शन, दूरश्रवन, दूरभाव-ग्रहण, महापुरुषों के विचित्र व्यवहार, कवि-ऋषिजनों की स्वतः स्फूर्ति, प्रत्यादेश, ध्यान, समाधि आदि जीवन की असाधारण और अतिसाधारण लीलाओं पर विचार करने से अव्यक्त या अज्ञात चित्त अर्थात् अचेतन के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता।[२]

१—Primary and secondary Personalities.
२—देखिये, F. W. H. Myers : Human Personality and its survival of Bodily Death, chap. II & III.

तीसरा अध्याय

अहंकार, ज्ञात और अज्ञात

सांख्य का कहना है कि अभिमान ही अहंकार है। अभिमान सदा नहीं होता। विषय के साथ व्यक्ति का सन्निकर्ष होने पर विषय का और अहंता का बोध होता है। विषय को देखनेवाला अहंकार[1] है, अथवा दृश्य का द्रष्टा अहंकार है। विषय और व्यक्ति के सम्बन्ध में तीन मुख्य बातें हैं—(१) 'विषय', (२) 'क्रिया' और (३) 'ज्ञाता'। दूसरे शब्दों में 'अहं' देखता है, देखना 'क्रिया' है और जिसे देखता है, वह 'विषय' है। इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध होने पर ज्ञाता को कर्तृत्व का जो अभिमान होता है, वही अहंकार है। बच्चे से वृद्ध तक सभी इसी अहंकार को केन्द्र बनाकर व्यवहार चलाते हैं। व्यक्ति के सभी कार्य इसी की सन्तुष्टि के लिए, इसी के स्वार्थ के लिए अथवा काम के लिए होते हैं। 'आत्मनः कामाय सर्वं प्रियं भवति।' अन्य व्यक्तियों के साथ व्यवहार करते समय तथा अपने आचरण में, सर्वत्र अहंकार का ही साम्राज्य है। अहंकार का अस्तित्व विषय के बोध अथवा उसके अस्तित्व पर निर्भर है। विषय न रहे तो अहंकार भी लुप्त हो जाता है। विषय के सम्बन्ध से ही अहंता का बोध होता है।

'अहं' अपने को बाह्य विषयों से मिलाकर अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए चक्र स्थापित करता है। कुटुम्ब, जाति, समाज, राष्ट्र आदि सभी मण्डल इसी के चक्र हैं। सभी में व्यक्ति अपनी अहंता को फैलाता है और उन्हें अपना कहने लगता है। 'मेरी स्त्री', 'मेरा पुत्र', 'मेरे बन्धु', 'मेरी जाति', 'मेरा कुल', 'मेरे देशवासी', 'मेरा तन', 'मेरा धन', 'मेरा मन', इस प्रकार की तादात्म्य-भावना दृढ़ होती जाती है। इसी तादात्म्य से व्यवहार सिद्ध होता है। यदि व्यक्ति को 'नमे' (मेरा नहीं है) का ज्ञान हो जाय तो 'नास्मि', 'नाहं' (मै नहीं हूँ, मैं नहीं) का भी ज्ञान हो जाता है।

अहंकार का स्थान अन्तःकरण में प्रधान है। अबतक हमने सारे चित्त-यन्त्र के दो विभाग किये हैं– ज्ञात और अज्ञात अथवा चेतन और अचेतन। ज्ञात और अज्ञात दोनों दृश्य हैं और अहंकार देखनेवाला है; वही करनेवाला है। अहंकार ही ज्ञाता, कर्त्ता और धर्ता है। योगवासिष्ठ का कहना है—

'जानुस्तम्भेन महता धार्यते स तरुर्यथा।
अहंकारेण देहो यं तथैव किल धार्यते॥

१—Ego, I.

अहंकारक्षये देहं किलावश्यं विनश्यति ।
मूलेक्रकचसंलूने सुमहानिव पादपः ॥[१]

महान् वृक्ष जिस प्रकार से अपने तने के कारण खड़ा होता है, उसी प्रकार अहंकार ही देह का धारण करता है। मूल को आरे से काटने पर जैसे पेड़ गिर पड़ता है, उसी प्रकार अहंकार के नाश से शरीर विनष्ट हो जाता है।

अहंकार की प्रधानता का मूल किसमें है? अहंकार किस प्रकार और किससे उत्पन्न हुआ? उसमें और हृदय में क्या सम्बन्ध है? किन नियमों के वशीभूत होकर, अहंकार काम करता है? ये सभी प्रश्न विचारणीय हैं। साधारण व्यक्ति अपने अहंकार को ही सबसे समीप समझता है। अहंकार के कारण वह काम करता है। वह जानता है कि वही काम करता है। 'मैं काम करता हूँ। मैं जानता हूँ। मैं चाहता हूँ।' इस प्रकार साधारण व्यक्ति के ज्ञान, भाव तथा क्रियाओं का नियामक अहंकार है। अहंकार मन की सभी बातें जानता है। वह ज्ञात चैत भूमि में रहता है। कहने का तात्पर्य यही है कि सभी ज्ञान के मूल में अहंकार ही पाया जाता है, क्योंकि उसमें एक प्रकार की शक्ति है जिसे हम ज्ञप्ति-विशिष्ट अथवा चेतन कह सकते हैं। यही चेतन मन को चलाता है। मन अति चंचल कहा जाता है। शरीर-रूपी घोड़े को चलानेवाला प्रकट मन है और वह प्रकट मन अथवा चेतन अहंकार के हाथ में है। इसी अहंकार के अधिकार में मन की सारी शक्ति रहती है। मन स्वयं स्वाधीन नहीं है। योगवाशिष्ठ मन को जड़ कहता है :—

'मनश्चैवं जडं मन्ये संकल्पात्मकशक्ति यत् ।
क्षेपणैरिव पाषाणः प्रेर्यतेबुद्धिनिश्चयैः ॥
बुद्धि-निश्चय-रूपैवं जड़ा सत्तैव निश्चयः ।
खातेनेव सरिन्नूनं साहंकारेण वाह्यते ॥[२]

अर्थात् संकल्पात्मक शक्ति जो मन है वह भी जड़ है, क्योंकि वह फेंके गये निश्चयों द्वारा पत्थर के समान प्रेरित होता है। बुद्धि निश्चय-रूपी सत्ता की जड़ ही है। जिस प्रकार खाई अर्थात् गड्ढे के अनुसार नदी का बहाव होता है, उसी प्रकार अहंकार के अनुसार ही बुद्धि का बहाव होता है। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार नदी के बहाव को आगे का कटान (खाई) निश्चित करता है, उसी प्रकार बुद्धि निश्चयों का नियमन अहंकार करता है।

अहंकार बुद्धि और मन दोनों का प्रभु है। यह अपने स्थान के कारण वाह्य प्रपंच का अत्यन्त निकटवर्ती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अहंकार का वास्तविक कोई स्थान चित्त-यन्त्र में है। अहंकार भी एक चित्तवृत्ति का ही नाम है। चित्तवृत्तियों का पौर्वापर्य दिखाने के लिए, उनके व्युत्थान और निरोध-संस्कारों के क्रमविकास को

१—योगवासिष्ठ, उपशम-प्रकरण, सर्ग १६, ३-४।
२—वही, निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्द्ध, सर्ग ७८, २०-२१।

स्पष्ट करने के लिए चित्त-यन्त्र का एक भौतिक चित्र खींचा जाता है, और उसमें क्रम-भेद से स्थान-निर्देश किया जाता है। इस प्रकार के स्थान-निर्देश में, ज्ञान और अहंकार का स्थान वाह्य प्रपञ्च के अत्यन्त निकट है; क्योंकि अहंकार और वाह्य प्रपञ्च का सन्निकर्ष ही ज्ञान का कारण है। इसके स्थान के सम्यग्बोध के लिए चित्त-यन्त्र की तुलना एक जीवत्कोशिका से करते हैं।[१] थोड़ी देर के लिए हम यह मान लें कि मन अथवा चित्त एक जीवत्कोशिका[२] है, जो एक ऐसे जगत् में है जहाँ चतुर्दिक से उसमें भाँति-भाँति की संवेदनाएँ प्रवेश कर रही हैं और उसे संक्षुब्ध कर रही हैं। पहले वह कोशिका शान्त थी, क्योंकि उसकी शान्ति में बाधा पहुँचानेवाली कोई संवेदना थी ही नहीं, किन्तु अब संक्षुब्ध होने से उस कोशिका में एक प्रतिक्रिया प्रारम्भ होगी, जो वाह्य संवेदनाओं को निकालकर कोशिका को पूर्व स्थिति में पुनः स्थापित करने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार यदि कोशिका को संक्षुभित होने से बचाना है तो आनेवाली संवेदनाओं के परिज्ञान पर ही उस प्रतिक्रिया की सफलता निर्भर होगी। अतः इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए जीवत्कोशिका अपनी शक्तियों के एक प्रचण्ड रूप को वाह्य जगत् और अपने बीच में स्थापित करेगी। वही शक्ति अहंकार है। यह अहंकार वाह्य संवेदनाओं को जानता है, और उन्हें दूर करने का जीवत्कोशिका की रक्षा करने का प्रयत्न करता है। इसी कारण अहंकार को योगवासिष्ठ ने देह का धारण करनेवाला बताया है। अतः अहंकार कर्तृरूप से, व्यक्ति के भीतर वाह्य जगत् के अत्यन्त निकट रहता है। वह जानकर संवेदना-प्रवाह का प्रतिरोध कर सकता है, क्योंकि जानकर ही क्रिया की जा सकती है। ज्ञान के बाद इच्छा और इच्छा के अनन्तर क्रिया होती है। अतः अहंकार का राज्य अर्थात् ज्ञाता का राज्य ज्ञानभूमि है, जो सदा ज्ञप्तियुत् अथवा चेतन रहती है। इस कारण ज्ञान-भूमि भी वाह्य संसार के समीप रहती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि विषय-रूप से ज्ञात और ज्ञातृ अथवा चेतन रूप से अहंकार वाह्य संसार का समीपवर्ती है। इस प्रकार ज्ञानभूमि को और उसके साथ-साथ ज्ञानवृत्ति को चित्तयन्त्र के उपरितम तल पर मानना शारीरिक दृष्टि से भी दोषयुक्त नहीं है। शरीर-विज्ञानविद् भी ज्ञप्ति का स्थान चित्तयन्त्र का अर्थात् मस्तिष्क का[३] उपरितम तल बताते हैं। डा० फ्रायड का कहना है, 'ऐसा मानने में हमने कोई नवीन बात नहीं निकाली। मस्तिष्क-रचना-शास्त्र के अनुसार ज्ञप्ति का जो स्थान-केन्द्र-यन्त्र के उपरितम तल में माना गया है, उससे हमारी सहमति है, अर्थात् इस विषय में हम एकमत हैं। शरीर-रचना-शास्त्र-विशारदों को इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि ज्ञप्ति का स्थान मस्तिष्क के किसी निगूढ़ स्थान में न मानकर उसके उपरितम भाग में ही क्यों माना गया है।'[४]

१—S. Freud : Beyond the Pleasure Principle, p. 29.

२—Living cell.

३—Cerebral Cortex, Cortical centres of the brain.

४—We then note that in this assumption we have ventured nothing new, but are in agreement with the localising tendencies of cerebral anato-

हमने ऊपर अहंकार के स्वरूप पर प्रकाश डाला। अब हम उसके स्थान को एक वृक्ष की तुलना द्वारा और विशुद्ध रूप से समझ लें। प्रथमतः वृक्ष अंकुर की दशा में अत्यन्त कोमल रहता है। धीरे-धीरे वह बढ़कर एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है और उसकी छाल बहुत ही कड़ी हो जाती है। प्रश्न होता है, वह आरम्भिक कोमल अंकुर अपने आहार का अधिक भाग व्यय करके वाह्य संसार में अपने ऊपर कठोर छाल क्यों मढ़ लेता है ? वह ऐसा इसीलिए करता है कि वह बाहर के आघातों, वेदनाओं आदि से अपने भीतर के मुख्य एवं कोमल भागों की रक्षा कर सके। ज्ञप्ति की भूमि भी इसी प्रकार से वाह्य तल में है। भेद केवल इतना ही मालूम होता है कि उसमें ज्ञप्ति है। वृक्ष की ऊपरी छाल निकालने से क्रमशः कोमल और सूक्ष्म तहों का पता चलता जाता है। कठोर छाल की आड़ में वे सभी छालें अपनी रक्षा करती हैं और उन्हीं की रक्षा से वृक्ष की रक्षा होती है, क्योंकि वृक्ष की सारी प्राण-शक्ति छालों की तहों में अवस्थित स्पन्दित होती रहती है। इसी प्रकार ज्ञात और अहंकार के निम्न तल में भी चित्त का कोई भाग अवश्य रहना चाहिए, जो उसकी उत्पत्ति एवं रक्षा के मूल में है। और ऐसी तहें चित्त में भी अवश्य हैं जो ऊपर से दिखाई नहीं पड़तीं, किन्तु उनसे अहंकार और ज्ञात को अपनी क्रिया-शक्ति प्राप्त होती रहती है। ज्ञात का स्वभाव ही है इन तहों का पता चलाना। ज्ञात की सभी वृत्तियाँ क्षणभंगुर हैं। कोई बात उसी स्वरूप में ज्ञात के आलोक में नहीं रहती। हमारी सभी इन्द्रियों से अनवरत संवित्प्रवाह चित्त में प्रवेश करता रहता है। हमें अनेक वस्तुओं की इन्द्रियानुभूति होती रहती है, किन्तु सभी संवेदनाओं एवं वस्तुओं के सभी अंग-प्रत्यङ्गों का न ज्ञान होता और न स्मृति ही रहती। हम यह नहीं कह सकते कि किसी वस्तु में ठीक-ठीक किन-किन वस्तुओं का समावेश है। नेत्रगोलक के पटल में प्रकाश-लहरियों द्वारा दृश्य जगत् का प्रतिबिम्ब पड़ता है। सारा संसार तो इन्द्रिय-गोचरता में है, किन्तु हमें सदा उसका ज्ञान नहीं रहता। मान लीजिये हम सङ्गीत सुन रहे हैं। अनेक वाद्यों की सुरीली ध्वनि मिलकर कर्णमधुर तान बन जाती है। ध्वनि की समरसता के कारण हम कह नहीं सकते कि कौन-सी ध्वनि किस वाद्य की है। उसे ठीक-ठीक जानने के लिए एकाग्रता की आवश्यकता है। उदाहरण लीजिये। हमने कोई दृश्य देखा। जब हम उसका वर्णन करने बैठते हैं तब आरम्भ में स्थूल बातें ही स्मृतिगोचर होती हैं, किन्तु क्रमशः छोटी-छोटी बातें भी अपने-आप स्मरण में आने लगती हैं। ऐसी मनःस्थिति में हम यह अनुभव करते हैं कि कई बातें हमसे छूट भी गई हैं। ये ही बातें अज्ञातगत विषय हैं। 'अज्ञात' शब्द का तात्कालिक अर्थ है ऐसी वृत्तियों का मानस-संसार जो हमारे अहंकार के क्षेत्र के बाहर है। किन्तु थोड़े प्रयत्न से अथवा कालान्तर में वे

---

my which places the 'seat' of consciousness in the cortical layer, the outer most enveloping layer of the central organ. Cerebral anatomy does not need to wander why, anatomically speaking, consciousness should be accomodated on the surface of the brain, instead of being safely lodged somewhere in the deepest recesses of it.

—S. Freud ; Beyond the Pleasure Principle, p. 27.

स्वतः ज्ञात हो जाती हैं। ऐसी वृत्तियों को जो किसी क्षण में अज्ञात रहती हैं, पर ज्ञात हो सकती हैं, अज्ञात वृत्तियाँ कहते हैं। वे अज्ञात अनुद्भूत हैं, व्यक्त हैं, अव्यक्त हैं, किन्तु वे ज्ञात, उद्भूत और व्यक्त हो सकती हैं।

हमने गत अध्याय में अज्ञात की सिद्धि करते हुए यह दिखाया है कि कई ऐसी भी बातें और भावनाएँ मन में अज्ञात रूप से रहती हैं जो कभी भी ज्ञात नहीं होतीं, जिनको व्यक्ति जानता ही नहीं, जिनको वह अपना 'प्रारब्ध' कहकर 'भालपट्टलिखित' कहकर बताना चाहता है। प्रस्वाप (सम्मोहन) की स्थिति में रोगी उन बातों का उल्लेख करते हैं जो उनके बाल्यजीवन से अत्यन्त सम्बद्ध रहती हैं और जिनके आवेग में वे सभी ज्ञात कार्य करते रहते हैं। ऐसे रोगी साधारण स्थिति में उन बातों को बता नहीं सकते। चाहे हम कितना भी प्रयत्न करें, वे बातें ज्ञानगोचर नहीं हो पातीं। उन्हें केवल 'केनापिदेवेन', 'काचिदापिशक्ति' कहकर प्रकट किया जाता है।

इस प्रकार अज्ञात चित्त के दो भाग प्रतीत होते हैं—एक तो वह है जो अज्ञात रहता है पर ज्ञात हो सकता है, और दूसरा वह जो अज्ञात ही है। प्रथम भूमि स्वरूप से अज्ञात होते हुए भी अपने गुण से अथवा कार्यकरणशक्ति से ज्ञात का ही अङ्ग मालूम पड़ती है। दूसरी भूमि स्वरूप से और क्रिया से भी अज्ञात ही है। इस भेद को स्पष्टतः दिखाने के लिए हम अज्ञात के इन दो भेदों को भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से पुकारेंगे—प्रथम ज्ञाताज्ञात है और दूसरा अज्ञात। इस प्रकार दृश्य चित्त की तीन भूमियाँ बनीं—(१) ज्ञात, (२) ज्ञाताज्ञात और (३) अज्ञात।

इसी प्रकार यह भी देखना चाहिए कि अहंकार के भी कोई भेद है या नहीं अथवा अहंकार का विश्लेषण हो सकता है या नहीं। प्रायः हमारी यह अनुभूति है कि हम कभी-कभी अपने से भी कुछ छिपाने का प्रयत्न करते हैं। कभी-कभी हम अपने में घोर युद्ध छिड़ते देखते हैं। लगता है, कोई कह रहा है : 'अमुक काम करो' और फिर दूसरा स्वर गूँज उठता है : 'मत करो'। हम कुछ बातें याद करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु उन बातों को कोई स्मृतिगोचर होने से रोकता हुआ प्रतीत होता है। चित्त-विश्लेषण की प्रणाली द्वारा इसका प्रत्यक्ष प्रमाण शिक्षकों के सामने अथवा गुरुजनों के पास मिलता है। चित्त-विश्लेषण की प्रक्रिया में वैद्य रोगी के सभी अज्ञात-निरुद्ध अथवा अचेतन में दबे या फँसे विचारों को प्रकट करने का प्रयत्न करता है। कुछ दिनों के बाद रोगी वैद्य के प्रयोगों का प्रतिरोध करता है। वह यह नहीं जानता कि वह प्रतिरोध उत्पन्न कर रहा है। प्रतिरोध उठ खड़ा होता ही है। मालूम होता है, (भीतर से) कोई अज्ञात विषयों को ज्ञात बनाने से रोक रहा है। रोगी उन बातों को प्रकट करने का प्रयत्न करता है, किन्तु लगता है, उसे अनुभूति होती है कि कोई अज्ञात शक्ति उन बातों को दबा रही है और बाहर नहीं आने देती। गुरुजनों के समक्ष अपने अपराध को स्वीकार करते समय हममें दो प्रकार के संकल्प मालूम पड़ते हैं : (१) 'अपराध स्वीकार करो, यह उत्तम मार्ग है' और (२) 'स्वीकार मत करो, तुम्हारा गौरव चला जायगा।' इस प्रकार का द्वन्द्व चलता रहता है। इस प्रकार की परम्परा-विरोधी स्थिति

की प्रतीति सभी को हुई होगी। हमारे अहंकार को इस प्रकार द्वन्द्वमूलक स्थिति का सामना करना पड़ता है। साधु और असाधु, सुकर्म और कुकर्म, धर्म और अधर्म इनका झगड़ा इन्हीं दो वाणियों में हुआ करता है। साधु अगस्टेन ने इन दोनों वाणियों के युद्ध का अच्छा वर्णन किया है; इन दो वाणियों ने, जिनमें एक पुरानी और दूसरी नवीन, एक कामुक और दूसरी आध्यात्मिक है, आपस में युद्ध ठान लिया और मेरे अन्तःकरण में अशान्ति फैला दी। मैंने अपने अनुभव से समझ लिया कि मैंने जो पढ़ा है कि 'शरीर आत्मा के विरुद्ध प्रवृत्त होता है और आत्मा शरीर के विरुद्ध', इन दोनों के परस्पर विरुद्ध होने के कारण जो तुम चाहते हो वह नहीं कर सकते, यह ठीक है। इन दोनों वाणियों में मैं अपने को ही पाता था, तथापि मैं उस वाणी को जो मुझे प्रिय थी, अधिक पसन्द करता था। पृथ्वी के भोग-विषयों से आसक्त रहकर, हे भगवन्! मैंने तेरे पक्ष में युद्ध करने से इनकार कर दिया मानो सांसारिक भोगों और बन्धनों को छोड़ना मुझे दुःखद था। मैं यह निस्सन्देह जानता था कि तेरे प्रेम के हाथों अपना समर्पण करना श्रेयस्कर है, यह मुझे युक्तियुक्त मालूम होता था, किन्तु अपने कामों के वशीभूत होना मुझे प्रिय था। अतः उसके पंजे से मैं नहीं छूट सका। तूने मुझे जगाया 'ऐ मन्दबुद्धि, जागो!' तथापि उसका उत्तर मेरे अन्तःकरण से कुछ नहीं निकला। धीरे-धीरे मैंने कह दिया 'अभी शीघ्र ही तदनुसार करता हूँ, थोड़ा अभी रुको'; किन्तु 'अभी' का 'अब' आया ही नहीं और 'थोड़ी देर' ने 'अति दीर्घ' का रूप पकड़ लिया। मुझे इस बात की शंका थी कि तू मेरी विनती शीघ्र सुनेगा और मुझे अपने मोह और लोभ से उबारेगा, जिन्हें बुझाने के बदले मैं तृप्त करना चाहता था।'[१]

१—So these two wills, one old, one new, one carnal, the other spiritual, contented with each other and disturbed my soul, I understand by my own experience what I had read, 'flesh lusteth contrary to the spirit, and spirit contrary to the flesh; and these two are one against another, so that ye cannot do the things that ye would do. (Paul).' It was myself in both these wills, yet more myself in that which I approved in myself than in that which I disapproved in myself······Shall bound to earth I refused O! God! to fight on thy side, as much afraid to be free from all bonds as I ought to have feared being trembled by them.........'Even so I was sure it was better to surrender to thy love than to yield to my own lusts, yet, though former course convinced me, the latter pleased and bound me. There was naught in me to answer thy call, 'Awake thou sleeper!' but only drawling drowsy words, 'Presently; yes presently, wait a little while!' But the 'presently' had no 'present' and the 'little while' grew long... For I was afraid than wouldst hear me too soon, and heal me at once of my disease of lust: which I wished to satiate rather than to see extinguished......'

William James : The Varietes of Religious Experience, p. 172.

महाकवि गेटे ने भी इसी प्रकार के अन्तर्युद्ध का चित्र खींचा है—

उफ्, मेरे अन्तर में
बैठे दो-दो सत्त्व
लड़ते रहते स्वाधिपत्य के लिए बराबर :
उनमें एक,
हठीली कांक्षा का सम्बल ले
व्याप्त हो रहा
अब भी मेरे तन-अंगों में;
किन्तु इसी कुहरे के ऊपर
जो अभिकांक्षा उग्र पुनीत
बढ़ने को इच्छुक रहती है
वहाँ, जहाँ पर पूत लोक हैं।
× × ×
सो जाते अपवित्र कर्म सब,
और सभी उत्तेजक भाव
वेगवती इच्छाएँ सारी
और पकड़ता सुविवेक है—
अपनी वाणी।[१]

इसी प्रकार मनुष्य का अहंकार भी द्विधा है। एक उत्तम मार्ग की ओर प्रवृत्त होना चाहता है और दूसरा अधर्म मार्ग की ओर। यही देवासुर-संग्राम है। उत्तम अहंकार को डा० फ्रायड शिष्टाहंकार (Super Ego) कहते हैं।

१—Two souls, alas ! are lodged within my breast,
Which struggle there for undivided reign :
One to the world, with obstinate desire,
And closely cleaving organs, still adheres;
Above the mist, the other doth aspire,
With sacred vehemence, to purer spheres.
× × ×
In us the better soul doth waken,
With feeling of foreboding awe
All lawless promptings, deeds unholy,
Now slumber, and will desires;
'Reason her voice resumes...'
—Faust, Night, Part I.

और भी 'The man's interior is a battle ground for what he feels to be two deadly hostile selves, one actual and the other ideal'. *William James : The Varieties of* Religious Experience, p. 171.

इस प्रकार चित्त-यन्त्र के मुख्य दो भाग हैं : (१) ज्ञाता और (२) ज्ञेय। ज्ञाता दो प्रकार का है : (१) शिष्टाहंकार और (२) अहंकार। ज्ञेय तीन प्रकार का है : (१) ज्ञात, (२) ज्ञाताज्ञात और (३) अज्ञात। अब हम चित्त-यन्त्र के भागों के कार्यों के विषय में विवेचना उपस्थित करेंगे। हमने ऊपर कहा है कि अहंकार और ज्ञात वाह्य-संसार के अत्यन्त निकटवर्ती हैं और हमने इसे स्पष्ट करने के लिए वृक्ष और जीवत्कोशिका से इसकी तुलना की है। इन्हीं तुलनाओं से चित्तयन्त्र के कार्य भी स्पष्टतः मालूम हो सकते हैं। हमने यह भी कहा है कि जीवत्कोशिका के उपरितम तल में ज्ञप्ति है और इसी कारण वह ज्ञान, भाव और क्रिया को चलानेवाला स्थान है। वास्तव में ज्ञात ही युद्ध-रङ्ग है। वह अपने स्थान के कारण मध्यस्थ है। एक ओर वाह्य संसार है और दूसरी ओर अज्ञात चित्त है। इन दोनों के बीच में अहंकार और ज्ञात हैं। अब हम दोनों को विषय की सुकरता के लिए 'अहं' ही कहेंगे। अहं मध्यस्थ है। उसके ऊपर वाह्य संसार से संवेदनाएँ आघात करती हैं तथा अन्तरङ्ग से संवेदनाएँ सुख, दुःख आदि का रूप धारणकर 'अहं' पर अपना प्रभाव डालती हैं। 'अहं' वृक्ष के बाहर की छाल के समान है जो अपना बल अन्दर की तहों से ग्रहण करता है और अन्दर की तहों को बचाता है। सेनाग्र में रहने के कारण उसको बार-बार सजग रहना पड़ता है। उसके लिए जो नियम लागू होते हैं, वे भीतर की तहों के लिए नहीं लागू होते। सेना में भी यही बात देखी जाती है। सेना के दो भाग रहते हैं। एक अग्र भाग और दूसरा पीछे का। अग्र भाग में बड़े कठोर नियमों का पालन करना पड़ता है। वह सदा वाह्य रूप से, शत्रु-सेना से, मुठभेड़ करने को तैयार रहता है। उसमें क्रम आदि बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। स्थान-विशेष में अवस्थित होने के कारण अग्र भाग में रहनेवालों के दोष क्षम्य नहीं माने जाते; उन्हें अपने दोषों के लिए कठिन दण्ड भोगना पड़ता है। वहाँ के सिपाही आपस में नहीं लड़ सकते। सभी अपने-अपने स्वार्थ छोड़कर एकाग्र और एक ही उद्देश्य से प्रेरित रहते हैं। वे सब भाई हैं। इसके विरुद्ध यदि कोई काम करता दिखाई पड़ता है तो वह मार डाला जाता है। किन्तु उसी सेना के पीछे के भाग में रहनेवाले सिपाहियों की बात कुछ और ही है। उन्हें इतने कठोर नियमों का पालन करना नहीं पड़ता। उनका अपना-अपना स्वार्थ होता है। उनमें विनय का उतना जोर नहीं रहता। वे सभी मिलकर किसी उद्देश्य से प्रेरित नहीं रहते, किन्तु उन्हीं से अग्र भाग की रक्षा होती है। अग्र भाग के लिए आवश्यक सामान रसद आदि पहुँचाने का भार इसी पर निर्भर करता है। नाटक में भी यही बात होती है। नट अभिनय करता है। प्रेक्षक आनन्द पाते हैं। किन्तु नाटक की सफलता उसपर उतनी निर्भर नहीं करती जितनी कि परदे के पीछे रहनेवालों पर। प्रेक्षकों के सामने नट अवश्य रहता है, पर नाटक का प्राण वस्तुतः नेपथ्य में है। इसी तरह अहंकार दूसरे नियमों का पालन करता है और अज्ञात दूसरे नियमों का। अहंकार क्रम चाहता है, त्याग चाहता है और चाहता है विनय। उसके निरीक्षण में यदि कोई भाव दूसरे भाव से मुठभेड़ करे तो वह तुरत उसे निकाल बाहर करने का प्रयत्न करता है। वह शत्रु को देखता है और उससे लड़कर भीतर की तहों की रक्षा करता है। अहंकार

के क्रमबद्ध रूप के ही कारण, भीतर की तहें उतनी क्रमबद्ध नहीं रहती। इस कार्य में उसे भीतर की तहों से अज्ञात से शक्ति प्राप्त होती है। हम ज्यों-ज्यों अहंकार से अज्ञात की ओर बढ़ते हैं वैसे-वैसे क्रम का महत्त्व भी घटता जाता है; और अज्ञात में कोई क्रम, कोई नियम नहीं रह जाता क्योंकि वहाँ की वृत्तियाँ स्वच्छन्द हैं। अज्ञात और अहंकार के बीच में होने के कारण ज्ञाताज्ञात में दोनों के कार्यों का मिलाप है। अहंकार को इसी ज्ञाताज्ञात से शक्ति प्राप्त होती है। अहंकार के जितने कार्य हैं उन सबके क्रियान्वित होने के लिए ज्ञाताज्ञात से ही शक्ति और वेग की सहायता मिलती है। प्रसिद्ध विचारक विलियम जेम्स का कथन है :

'हमारा अतीत स्मृति-भाण्डार इसकी (ज्ञात) सीमा के परे है, यह व्युत्थित होने के लिए सदा सन्नद्ध रहता है, और ज्ञात की जितनी रक्षित एवं शेष शक्ति है, जितनी प्रेरणाएँ हैं, जितनी बातों का ज्ञान है सभी उसके बाहर से उत्पन्न हुए हैं। व्यक्त और अव्यक्त, उद्भूत और अनुद्भूत की विभाजक रेखा इतनी अस्पष्ट है कि किसी समय कौन-सी बात ज्ञात है और कौन-सी अज्ञात, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।[१]

अहंकार की सभी क्रियाएँ इसी अज्ञात अथवा ज्ञाताज्ञात के बल पर होती हैं। मनुष्य का स्वास्थ्य और आधिव्याधियाँ इसी पर निर्भर हैं। अहंकार उस सवार के समान है जो कभी-कभी घोड़े की इच्छा के अनुसार भी चलता है। घोड़ा सदा सवार की इच्छा के अनुसार नहीं चलता। कभी-कभी घोड़े की चाह के अनुसार भी सवार को जाना पड़ता है। अहंकार इस प्रकार अज्ञात का प्रभु और दास दोनों है। प्रभु इस अर्थ में है कि उसकी सभी क्रियाएँ उसी की निगरानी में होती हैं : अहंकार के बिना अज्ञात बाह्य संवेदनाओं के वेग में भस्मीभूत हो जायगा। दास इस अर्थ में है कि अपने ही बल के लिए उसे दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि वह अज्ञात का ही परिमार्जित रूप है। बात यह है कि पहले वह भी पीछे था, कालान्तर में सुचारु रूप से सङ्गठित होकर शत्रु से मुकाबला करने के लिए 'अहंकार' के रूप में अग्रसर हुआ। ऊपर वर्णित उपमा के अनुसार वह वृक्ष की उस तह के समान है जिसने बाहर की चोट खाने के लिए अपने बाह्य रूप को सजग और स्थूल बना लिया है, किन्तु स्वयं जीवित रहने के लिए भीतरी तहों से आवश्यक रस लेने के लिए, अपने भीतर कोमलता बनाये रखती है। मानव की चित्त-शान्ति के लिए, उसे आधिव्याधियों से

१—Our whole past store of memories floats beyond this margin, ready at a touch to come in; and the entire mass of residual powers, impulses and knowledge that constitute our empirical self stretches continuously beyond it. So vaguely drawn are the out-lines between what is actual and what is only potential at any moment of our conscious life, that it is always hard to say of certain mental elements whether we are conscious of them or not.'

—*W. James : The Varieties of Religious Experience, p. 232.*

बचाने के लिए इस प्रकार की यन्त्र-रचना आवश्यक-सी है। यदि अहंकार ने अपना काम छोड़ दिया तो अज्ञात ही अर्थात् सेवा के पीछे का भाग ही उसपर अपना क्रोध प्रकट करेगा, उसे गोली से अथवा व्याधि से मार डालेगा। योगवासिष्ठ ने आधिव्याधि की सम्प्राप्ति का अच्छा वर्णन किया है जिससे स्पष्टतः विदित हो सकता है कि यदि अज्ञान से अहंकार अपना स्थान छोड़ दे अथवा कार्य छोड़ दे तो उसे कैसी यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। उसका कहना है:—

'देहदुःखं विदुर्व्याधिमाध्याख्यं वासनामयम्।
मौर्ख्यमूले हि ते विद्यास्तत्त्वज्ञाने परिक्षयः॥१४
चित्ते विधुरिते देहं संक्षोभमनुयात्यलम्।
तथाहि रुषितो जन्तुरग्रमेव न पश्यति॥३०
अनवेक्ष्य पुरो मार्गममार्गमनुधावति।
प्रकृतं मार्गमुत्सृज्य शरार्तो हरिणो यथा॥ ३१
संक्षोभात्साम्यमुत्सृज्य वहन्ति प्राणवायवः।
देहे गजप्रविष्टेन पयांसीव सरित्तते॥३२
असमं वहति प्राणे नाड्यो यान्ति विसंस्थितिम्।
असम्यक् संस्थिते भूपे यथावर्णाश्रमक्रमाः॥३३
काश्चिन्नाड्यः प्रपूर्णत्वं यान्ति काश्चिच्च रिक्तताम्।[१]

व्याधि देह का दुःख है। वासनामय दुःख आधि है। मूर्खता से आधि होती है। ज्ञान से उसका क्षय होता है। चित्त जब क्षुब्ध होता है तब उसके उपरान्त शरीर संक्षोभ को प्राप्त होता है। रुषित जन्तु आगे की वस्तु नहीं देखता, वह सामने के मार्ग को छोड़कर अथवा न देखकर, शरार्त (बाणविद्ध) हरिण के समान, अमार्ग पर चलने लगता है। प्राण-शक्तियाँ संक्षोभ के कारण अपने साम्य को तिलांजलि देकर दूसरे मार्गों में बहने लगती हैं। प्राण के असम होने से नाड़ियाँ अपने स्थान को छोड़ने लगती हैं। उनमें कुछ तो प्राणवायु-सी भर जाती है और कुछ उससे रहित हो जाती हैं। यह सब उसी प्रकार होता है जैसे राजा के ठीक न रहने से वर्णाश्रम में अक्रम आ जाता है।'

इस प्रकार चित्त-यन्त्र का संगठित कार्य वासनामय आधि के कारण ध्वस्त हो जाता है। वासनाभूमि चित्त है। वहीं वासनाओं का राज्य है। वासना वहाँ से निकलकर अन्तःकरण के सभी क्षेत्रों को वासित अथवा अपने रंग से आच्छादित करती है। ज्ञात इन्हीं का नियमन करता है। अज्ञात अति चंचल है। व्यक्ति को क्षणभर के लिए भी शान्ति नहीं लेने देता। योगवासिष्ठ में आया है कि चित्त अपनी चंचल वृत्ति के कारण किसी भी स्थान से निबद्ध नहीं रहता, अतः वह चिन्तासमूह से भरा रहता है।[२] इसी चांचल्य के कारण वह शिशुवत् है। शिशु भी अति चंचल है।

१—योगवासिष्ठ, निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्द्ध।

२—चेतश्चंचलया वृत्त्या चिन्तानिचयचंचुरम्।
धृतिं बध्नाति नैकत्र पंजरे केसरी यथा॥ योगवासिष्ठ, वैराग्य प्रकरण, सर्ग १६, श्लोक १०।

वह अपनी ही तृप्ति चाहता है।[१] प्रारम्भ में उसे कोई भी भिन्न प्रतीत नहीं होता। उसके लिए समय और देश का विचार नहीं है। वह सदा अपने मनोरथ और कल्पानओं के साम्राज्य में रमण करता रहता है। प्रारम्भ में उसे विषय-भेद अथवा वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं रहता। वह सारे संसार को अपने ही मनोरथ से नाप कर देखता है। उसकी दशा युवक की दृष्टि से विचित्र है। योगवासिष्ठ में पुनः आया है :—

> 'नवं नवं प्रीतिकरं न शिशुः प्रत्यहं यदि।
> प्राप्नोति तदसौ याति विषवैषम्यमूर्छनाम्॥
> बालो बलवता स्वेन मोरथविलासिना।
> मनसा तप्यते नित्यं ग्रीष्मेणेव वनस्थली॥
> संहृष्टो भुवनं भोक्तुमिन्दुमादातुमम्बरात्।
> वांछते येन मौर्ख्येण तत्सुखायकथं भवेत्॥[२]

—यदि प्रतिदिन शिशु को प्रीतिकर नई-नई वस्तुएँ न मिलें तो वह बहुत ही विषादयुक्त हो जाता है। वह अपनी बलवती इच्छा के कारण उसी प्रकार संतप्त होता है जिस प्रकार वनप्रान्त कठोर ग्रीष्म के कारण। वह अपनी मूर्खता के कारण सारे संसार का भोग करने और आसमान से चाँद को पकड़ने का प्रयत्न करता है। ऐसी बाल्यावस्था सुख के लिए कैसे हो सकती है?

उसी प्रकार अज्ञात भी शिशुवत् है। वह भी मनोरथवाला है। इसका पता हमें उसके कार्यों से ही लग जाता है। स्वप्न, जागते सपने (दिवा-स्वप्न) विभ्रम आदि सभी उसी के अभिव्यक्त कार्य हैं। अज्ञात की इच्छाएँ अति प्रबल होती हैं, जो अपनी ही तृप्ति चाहती हैं। उन्हें बाह्य संसार की परवाह नहीं रहती। अतः यदि वे व्यक्त होतीं और वास्तविक बाह्य स्थिति से टक्कर लेती हैं तो योगवासिष्ठ-कथित आधि उत्पन्न हो जाती है। इसी से व्यक्ति की रक्षा करने के लिए अहंकार का कार्य प्रारम्भ होता है। अहंकार इस प्रकार से एक वास्तविक जगत् और मनोरथ अथवा वासना-जगत् के बीच में है। उसकी स्थिति बड़ी ही सुकुमार है। बच्चा इस कारण से दुःख पाता है कि उसमें अहंकार बलवान नहीं है। वह एक नवीन संसार में जन्म लेता है। उसे वास्तविक स्थिति का परिचय नहीं मिला रहता। मातृगर्भ से पृथ्वी पर पतन होते ही उसका संग्राम प्रारम्भ होता है। कहाँ मातृगर्भ की वह शान्ति और कहाँ संसार का घोर वैषम्य! वह प्रारम्भ में विषय से अथवा बाह्य से अनभिज्ञ रहता है। वस्तु-दृष्टि क्रमशः बनती जाती है। उसकी अशिक्षित प्रवृत्तियाँ शिक्षित होती जाती हैं और वह धीरे-धीरे विकास प्राप्त करता युवक बन जाता है। शिशु में वस्तु-दृष्टि का जो क्रम-विकास पाया जाता है, वह शिक्षाप्रद है और उससे हमें चित्त के विविध भागों का विकास भी स्पष्टतः विदित होता है। अतः हम यहाँ पर वस्तु-दृष्टि के विकास की ओर

१—The child is egocentric.

२—योगवासिष्ठ, वैराग्य-प्रकरण, सर्ग १९, श्लोक १९, ७२, ७४।

पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। प्रारम्भ में शिशु अपने को ही जानता है। माता को वह अपने से भिन्न नहीं समझता। उसकी इच्छाएँ तुरत तृप्त हो जाती हैं। उसे केवल अपनी शारीरिक भूख, उष्णता आदि का ही भान है जिनसे वह रक्षित रहना चाहता है। और इस प्रकार की इच्छाएँ उसकी ओर से आभास मिलते ही पूरी हो जाया करती हैं। अतः उसे सदा तृप्ति ही रहती है। उसको विषयों का स्पष्ट ज्ञान नहीं रहता। प्रथमतः अपनी वैषयिक दृष्टि का वही विषय बनता है। द्रष्टा और दृश्य का भेद उसे नहीं मालूम रहता। उसे युक्तायुक्त का ज्ञान नहीं रहता। यदि हमें उस स्थिति में उसमें ज्ञप्ति का स्वरूप बताना हो तो, हम कह सकते हैं कि वह अपने को सर्वशक्तिमान् समझता है। बचपन-विकास की द्वितीय अवस्था में भी यह दशा सर्वथा नष्ट नहीं हो जाती। क्रमशः हम पाते हैं कि शिशु में वैषयिक दृष्टि आरम्भ हो गई है, किन्तु वह उससे युद्ध करता दृष्टिगोचर होता है। वह नहीं चाहता कि उससे भिन्न और कुछ नजर आवे। वह सभी विषयों को अपने में लीन करना चाहता है। उसे अभी अपनी परिमिति का अनुभव नहीं हुआ है। लगता है, वह अभी अपने को वही पूर्व शिशु समझता है जिसकी इच्छा मात्र से सब कुछ होता रहा। वह यह नहीं जानता कि वह अपने छोटे-छोटे हाथों से चाँद को नहीं पकड़ सकता; अनन्त देश की विजय नहीं कर सकता। 'ग्रहीतुमिन्दुमम्बरात् वांछते'। वह अग्नि से नहीं डरता अथवा उसे भिन्न नहीं समझना चाहता। अग्नि को पकड़ता है। साँप से उसे भीति नहीं है। स्पष्ट है, अभी उसपर वैषयिक दृष्टि आरूढ़ नहीं है। किन्तु धीरे-धीरे उसे अपनी सर्वशक्तिमत्ता में शंका होने लगती है। क्रमशः उसे इसकी अनुभूति होने लगती है कि अपनी तृप्ति के लिए उसे 'परभाग्येपजीवी' बनना पड़ता है। जब तक वह माता को प्रसन्न नहीं करता अथवा जबतक दाई सन्तुष्ट नहीं होती तब तक उसकी वांछाओं की पूर्त्ति नहीं होती। इस प्रकार उसे पहली बार यह ज्ञात होता है कि उससे भी संसार में लोग बली हैं और उन्हीं की इच्छा से उसकी वांछाएँ तृप्त होंगी। वह हँसकर, खेल-कूदकर उनकी सहानुभूति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। इस प्रकार उसकी वैषयिक दृष्टि का बनना क्रमशः प्रारम्भ हो जाता है। उसको यह विश्वास होने लगता है कि उसकी इच्छाओं के अतिरिक्त बाह्य भी कुछ महत्त्व रखता है। प्रारम्भ में उसके लिए उसकी इच्छाओं की अनुभूति ही वास्तविक है, क्योंकि उनमें किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं होता, उन इच्छाओं की तृप्ति ही वास्तव है, क्योंकि उनसे आनन्द प्राप्त होता है। कालान्तर में बाह्य जगत् की वे वस्तुएँ और वे व्यक्ति वास्तविक बन जाते हैं, जो उनकी इच्छा के प्रतिकूल उनपर शासन कर सकते हैं जैसे माता, दाई, आग आदि। इसी प्रकार क्रमशः उसको प्रत्यक्ष का ज्ञान होता जाता है।

प्रत्यक्ष के ज्ञान के साथ-साथ अहंकार का उदय होना भी आरम्भ हो जाता है। अभी तक शिशु के चित्त में कोई विभाग ही नहीं रहता और न ज्ञाताज्ञात, ज्ञात अथवा अज्ञात आदि का कोई भेद ही रहता। जो इच्छा होती है, वही प्रकट होती है। भूख लगी, रोया, प्रसन्नता हुई खिल उठा, हँस पड़ा। उसे किसी प्रकार अपनी इच्छाओं को दबाने की, संयमन करने की अथवा बदलने की आवश्यकता नहीं।

किन्तु वस्तु-दृष्टि के साथ-साथ अपनी इच्छाओं को रोकने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। 'अहं' और 'एतत' का, और 'अहं'—'एतत न' 'मैं-यह'; 'मैं—यही नहीं' का ज्ञान होने लगता है। 'यह' के अनुसार 'मैं', अथवा 'मैं' की इच्छाओं में परिवर्तन, या 'मैं' की इच्छाओं की तृप्ति के लिए 'यह' को बदलने की आवश्यकता प्रकट होने लगती है। यहीं से 'अहं' का कार्यग्रहण प्रारम्भ होता है। एक ओर अपने इच्छावेगों का और दूसरी ओर विषय-जगत् का बोध होता है, एक ओर तृप्ति का, दूसरी ओर वस्तु-स्थिति का ज्ञान होता है और वस्तु-स्थिति के अनुसार ही अन्दर से उठनेवाली प्रवृत्तियों का निषेध भी प्रारम्भ हो जाता है। जो इच्छाएँ वस्तुस्थिति के अनुकूल रहती हैं, उन्हीं का प्रकाश होता है और शेष निरुद्ध अथवा अवदमित होती जाती हैं। ये अवदमित संस्कार अपनी सारी शक्ति के साथ चित्त के अन्दर रह जाते हैं और अन्ततोगत्वा अज्ञात अथवा अचेतन का रूप धारण करते हैं। व्यक्ति की सारी शक्तियों का केन्द्र वही अचेतन (अज्ञात) है, क्योंकि व्यक्ति का प्रकृत रूप वही है; वास्तविक आकांक्षाओं का रूप भी वही है। अहंकार और उसके कार्य कालान्तर में अज्ञात की इच्छाओं के परिमार्जन से आरम्भ होते हैं। इस प्रकार अहंकार, अज्ञात से, उसके परिमार्जित रूप में उत्पन्न होकर, उसी की रक्षा के लिए, उसी की तृप्ति के लिए, वास्तविक जगत् की अपेक्षा करने लगता है और अज्ञात को छोड़कर धीरे-धीरे वाह्य प्रपञ्च की अपेक्षा उसे अधिक चाहने लगता है। अन्त में विकसित बच्चे को अपने प्रकृत स्वरूप की विस्मृति हो जाती है और वह सोचने लगता है मानो वह कभी भी बच्चा नहीं था।

साधारण व्यक्तियों में अज्ञात और अहंकार या वस्तुस्थिति तीनों एक ही प्रकार से रहते हैं। उनमें परस्पर कोई विरोध है, यह विदित ही नहीं हो सकता। उन्हें जो इच्छा होती है, उसे वे इस प्रकार बदलकर तृप्त कर लेते हैं कि उनके मन में किसी प्रकार की अशान्ति नहीं फैलती। लगता है, उनके मन-वचन-कार्य में कोई अन्तर नहीं। वे जो सोचते हैं, कहते हैं, जो कहते वही करते हैं। उनके वाक्यों के पीछे अर्थ दौड़ता आता है और अर्थ के पीछे शब्द निकलने लगते हैं। इस प्रकार के मृदु एवं सुष्ठु व्यवहार में यदि किसी प्रकार का अन्तर आ जाता है जो व्यक्ति में असाधारणता आने लगती है और उसकी स्थिति पूर्वोक्त योगवासिष्ठ की उक्ति के अनुरूप हो जाती है।

सचमुच, असाधारणता और साधारणता में विषम भेद नहीं है। स्वास्थ्य साधारण है और रोग असाधारण। वास्तव में, रोग भी असाधारण स्वास्थ्य है और स्वास्थ्य मृदुरोग है। दोनों के गुणवैषम्य में केवल मात्रा का भेद है। यदि अज्ञात की अपेक्षा वस्तुजगत् की अधिक चिन्ता की गई तो आधि उत्पन्न हो जायगी और यदि वस्तु-जगत् की अपेक्षा अज्ञात की परवाह अधिक की गई तो आधि और व्याधि दोनों उत्पन्न हो जायगी। किन्तु दोनों में एक प्रकार के ही मानसिक नियम कार्यशील होते हैं। अहंकार सदा वस्तु-जगत् के साथ रहकर अथवा विरोध न करके अज्ञात इच्छाओं की पूर्ति करना चाहता है। जिसके द्वारा इच्छाओं की पूर्ति हो सके, ऐसे अवसर को वह अपने हाथ से नहीं जाने देता। यदि अवसर मिला ही नहीं तो आधि

उत्पन्न होती है। किन्तु यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि अज्ञात इच्छाओं की तृप्ति में कौन-कौन बाधा पहुँचाते हैं।

अहंकार सदा अज्ञात वासनाओं का प्राकृत्व परिमार्जित करने तथा उनकी तृप्ति के लिए वाह्य-जगत् को बदल देने का उपक्रम करता है, किन्तु प्रायः ऐसे प्रयत्न में सफलता नहीं मिलती। सफलता के मार्ग में तीन बाधाएँ हैं: (१) अज्ञात इच्छाओं के वेग की तीव्रता, (२) वाह्य-जगत् की परिस्थिति की कठोरता और (३) अपना ही शिष्टाहंकार।[१] इन तीनों में सबसे प्रबल शिष्टाहंकार है।

शिष्टाहंकार सभी व्यक्तियों में एक प्रकार से ही नहीं कार्यशील होता। कुछ लोगों में वह तीव्र रूप नहीं धारण करता। इसी को साहित्य एवं दर्शन में हम अन्तरात्मा, अन्तर्वाणी[२] आदि की संज्ञा देते हैं। शिष्टाहंकार अहंकार पर शासन करता है। वह सदा शिष्ट मार्ग को ही अहंकार के सामने रखता है। हमने पहले ही देख लिया है कि वह बाल्य-काल में नहीं रहता। अहंकार के उदय के साथ ही उसका उदय नहीं होता। वह बाल्य-काल की भावनाओं में सन्निहित-सा रहता है। इसी शिष्टाहंकार अथवा अन्तर्वाणी के कारण मनुष्य का भाव-क्षेत्र रण-क्षेत्र बन जाता है। इसका ज्ञान केवल कुशाग्र अहंकारवाले व्यक्तियों को ही होता है। यह सदा एक स्वर के रूप में प्रकट होता है और वह स्वर सदा अहंकार को आदेश अथवा आज्ञाएँ देता रहता है। प्रायः उसके आदेश निषेधात्मक ही होते हैं। वह कभी अधर्म करने की आज्ञा नहीं देता। स्पष्ट है; शिष्टाहंकार व्यक्ति के सामने कुछ आदर्श रखता है, और उन्हीं आदर्शों से हम व्यक्ति के शिष्टाहंकार की प्रबलता का आभास पाते हैं।

शिष्टाहंकार का मर्म प्रायः एक बात से विदित होता है। वह कभी अपने आधार व्यक्ति के समाज के विरुद्ध नहीं जाता। यदि किसी व्यक्ति का समाज मांसभक्षण को घोर पाप कहता है तो उस व्यक्ति का शिष्टाहंकार भी उसे घोर पाप ही कहेगा। यदि व्यक्ति अपने शिष्टाहंकार के अनुसार नहीं चलता तो वह उसे घोर दण्ड देता है, और वह व्यकि अपने को सदा पापी समझता रहता है। यदि किसी समाज में मांसभक्षण कोई पाप न समझा जाय तो उस समाज के व्यक्ति का शिष्टाहंकार अथवा अन्तरात्मा यह कभी नहीं कहेगी कि मांस खाना पाप है। इसी कारण कुछ लोग मांसादि का भक्षण करके फिर छोड़ देते हैं। कुछ व्यक्ति जो बहुत ही परिमार्जित बुद्धिवाले हैं, अथवा जिनका बुद्धि-विवेक पर्याप्त रूप में विकसित है, वे यदि किसी कारण मांस खा लें तो उसे छोड़कर तृप्त नहीं होते, प्रत्युत् उनकी अन्तरात्मा इतना घोर रूप धारण करने लगती है कि वे अपने पाप के प्रायश्चित में बड़े-बड़े उत्सर्ग करने को उद्यत हो जाते हैं। कभी-कभी भारी आवेग में आकर ऐसे व्यक्ति अपने अन्तर्युद्ध का अन्त करने के लिए, अन्तर्यमन देव को शान्त करने के लिए, आत्महत्या भी करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। कोई-कोई अपने को पापी समझकर पाप का प्रख्यापन

१—Super ego.
२—Conscience.

करते रहते हैं और कोई-कोई अनजाने अहिंसा को सभी सत्यों में सर्वश्रेष्ठ समझकर उसी की पूर्ति एवं व्याप्ति के लिए प्राण भी दे देते हैं और इस प्रकार अपने पाप का प्रायश्चित कर लेते हैं। शिष्टाहंकार के विषय में एक और विशेष बात है। वह सदा भगवान् की आज्ञाओं का ही पालन करता है। किन्तु उस भगवान् के उस रूप को समाज का शिष्टाचार ही समझना चाहिए, क्योंकि नैतिकता के प्रचलन में उसके अस्तित्व एवं उसकी तथाकथित वाणी भी है। इसी प्रकार अन्य गुरुजनों यथा माता-पिता, गुरु, ऋषि आदि की आज्ञाएँ भी हैं। अतः शिष्टाहंकार एवं समाज के आदर्श, धार्मिक उक्तियों और भगवान् के रूप में जो गहरा सम्बन्ध है, वह स्पष्टतः व्यक्त हो जाता है। यदि यह सम्बन्ध प्राकृतिक है, अथवा प्राग्भवीय, तो जन्म से ही उसका बोध होना चाहिए, किन्तु वास्तव में, ऐसा है नहीं। बालक चींटे मारते ही हैं। कुत्तों पर पत्थर फेंकते ही हैं। घर में माखन चोरी करते ही हैं। उन्हें पहले हिंसा-अहिंसा, स्तेय-अस्तेय आदि का पता ही नहीं रहता। उन्हें आदर्श एवं आत्मवाणी की अनुभूति ही नहीं होती। उनका व्यवहार वही—

> **तिर्यग्जाति समारम्भः सर्वैरेवावधारितः**
> **लो लो बालसमाचारो मरणादपि दुःखदः**
> **लीलासु दुर्विलासेषु दुरीहासु दुराशये**
> **परमं मोहमाधत्ते बालो बलवदापतन् ॥**[1]

बालक का स्वभाव पशु-स्वभाव है। उसका आचार चंचल है। मरण से भी अधिक दुःख देनेवाला है। बालक दुर्विलास में, बुरी इच्छाओं में, कुमार्ग में एवं निन्द्य आशयों में अज्ञात के कारण आसक्त होता है।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भगवान् आदर्श और शिष्टाहंकार आदि सभी व्यावहारिक हैं और बालक के क्रम-विकास के साथ क्रमशः उद्बोधित हैं। अतः शिष्टाहंकार की संप्राप्ति पर ध्यान देना चाहिए। व्यक्ति-व्यक्ति के शिष्टाहंकार में कुछ समानताएँ हैं जिनमें दो प्रधान हैं—(१) व्यक्ति के समाज का विरोध न करना और (२) सदा अपनी शक्ति को आज्ञा के रूप में प्रकट करना। इन दोनों बातों से उसका सम्बन्ध वस्तु-जगत् से ही मालूम होता है, वासनाओं से नहीं। अपने विकास के क्रम में ही बच्चा वस्तु-स्थिति के कारण शिष्टाहंकार प्राप्त करता है। अतः इसकी उत्पत्ति के लिए बाल्य-काल के जीवन का पर्यवेक्षण करें तो पता चलता है कि शिष्टाहंकार के फलस्वरूप कुछ व्यक्ति बच्चों के कोमल जीवन पर अधिक प्रभाव डालते हैं। शिष्टाहंकार के विविध रूप बच्चों के संरक्षक हैं; वे माता-पिता भाई, गुरु आदि हैं। इनकी आज्ञाएँ बच्चों के कोमल बर्द्धमान 'अहं' पर प्रभाव डालती हैं और उनको बच्चे उसी रूप में अपनाते हैं। उनको वे छोड़ नहीं सकते। जब शिशु बढ़कर युवावस्था में प्रवेश करने लगता है, तब ये बाल्य-संस्कार विकसित होकर उसे आज्ञा के रूप में मालूम होने लगते हैं। बच्चे तो माता-पिता, गुरु आदि

१—योगवासिष्ठ, वैराग्य-प्रकरण सर्ग १९।

की मूर्ति अपने चित्त के एक कोने में रखते हैं और वह मूर्ति अपनी सारी शक्ति के साथ उनके अहंकार से बँधा पड़ा रह जाता है। यही मूर्ति समय पाकर अपनी प्रभुता दिखाने लगती है। किस प्रकार शिशु अपने माता-पिता और गुरु आदि की प्रतिमूर्तियाँ अपनाता है और अहंकार गत करता है; क्योंकर उसको उनकी स्मृति नहीं रहती, आदि बातें हम चित्त-यन्त्र का क्रिया-कलाप समझाते समय स्पष्ट करेंगे। शिष्टाहंकार का यही अस्तित्व मनुष्य की उन्नति एवं अवनति, दोनों में सहायक होता है। सुकरात का अन्तर्यमनदेव[1] यही अन्तर्वाणी है। व्यक्ति को अपने चित्त-साम्य की रक्षा के लिए अज्ञात और वस्तुस्थिति के अनुकूल रहना जितना आवश्यक है उतना ही इस देवदेव (अन्तर्वाणी, अहंकार) से भी अनुकूलता बनाये रखना आवश्यक है। इस अन्तर्वाणी के अनुसार यदि हम अपने को रख सकें तो न कोई तीर्थ की आवश्यकता है न किसी यात्रा की। कहा भी है :—

'यमो वैवस्वतोराजा यस्तवेषहृदिस्थितः।
तेनचेदविवादस्त्यं मा गंगां मा गयां गमः॥'[2]

—हृदयस्थित वैवस्वत यम से अविवाद है तो न गंगा की आवश्यकता है न गया की।

इस अध्याय में हमने यह बतलाने की चेष्टा की है कि चित्त अथवा अन्तःकरण की द्रष्ट भाव एवं दृश्यभाव से स्थूलतः दो भूमियाँ हैं। द्रष्टा को अहंकार कहते हैं और उसके दो भेद हैं—(१) शिष्टाहंकार और (२) अहंकार। शिष्टाहंकार अहंकार का ही शिष्ट भाग है और अहंकार के सामने शिष्टाचार आदर्श रूप में रखकर उसका अनुशासन किया करता है। अहंकार स्वयं व्यावहारिक है और क्रमशः विकसित होता है। दृश्य चित्त से उत्पन्न होने के कारण वह सदा उसी की रक्षा करने में तत्पर रहता है। इस रक्षा के लिए उसे वस्तु-जगत् की परवाह करनी पड़ती है। इस प्रकार अहंकार तीन प्रभुओं का दास है। दृश्य चित्त के भी भाग हैं—(१) ज्ञात, जो ज्ञप्ति विशिष्ट है (२) ज्ञाताज्ञात, जो स्वरूप से अज्ञात है, किन्तु ज्ञात हो सकता है और (३) अज्ञात, जो वासनामय है और बालकवत् लोल और चंचल है। इन सब का साम्य ही व्यक्ति के लिए श्रेय और प्रेय है। इनके वैषम्य से ही अशान्ति होती है। वैषम्य का कारण विषय है। यदि उन व्यक्ति विषयों एवं चैत्तभागों को एक ही क्रम में ला सका तो उसका जन्म सुखद और धन्य होता है; नहीं तो नहीं, क्योंकि,

'विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते।
जन्मांतरघ्नाविषया एकदेहहरम् विषम्॥'[3]

—विषय जन्मांतरों को भी बिगाड़ देते हैं, किन्तु विष तो एक ही देह को। अतः वस्तुतः विष विष नहीं है, विषय-वैषम्य ही विष है।

१—Demon.

२—मनु; अभिनवगुप्तरचित परमार्थसार।

३—योगवासिष्ठ, वैराग्य-प्रकरण, सर्ग १६, श्लोक १३।

चौथा अध्याय

ज्ञप्ति, उसके विभाग और तदनुरूप चैत्त भाग

अबतक हमने डा० फ्रायड के मत के अनुसार चित्त के विभागों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। किन्तु हमने कहीं भी यह स्पष्ट नहीं किया कि चैत्त विभाग के विषय में डा० फ्रायड के मत से अन्य आचार्यों की कहाँ तक सहमति है और किस विचार से डा० फ्रायड ने चैत्त विभाग तथा चित्त-विश्लेषण-सम्बन्धी अन्य सिद्धान्त उद्घोषित किया। इस अध्याय में इन बातों पर प्रकाश डाला जायगा।

वास्तव में, डा० फ्रायड के दृष्टिकोण से जितने चैत्त विभाग उपस्थित किये गये हैं, उनमें और अन्य मानस-शास्त्रियों द्वारा उपस्थित किये गये विभागों में बहुत दूर तक समानता पाई जाती है। भेद केवल यही है कि जहाँ डा० फ्रायड ने अपने सिद्धान्तों को अपस्मार आदि आधियों के अध्ययन के फलस्वरूप उद्घोषित किया है, वहाँ अन्य मनोविज्ञानवेत्ताओं ने प्राप्त हुए अपने सिद्धान्तों के लिए अन्य प्रमाणों की खोज न कर अपनी अनुभूतियों को ही प्रधानता दी है।

चित्त की भूमियों का विभेद बताने के लिए सभी लोगों को एक ही बात ने विवश किया और वह थी ज्ञप्ति अथवा चेतन की विविध अवस्थाएँ।[1] ज्ञप्ति विविध अवस्थाओं में रहती है, किन्तु उसका ज्ञान अहंकार के द्वारा ही सम्भव है। जिनका 'अहं' सूक्ष्मतम है, जो अपने अहं को प्रत्याहार के द्वारा ज्ञप्ति पर ही केन्द्रीभूतकर उसका अध्ययन कर सकते हैं, वे कदाचित् उसकी सभी भूमियाँ जान सकते हैं। किन्तु साधारण व्यक्ति को ज्ञप्ति का पता, ज्ञप्ति, विशिष्ट चित्त-वृत्तियों अर्थात् भावना, भाव आदि के मिश्रण से ही पता चल सकता है। अतः डा० फ्रायड ने स्थूलतः सभी चित्त-वृत्तियों के, ज्ञप्ति के मात्रा-भेद से अथवा तीव्रता की मात्रा से, दो विभाग किये : ज्ञात और अज्ञात अथवा चेतन और अचेतन। ज्ञप्ति का ज्ञान, अहंकार को ही होता है और अहंकार अज्ञात ज्ञप्ति को नहीं जान सकता। अतः अज्ञात में ज्ञप्ति रहती है कि नहीं, इसका ज्ञान अहंकार को नहीं रहता है। अतः अहंकार की दृष्टि से ज्ञप्ति, ज्ञातभूमि का ही गुण है और वह अन्य भूमियों में नहीं है। डा० फ्रायड ने स्वप्न को ज्ञप्ति की एक स्थिति की भाँति माना है, क्योंकि व्यक्ति को स्वप्न का ज्ञान रहता है। किन्तु वह भूमि ज्ञात नहीं है। ज्ञात में जिस ज्ञप्ति का ज्ञान होता है, उसका सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों से आनेवाली संवेदनाओं तथा अन्तरङ्ग से बहिर्मुख होनेवाले सुख आदि से होता है। स्वप्न में ज्ञानेन्द्रियाँ प्रसुप्त रहती हैं और स्वप्न-रचना में प्रधान भाग स्मृति-संस्कारों

१—Consciousness and its different levels.

का है। स्मृति-संस्कार अथवा स्मृति-चिह्न जिस भूमि में है वहाँ भी ज्ञप्ति सिद्ध होती है। इसी दृष्टि से डा० फ्रायड ने अपने चैत्त भूमि के विभागों के स्पष्टीकरण में विज्ञानवेत्ता फेवनर के वचन प्रमाणस्वरूप उद्धृत किये हैं: 'जाग्रत विचार-शक्ति की (भूमि की) अपेक्षा स्वप्न भूमि कहीं और ही है'।[१] इस प्रकार की बातों से विदित होता है कि चित्त के एक-एक भाग में ज्ञप्ति की एक-एक दशा अथवा स्तर है। स्वप्न भी ज्ञप्ति की एक दशा अथवा अवस्था (स्तर) है। अतः देखना होगा कि ज्ञप्ति किस-किस प्रकार से किन-किन भूमियों में पाई जाती है। डा० फ्रायड ने दृश्य चित्त (चेतन मन) के तीन विभाग किये गये हैं: (१) ज्ञात, (२) अज्ञात और (३) ज्ञाताज्ञात। अज्ञात के भाव वासना-वेग के साथ रहते हैं, अतः अज्ञात की वासनाएँ भावावेग के रूप में व्यक्त होकर ज्ञात में आ जाती हैं और प्रायः उन भावों के साथ भावनाएँ संबद्ध रहती हैं। भावना द्वारा भाव अपने को प्रकट करता है। ऐसी चर्चा से प्रश्न उठ खड़ा होता है कि विविध चित्त-भूमियों का सम्बन्ध क्या है? अज्ञात की बात किस प्रकार से ज्ञात होती है? ज्ञात की ज्ञप्ति अज्ञात की ओर जाती है, अथवा, अज्ञातगत विषय, ज्ञात की ओर बढ़ते हैं? या दोनों के बीच में कोई भूमि है जो दोनों को सम्बद्ध करती है? पाठकों के मन में इस प्रकार के प्रश्न हठात् उठ सकते हैं। इनका उत्तर किसी चित्त-वृत्ति के उदाहरण से विदित हो जायगा। विचार एक चित्त-वृत्ति है। विचार में दो भाग हैं: (१) कुछ शब्द और (२) कुछ वस्तु। कोई भी व्यक्ति विना वस्तुओं एवं शब्दों के विचार नहीं कर सकता। वस्तु का तात्पर्य है 'चित्त' या 'रूप' और शब्द का 'नाम' से। नाम और रूप से विचारशक्ति परिमित होती है। इतना ही नहीं विना स्वानुभूति के विचार-सरणियाँ बँध भी नहीं सकतीं; उन्हीं 'नामों' (संज्ञाओं) एवं 'रूपों' से विचार चल सकता है जिन्हें हमने देखा है और सुना है। अथवा हम यों भी कह सकते हैं कि विचार अनुभूत विषयों पर ही निर्भर करता है। भूत पर ही भविष्य के विचार भी निर्भर हैं। भविष्य भूत का आरोपित विषय है। वह काल और देश की सीमा में बद्ध है। इस रीति से हम प्रत्येक क्षण में अपने को विचार-रूप में पुनः पुनः उत्पन्न कर रहे हैं। अस्तु, विचार के सभी विषय अनुभूत हैं। इसका अर्थ यह है कि चित्त की किसी-न-किसी भूमि में विचार के प्रतिरूप अथवा संस्कार रहते हैं, यदि चित्त में अतीत संस्कार न रहते तो विचार में उनका व्युत्थान क्योंकर हो सकता है? इस प्रकार की चर्चा ने डॉ० फ्रायड को अपनी गवेषणा में तत्पर किया। इन बातों की जानकारी के लिए चित्त-यन्त्र के रूप का निर्धारण, संवेदना, स्मृति-संस्कार आदि की दृष्टि से होना चाहिए।

(चित्त के चित्र को खींचने के पूर्व हमें नामरूप की थोड़ी और परीक्षा करना परमावश्यक है। पहले नाम की अनुभूति होती है कि रूप की इस प्रश्न के उत्तर में ही चित्त-भूमि का स्वभाव निहित है। हमें सर्वप्रथम रूप की अनुभूति होती है और नाम

१—The seat of the dreams is elsewhere than the waking ideation—*Psycho-Physic, Part II, p 520. S. Freud : The Interpretation of Dreams. p. 424.* C. G. Jung; *Contributions to Analytical Psychology, 1928, p.p. 93-94.*

पीछे आता है। इस विषय में हमें बाल-क्रीड़ाओं पर ध्यान करना चाहिए। बचपन में व्यक्ति की शक्तियाँ अशिक्षित रहती हैं। इसी प्रकार इस विषय में हम निपट प्राकृत प्राणियों का भी उदाहरण ले सकते हैं। जहाँ शिक्षा का अथवा सभ्यता का नाम भी नहीं है, वहीं पर शक्तियों का वास्तविक विकास देखा जा सकता है। रूप और नाम की प्राथमिक अनुभूति के अन्तर-भेद के परिज्ञान में हमें शिशु और असभ्य मानव का उदाहरण लेना अधिक सुकर प्रतीत होता है। वास्तव में, इन दोनों में रूप का अर्थात् चित्र की ही प्राथमिकता विदित होती है। शिशु के जो-जो भाव अथवा भावनाएँ हैं, वे आंशिक हैं, उनमें शब्द का स्थान नहीं है। वह भेड़िया, भेड़ आदि देखता है तो उन्हीं की भाँति व्यवहार करता है। 'मैंने एक जानवर देखा' इस अनुभूति को वह सबसे पहले उसी के जैसा चलकर व्यक्त करेगा। भाषा का विकास भी यही सिखाता है। व्यक्ति प्रकृत अवस्था में अपने भावों को चित्रों के रूप में व्यक्त करते थे। कालान्तर में ही शब्द और नाम आये।[१]

अतः ज्ञप्ति की प्रारम्भिक अवस्था अर्थमय एवं वस्तुमय रहती है। गत अध्याय से यह विदित हो चुका है कि चित्त में वासना-भूमि ही प्राकृत है तथा अन्य सभी बातें क्रमशः उसी से विकसित हुई हैं। अतः यह कहना युक्ति-संगत है कि ज्ञप्ति में संस्कार-चित्र हैं अथवा रहनेवाले संस्कार-चित्र अथवा चित्र-विकार हैं। हमने उसमें तथा ज्ञात के बीच में एक ज्ञाताज्ञात का उल्लेख किया है। डा० फ्रायड इसी को शब्द-भूमि मानते हैं और यही ज्ञात और अज्ञात को मिलानेवाली सन्धि है। अहंकार से ज्ञप्ति ओतप्रोत है। यह अहंकार की निगरानी में अथवा उसके ज्ञान के विना भी अपना काम करती जाती है। शब्दमय भूमि ज्ञात क्यों नहीं हो सकती? ज्ञात-भूमि ही स्मृति-संस्कारों का आश्रय क्यों नहीं हो सकती? ऐसे प्रश्न हठात् उठ सकते हैं। इन सबका उत्तर चित्त-यन्त्र के चित्र से समझाना उचित प्रतीत होता है।[२] थोड़ी देर के लिए हम यह मान लें कि चित्त एक जीवित्कोशिका है[३] जो योंही संसार में पड़ी हुई हैं। चारों दिशाओं से प्राकृतिक उद्दीपकों[४] से उद्भूत संवित्प्रवाह उस पर आघात करता है जिससे उसकी शान्ति भंग होती है। यह शान्ति-भंग अन्त में अन्तर-संवेदना के रूप में अथवा दुःख के रूप में भी विदित होगा। इस प्रकार से उस जीवत्कोशिका पर वाह्य और अभ्यान्तर दोनों ओर से संवेदनाएँ प्रहार करती हैं। वह

१—'For though it is only by reason of the opposition of letters in the function of signs, to sounds in function of signs that the study of books is called 'literature.........'—*Ruskin : 'of Kings' Treasures' in Seasame and Lilies.*

२—S. Freud : Beyond the Pleasure Principle.

३—A cell.

४—Stimuli ये उद्दीपक वातावरणजन्य होते हैं। वातावरण द्विविधा होता है। प्राकृतिक एवं सामाजिक (Physical and Social) प्रकाश-लहरियाँ, स्वर-लहरियाँ, गन्ध, तापक्रम आदि प्राकृतिक वातावरणजन्य उद्दीपक हैं। इसी प्रकार समाज से उद्भूत बातें भी उद्दीपक का कार्य करती हैं।

कोशिका जीवत्कोशिका है; अतः वह इन संवेदनाओं के फलस्वरूप प्रतिवेद और प्रतिक्रिया[१] करेगी। इस चेष्टा में कोशिका के विविध भाग प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप विविध रूप ग्रहण करते हैं। अपने स्थान के कारण ही उस कोशिका के उपरितल और निम्नतल में भेद है। उपरितल से बाह्य संसार का सीधा सम्पर्क है, अतः उस पर ही बाह्य उद्दीपक प्रहार करते हैं। अतः उपरितल पर उन उद्दीपकों से प्रतिक्रियाएँ प्रारम्भ होंगी और संवेदनाएँ उत्पन्न होंगी। विविध उद्दीपकों की बौछार तथा निरन्तर प्रतिक्रियाओं के कारण उपरितल के रूप में परिवर्तन अवश्यमेव होगा। बाह्य उद्दीपकों से उपरितल एक प्रकार जल-सा जाता है। यदि वह पूर्णतया जल जाय तो वातावरण से उत्पन्न संवेदनाओं का प्रभाव नहीं मालूम होगा। किन्तु जीवत्कोशिका को ऐसा होना अभीष्ट नहीं है, क्योंकि अपनी रक्षा के लिए उसे तो आहार आदि चाहिए ही और ये आहार आदि बाह्य जगत् से ही प्राप्त होते हैं। अतः स्पष्ट है कि वह बाह्य उद्दीपकों की प्रतिक्रिया के कारण अपने सभी उपरितल को जलने नहीं देगी, प्रत्युत् कुछ ऐसे भाग अवश्य रहेंगे, जिनसे वह बाह्य उद्दीपकों से उद्भूत संवेदनाओं को परिमित रूप में स्वीकार कर सके। इसीलिए ज्ञानेन्द्रियों का निर्माण हुआ हो तो आश्चर्य क्या है? इन्द्रियाँ अपने स्वभाव से ही बाह्य जगत् के उद्दीपकों से संवेदनाएँ ग्रहण करने को उन्मुख रहती हैं।[२] उपरितल ही ज्ञान का साधन होगा, क्योंकि ज्ञान से ही ज्ञेय का अस्तित्व सिद्ध है और ज्ञेय बाह्य जगत् में है, अतः उसके समीपवर्ती बाह्यतल में अथवा उपरितल में ज्ञप्ति होगी। इसके कारण जितनी संवेदनाएँ भीतर प्रवेश पाती हैं, सभी पर ज्ञप्ति की मुहर लगी रहती है। ज्ञात होने के अनन्तर संवेदना की समाप्ति नहीं हो जाती, क्योंकि उसके साथ जो वेग भीतर घुसता है, वह उस संवेदना को संस्कार का रूप देता है, अथवा प्रतिरूप[३] खड़ा करता है। हम इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि वेग के कारण चित्त पर अर्थों के संस्कार अंकित हो जाते हैं।[४] किन्तु वह वेग बाह्य जगत् से उद्भूत होता है, अतः वह चित्त में चुपचाप नहीं रह सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि वह जीवत्कोशिका के लिए स्वात्म्य नहीं हो सकता, क्योंकि जीवत्कोशिका बाह्य वेग को बाह्य संसार में बहाकर स्वयं पूर्ववत् होने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार के प्रयत्न द्वारा चित्त-यन्त्र के दोमुखी कार्य प्रकट होते

१—Responses.

२—'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।'

३—Image,

४—आधुनिक मनोविज्ञान भी यही कहता है। प्रथमतः वातावरण से उद्दीपक (Stimuli) उठकर हमारी ज्ञानेन्द्रियों (Sense-organs) को उत्तेजित करते हैं और इस प्रकार उत्तेजनाएँ (Impulses) संज्ञावाही स्नायुओं (Sensory nerves) से बहती हुई मस्तिष्क-केन्द्रों (Cerebral centres) में पहुँचती हैं। मस्तिष्क के विभिन्न भागों में ज्ञानेन्द्रियों के विशिष्ट क्षेत्र (areas), जैसे चाक्षुष, श्रवण-क्षेत्र, घ्राण-क्षेत्र आदि होते हैं जहाँ पर संवेदनाएँ अपने प्रतिरूप (images) खड़ा करती हैं। क्रमशः संवेदनाओं के पुनरावर्तन से प्रतिरूप अर्थमय (meaningful) हो जाते हैं और हमें प्रत्यक्षीकरण (Perception) होता है। ज्ञप्ति (Consciousness) का निर्माण इसी प्रकार होता है।

हैं : एक तो वह जिसके द्वारा संवेदनाओं का ग्रहण होता है, और दूसरा जिसके द्वारा वाह्य उद्दीपकों से उत्पन्न अभावात्मक रूप प्रकट होता है, अर्थात् चित्त-यन्त्र वाह्य उत्तेजनाओं से अपनी रक्षा करता है। उत्तम चित्त वह होगा जो वाह्य संवेदनाओं का ज्ञान करे और उन सभी के वेग को क्षोभ के विना पूर्णतया बहिर्गत कर सके। किन्तु मानव का जीवन सीमाबद्ध है, उसके जन्म में ही मृत्यु के अंकुर हैं। अतः मानव पूर्ण रूप से उस वेग को बहिर्गत नहीं कर सकता है। अस्तु अब चित्त-यन्त्र का चित्र इस प्रकार होगा—
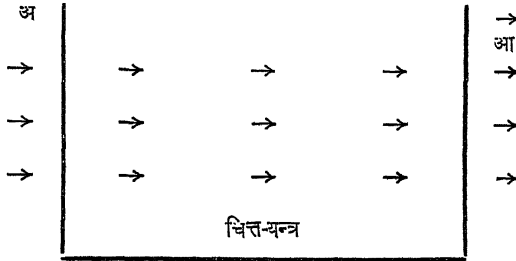
अ—संवेदनाओं के घुसने का मुख या 'संवित्स्पन्द मुख'।
आ—क्रियारूप में बहिर्गत होने का मुख या 'क्रियास्पन्द मुख'।

हमने देख लिया कि जो संवेदनाएँ चित्त-यन्त्र में प्रवेश पाती हैं, उनके संस्कार उसमें पड़ते हैं और वे क्रमशः स्मृति-चिह्न अथवा स्मृति के विषय बन जाते हैं। अतः उन स्मृति-संस्कारों के लिए भी चित्त-यन्त्र में स्थान-विशेष का निर्देश करना पड़ेगा। यदि उपरितल अथवा संवित्स्पन्द-भूमि को ही संस्कार-भूमि भी मान लें तो कुछ बाधाएँ उपस्थित होती हैं। यदि किसी यन्त्र का एक तल ज्ञान की भूमि हो और साथ-ही-साथ संस्कारों की भूमि हो तो स्मृतिसांकर्य का दोष होता है। एक ही समय ज्ञान कराना और दूसरी बातों की स्मृति कराना असम्भव है। एक भूमि एक समय एक ही काम कर सकती है। कालभेद से भी एक ही भूमि दोनों काम नहीं कर सकती है, क्योंकि यदि उसमें ज्ञप्ति रहती है तो ज्ञान के साथ स्मृति भी व्युत्थित हो जायेगी। वाह्य विषय का ज्ञान और अनुभूत विषय की स्मृति दोनों एक साथ ज्ञप्ति के कारण अनुभूत हो जाएँगी तो व्यक्ति अनुभूति और स्मृति का भेद नहीं समझ सकेगा। ऐसा होता भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि स्मृति-संस्कार उपरितल में है, तो सभी की स्मृति सदा व्युत्थित ही रहनी चाहिए जिसका अर्थ यह होगा कि व्यक्ति को कोई नवीन ज्ञान होना ही असम्भव है। इन दोषों को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि स्मृति-चिह्नों की अलग भूमि है और वह ज्ञान-भूमि के उपरान्त ही निर्मित होती है, क्योंकि जिसका एकबार ज्ञान हो जाता है, उसी की स्मृति होती है। अतः यह कहना पड़ता है कि ज्ञान के रूप में परिवर्तित होने पर संवेदनाओं की दूसरी भूमि बन जाती है और वही अतीत अनुभूतियाँ संस्कार के रूप में बैठ जाती हैं। इस प्रकार अब चित्त-यन्त्र का चित्र थोड़ा परिवर्तित हो जायगा, क्योंकि उसमें ज्ञानभूमि

अर्थात् संवित्स्पन्द मुख के निम्नतल में एक स्मृति-संस्कार की भूमि अवस्थित पाई जाएगी। अतः चित्र का रूप यह होगा—
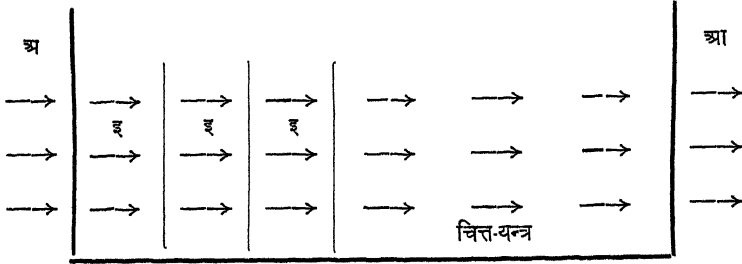
अ—संवित्स्पन्द मुख
इ—स्मृति-संस्कार-भूमि
आ—क्रियास्पन्द-मुख

ऊपर के दोनों चित्रों से ऐसा विदित होगा कि सभी संवेदनाएँ अपने स्मृति-संस्कारों को छोड़कर क्रिया में परिणत होती हैं और बहिर्गत हो जाती हैं। किन्तु वास्तव में, बात यह नहीं है। सभी संवेदनाएँ क्रिया में परिणत नहीं होने पाती हैं। यदि उन संवेदनाओं का क्रियान्वित होना समाज के विरुद्ध अथवा अन्तर्वाणी के विरुद्ध होगा तो वे संवेदनाएँ क्रियारूप में बहिर्गत नहीं होंगी। संवेदनाओं का अर्थयुक्त अथवा ज्ञानात्मक होना वाह्य जगत् तक ही सीमित नहीं है। वास्तव में, वाह्य जगत् की क्रिया तथा चित्त के उपरितम तल की प्रतिक्रिया का मिलाप ही संवित् ज्ञान है। किसी का चित्त एक युवती को देखकर जब प्रभावित होता है, अथवा परस्व देखकर लोभ होता है, तब ऐसी वृत्तियों को वह वाह्य परिस्थिति के कारण क्रियारूप में बहिर्गत नहीं कर पाता है, क्योंकि व्यक्ति का अहंकार उन्हें क्रियारूप में परिणत होने से रोकता है, अथवा उनका निरोध या अवदमन करता है। इस प्रकार से क्रियास्पन्द मुख के पूर्व क्षण में अहंकार प्रतिहारी का काम ग्रहण करता है। जो वृत्तियाँ बहिर्गत होने के योग्य होती हैं, उन्हीं को अहंकार क्रियारूप में परिणत होने देता है। अब चित्त-यन्त्र का चित्र निम्न लिखित प्रकार का होगा—
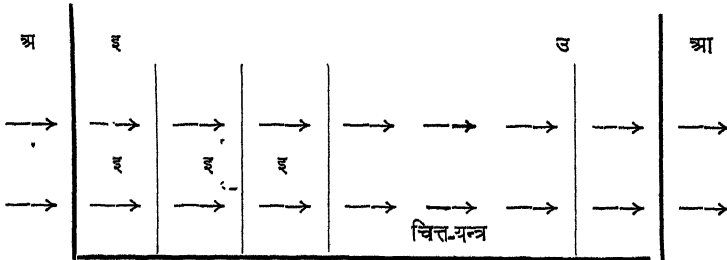
अ—संवित्स्पन्द मुख
आ—क्रियास्पन्द-मुख
इ—स्मृति-संस्कार-भूमि
उ—अहंकार अथवा प्रतिहारी

अब हमें एक ऐसी बात पर विचार करना है जिसपर प्रायः हमारा ध्यान नहीं जाता है। अनेक संवेदनाएँ चित्त में स्थान पाती हैं, किन्तु सभी की अनुभूति नहीं रह पाती। तो क्या इस प्रकार की संवेदनाएँ चित्त में अपने संस्कार नहीं छोड़तीं? क्या वे स्मृति-संस्कार नहीं बनतीं? क्या वे क्रियारूप में परिणत नहीं होतीं? नहीं, ऐसी बात नहीं है। वास्तव में, कुछ ऐसी भी संवेदनाएँ भावरूप में अपने को बहिर्गत करती हैं जिनका ज्ञान व्यक्ति को नहीं हो पाता। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि ज्ञप्ति-विशिष्ट संवित्स्पंद मुख सभी संवेदनाओं का ज्ञान क्यों नहीं करा पाता? इसका एकमात्र उत्तर यही विदित होता है कि संवेदनाओं की संख्या इतनी अधिक होती है कि साधारण व्यक्ति सभी की अनुभूति नहीं रख पाता है। संवेदनाओं को कोई रोक नहीं सकता। वे चित्त-यन्त्र में प्रवेश करती ही हैं, और अपने वेग को संस्कार-रूप में छोड़ देती हैं। किन्तु उन्हें प्रतिहारी से बचकर ही बहिर्गत होना पड़ता है। प्रतिहारी कहेगा—'तुम धोखा देकर घुस गईं। व्यक्ति को तुम्हारा ज्ञान ही नहीं हुआ। चलो, अब निकलो···' अतः स्पष्ट है कि संवेदनाओं का वेग पड़ा ही रहता है, वे दूसरे संस्कारों से मिल-जुलकर अपना रूप परिवर्तित कर क्रियान्वित होने का प्रयत्न करती रहती हैं।

अहंकार कुछ बातों का निषेध करता है और कुछ को आने देता है। हमने गत अध्याय में कहा है कि चित्त की एक ज्ञाताज्ञात भूमि है जिसकी बातें स्वरूप से तो अज्ञात हैं, किन्तु ज्ञात हो सकती हैं; वे भी प्रतिहारी से नियन्त्रित होकर ही प्रकट होती हैं। अतः क्रियास्पन्द मुख पर प्रतिहारी के निम्न तल में ज्ञाताज्ञात का स्थान होना चाहिए और उससे भी निम्नतल में अज्ञात का। इस रीति से चित्त-यन्त्र का चित्र इस प्रकार का होगा—

अब चित्तयन्त्र का मर्म भलीभाँति समझ में आ जायगा। हमने पहले ही कहा है कि चित्त-वृत्तियों के पौर्वापर्य को सुगमतया दिखाने के लिए चित्र का आश्रय लिया है। पाठकों को विदित होगा कि संवेदना को जाननेवाला (ज्ञाता) अन्धकार है

और उसकी भूमि ज्ञात है। अहंकार ही क्रिया का नियंत्रण करता है। अतः संवित्स्पंद मुख और क्रिया स्पंदमुख वास्तव में, एक ही स्थान का, अर्थात् उपरिभाग का आश्रय लेते हैं। अज्ञात तो सब नीचे का तल है जैसा कि ऊपर के चित्र में क्रियास्पंद मुख पर सबसे निम्नतल पर दिखाया गया है। तब स्मृति-संस्कार-भूमि और ज्ञाताज्ञात एक हो जाते हैं। इस प्रकार चित्त का चित्र यह होगा—
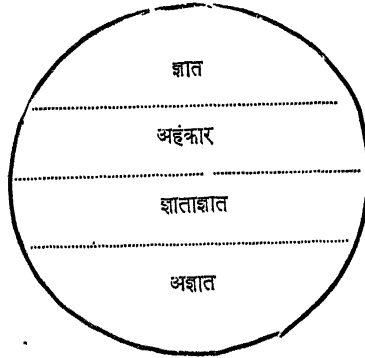
ज्ञात —ज्ञान, भाव, इच्छा, क्रिया की भूमि।
अहंकार —ज्ञाता, द्रष्टा, कर्त्ता होता है।
ज्ञाताज्ञात —संस्कार-भूमि, शब्दमय, नाममय।
अज्ञात —वासनाभूमि, चित्रमय, रूपमय।

अब शेष रह जाता है शब्द का स्थान। उसे अज्ञात नहीं रखा जा सकता है। स्मृति-संस्कार का सार ही शब्द है। ज्ञाताज्ञात अज्ञात-गत चित्त को व्युत्थित करके उसको नाम के साथ अर्थात् शब्द-संस्कार से जोड़कर प्रतिहारी के पास परीक्षा के लिए भेजता है। इसी कारण जो ज्ञाताज्ञात से ज्ञात हो जाता है, वह सब सम्पूर्ण होता है। सम्पूर्ण भावना तो चित्र, शब्द और ज्ञप्ति-विशिष्ट है। ज्ञप्ति-भाग ज्ञात से, शब्दभाग ज्ञाताज्ञात से तथा चित्र-भाग अज्ञात से सम्बन्धित होता है। सभी के बीच में होने से ज्ञाताज्ञात ही सभी में मेल-मिलाप कराने का कार्य करता है और उस विषय में अहंकार सहायक बनता है।

ऊपर के विवेचन से डा० फ्रायड के विचार का स्तर निम्न लिखित रूप से रखा जा सकता है—

(१) वाह्यदृष्टि से चित्त-यन्त्र में ज्ञात, अहंकार, ज्ञाताज्ञात और अज्ञात का क्रम पाया जाता है और अन्तर्दृष्टि से अज्ञात, ज्ञाताज्ञात, अहंकार और ज्ञात का क्रम।

(२) ज्ञात ही ज्ञप्ति की भूमि है, अतः वह चित्त की जाग्रतावस्था से सम्बन्ध रखनेवाला है। ज्ञाताज्ञात संस्कारों की भूमि है। स्वप्नों में ज्ञात-भूमि नहीं होती, और ज्ञाताज्ञात में रहनेवाली धुँधली ज्ञप्ति के कारण वहाँ के संस्कार स्वप्न-साम्राज्य का निर्माण करते हैं और इस कार्य में अपेक्षित शक्ति।

(३) चित्रमय अज्ञात से प्राप्त होती है। किन्तु जब स्वाप्निक ज्ञप्ति भी शान्त हो जाती है और व्यक्ति सौषुप्तिक अवस्था में आ जाता है तब ज्ञप्ति की क्या दशा रहती है, इस विषय में डा० फ्रायड के ग्रन्थ मौन हैं।

(४) अज्ञात, वासना-भूमि है, ज्ञाताज्ञात, स्मृति और विचारों की भूमि है; और ज्ञात, ज्ञान और क्रिया की भूमि हैं।

(५) ज्ञात-भूमि प्रत्यक्ष से सम्बन्ध रखती है। किन्तु ज्ञाताज्ञात तज्जन्य संस्कारों से।

(६) अज्ञात चंचल है। उसके चित्रों में कोई पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है जैसा कि हमने गत अध्याय में कहा है, उसे शैशव कहना चाहिए। उसके लिए देश, काल आदि का भेद नहीं है। ज्ञात, इसके ठीक विपरीत है। और ज्ञाताज्ञात, दोनों का सम्मिश्रण है।

(७) शिष्टाहंकार का डा० फ्रायड ने कोई विशेष स्थान-निर्देश नहीं किया है।

अब फ्रायड के विचारों की मीमांसा हो गई। अब हम अन्य आचार्यों के मतों से उनके विचारों की तुलना उपस्थित करेंगे। डा० फ्रायड के विचार भारतीय आचार्यों के जिन मतों से कई स्थानों पर मेल खाते हैं, उनमें प्रधान तीन हैं:—(१) योग, (२) वेदान्त और (३) तन्त्र। उनमें हम एक-एक करके सभी की चर्चा उपस्थित करेंगे और देखेंगे कि उनसे डा० फ्रायड के सिद्धान्तों को क्या समर्थन मिलता है।

(१) योग—

इस मार्ग में सांख्यवादी अग्रसर हैं। उन्हीं के सिद्धान्तों को योगवालों ने प्रयोगात्मक रूप में लिया, और इसीलिए योग को सांख्यप्रवचन भी कहते हैं। सांख्यवादी अन्तःकरण को त्रिधा मानते हैं—

अन्तःकरणं त्रिविधं, दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाशब्दम्।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरः कारणम्॥[१]

बुद्धि, अहंकार और मन इन्हीं तीनों को त्रिविध अन्तःकरण कहते हैं। इन तीनों के विषय हैं:—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। बाह्य इन्द्रियाँ तो केवल वर्तमान काल के विषयों के ज्ञान के लिए हैं, किन्तु अन्तःकरण त्रिकाल के विषयों के लिए। इनमें सांख्य के अनुसार बुद्धि, अहंकार और मन का संघात अन्तःकरण है। इन तीनों का विकास क्रमशः होता है। प्रकृति से महान्, उससे अहंकार और अहंकार से मन आदि की उद्भूति होती है। प्रकृति अति प्राकृत और अनादि है। वह सभी की प्रकृति है। वह सभी तत्त्वों को 'प्रकरोति' अर्थात् उसी से सब की उद्भूति है। उसी में सारे अन्तःकरण और अन्य सृष्टियों के अंकुर हैं। उसी से बुद्धि उत्पन्न होती है। बुद्धि अध्यवसायात्मक है। उसके विना कोई निश्चय हो ही नहीं सकता। बुद्धि से अहंकार की उद्भूति होती है। अहंकार अभिमान है। 'अभिमानोहंकारः' और अहंकार से मन की सृष्टि होती है। मन 'उभयात्मक' है। 'उभयात्मकमात्रमनः'। वह ज्ञान का और कर्म का साधन है।

१—सांख्यकारिका, ३३।

इस प्रकार अन्तःकरण के त... ...पों में एक क्रम और धर्म-निर्देश का पता चलता है। व्यक्ति के सभी ज्ञानों ... ...क्रियाओं में मन का संयोग अत्यावश्यक है। मन, ज्ञान और क्रियाओं का द्वार है। इसी के द्वारा अहंकार वाह्य संसार में अपने कार्य चला सकता है। यह संकल्पक इन्द्रिय है, अतः प्रत्यक्ष ज्ञात की भूमि है। इस प्रकार इसके धर्म और डा०.फ्रायड की ज्ञातभूमि के धर्मों में कुछ भी अन्तर नहीं मालूम होता है। दोनों मतों से अहंकार ज्ञातभूमि अर्थात् मन और ज्ञाताज्ञात अर्थात् बुद्धि का मध्यस्थ है। कहने का तात्पर्य यह है कि अहंकार प्रकृति-विकृति है।

अब हम यह विचार करेंगे कि डा० फ्रायड के ज्ञाताज्ञात और सांख्यवादियों की बुद्धि में क्या साम्य है। सांख्यवादियों ने बुद्धि के मर्म सभी मुखों से स्पष्ट नहीं किये। सांख्य-वादियों की दृष्टि में ज्ञान उत्पन्न होने का क्रम यों है—विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध में मन इन्द्रियों से संयुक्त होता है। इस प्रकार मन पर वाह्य उद्दीपकों से उत्पन्न संवेदनाओं का प्रभाव पड़ता है जिससे बुद्धि विषयाकार में परिणत होती है। उसमें इस प्रकार सत्व[१] का उद्रेक होता है और उसके अहंकार के संसर्ग होने पर वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान होता है। किन्तु विचार आदि का उद्रेक किस प्रकार होता है और स्मृति-संस्कार मन में रहते हैं अथवा बुद्धि में, इस विषय में सांख्य स्पष्ट नहीं है। किन्तु हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि विना बुद्धि के सम्बन्ध के कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। बुद्धि के कारण ही धर्म और अधर्म आदि होते हैं। मनुष्य की प्रत्येक क्रिया में बुद्धि का अति प्रधान स्थान है। वह जिस आकार में परिणत होती है, उसी के अनुरूप पुरुष को अभिमान (अहंकार) के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। अतः स्पष्टतया इसकी समानता ज्ञाताज्ञात से हो जाती है, क्योंकि ज्ञाताज्ञात के विना न तो मनुष्य कोई स्थायी काम ही कर सकता, और न विना उसकी सहायता के उसकी स्मृति, विचार, कला आदि सम्पन्न हो सकते। इतना ही ज्ञाताज्ञात सम्पन्न होते हैं, जिसके वेग से ही अहंकार अपना बल पाता है।

सांख्यवादियों ने ज्ञप्ति का कोई विभाग नहीं किया है। किन्तु उनके मत से कोई भी वस्तु नाशवान् नहीं है, अतः संवेदनाओं से उत्पन्न संस्कार अन्तःकरण की किसी भूमि में अनुद्भूत रूप से रहेंगे, यद्यपि वे मन में भी नहीं रह सकते, क्योंकि इससे स्मृति-सांकर्य आदि दोष उपस्थित हो जायँगे। इतना ही नहीं, उसी स्थापना के अनुसार वे संस्कार बुद्धि में नहीं रह सकते; क्योंकि वह भी प्रत्येक ज्ञान में भाग लेती है। अतः यह कहा जा सकता है कि सांख्यवादियों की बुद्धि अपने में पूर्ण नहीं है, प्रत्युत् उसमें कई तल हैं।

हमने ऊपर जो स्थापना रखी है, वह ठीक है कि नहीं, इसका पता योगवासिष्ट के मत की चर्चा से स्पष्ट हो जायगी। योगवासिष्ट वेदान्त का उत्तमोत्तम ग्रन्थ है। वह सिद्धावस्था का ग्रन्थ कहा जाता है, क्योंकि उसमें साधक की अनुभूतियों पर विशेष ध्यान दिया गया है।

१—Self.

योगवासिष्ठ में हम ज्ञप्ति एवं अन्तःकरण के विभाग की स्पष्ट चर्चा पाते हैं। उसके अनुसार ज्ञप्ति द्विधा है—'अज्ञान भू' एवं 'ज्ञान भू'। 'ज्ञान भू' अहंता के नाश में परिणत होता है, अतः साधारण व्यक्ति को उसका पता नहीं है। जो जाना जा सकता है, वह लौकिक और वही 'अज्ञान भू' है। योगवासिष्ठ ने 'अज्ञान भू' के सात विभाग किये हैं—

'अज्ञानभूः सप्तपदा ज्ञभूः सप्तपदैव हि।
पदान्तराण्यसंख्यानि भवन्त्यन्यान्यथैतयोः[१]' ॥२॥

"अज्ञान भूमि सात भागों में विभक्त है और ज्ञान-भूमि भी उतने ही भागों में। अन्यान्य मिश्रण आदि से ये असंख्य हो जाते हैं।" अज्ञान भूमि की सप्त उपभूमियाँ निम्न लिखित हैं—

'बीजजाग्रत्तथा जाग्रन्महाजाग्रत्तथैव च।
जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तकम् ॥१२॥
इति सप्तविधोमोहः पुनरेव परस्परम्।
श्लिष्टो भवत्यनेकाख्यः शृणु लक्षणमस्य च ॥१३॥
प्रथमे चेतनं यत्स्यादनाख्यं निर्मलं चितः।
भविष्यच्चित्तजीवादिनामशब्दार्थभाजनम् ॥१४॥
बीजरूपं स्थितं जाग्रद्बीजजाग्रत्तदुच्यते।
एषा ज्ञप्तेर्नवावस्था त्वं जाग्रत्संसृतिं शृणु ॥१५॥
नव प्रसूतस्य परादयं चाहमिदं मम।
इति यः प्रत्ययः स्वस्थस्तज्जाग्रत्प्रागभावनात् ॥१६॥
अयं सोऽहमिदं तन्म इतिजन्मान्तरोदितः।
पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजाग्रदिति स्फुरन् ॥१७॥
अरूढमथ वा रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम्।
यज्जाग्रतोमनोराज्यं जाग्रत्स्वप्नः स उच्यते ॥१८॥
द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्यमृगतृष्णादिभेदतः।
अभ्यासात् प्राप्य जाग्रत्त्वं स्वप्नोऽनेकविधो भवेत् ॥१९॥
अल्पकालं मयादृष्टं एवं नो सत्यमित्यपि।
निद्राकालानुभूतेऽर्थे निद्रान्ते प्रत्ययो हि यः।
स स्वप्नः कथितस्तस्य महाजाग्रत्स्थितेहृदि ॥२०॥
चिरसंदर्शनाभावादप्रफुल्लबृहद्वपुः।
स्वप्नो जाग्रत्तया रूढो महाजाग्रत्पदं गतः।
अक्षतेवाक्षते देहे स्वप्न-जाग्रन्मतं हि तत् ॥२१॥
षडवस्था-परित्यागे जडा जीवस्य या स्थितिः।
भविष्यद्दुःख-बोधाढ्या सौषुप्ती सोच्यते गतिः ॥२२॥

१—योगवासिष्ठ, उत्पत्ति-प्रकरण, ११७–२।

एते तस्यामवस्थायां तृण-लोष्टशिलादयः ।
पदार्थाः संस्थिताः सर्वे परमाणुप्रमाणिनः ॥२३॥
सप्तावस्था इति प्रोक्ता मयाऽज्ञानस्य राघव ।
जाग्रत्स्वप्नश्चिरं रूढो जागृतावेव गच्छति ॥२४॥[१]

मोह अथवा अज्ञान सात प्रकार के हैं—(१) बीज जाग्रत, (२) जाग्रत, (३) महाजाग्रत, (४) जाग्रत स्वप्न, (५) स्वप्न, (६) स्वप्न जाग्रत और (७) सुषुप्त। ये आपस में मिलने-जुलने से अनेक भाँति के हो जाते हैं। पहले जो चेतना निर्मल रूप से आख्या-रहित (बिना नाम की) रहती है, उसी को बीज जाग्रत कहते हैं। उस समय उसकी कोई आख्या नहीं रहती। कालान्तर में वही चित्त, जीव, नाम, शब्द, अर्थ आदि का भागी बनती है। इस स्थिति में जाग्रत अवस्था के बीजरूप से रहने के कारण ज्ञप्ति को बीजजाग्रत कहते हैं। यह ज्ञप्ति की नवीन अवस्था है।

नवप्रसूत शिशु में 'मैं', 'यह', 'यह मेरा' का जो प्रत्यय उदित होता है, उसी को जाग्रत कहते हैं। यही प्रत्यय जब पीवर अर्थात् दृढ़ रूप लेकर स्पष्टतः 'यह', 'मैं', 'यह मेरा' के रूप में ज्ञान का स्वरूप धारण करता है तब उसे महाजाग्रत कहा जाता है।

जिस प्रत्यय में तन्मय होकर जागते-ही-जागते व्यक्ति का मनोविजृंभण होता है, वह जाग्रत स्वप्न है। उसमें वह प्रत्यय केवल मनोराज्य है। जाग्रत, स्वप्न, द्विचन्द्र, शुक्तिका में रुपये का भान, मृगतृष्णा में सलिल का प्रतिभास आदि अनेक रूप धारण करता है।

निद्राकाल में जो अनुभूत अर्थ है, उसी के विषय में 'मैंने इसे अल्पकाल तक ही देखा, किन्तु वह असत्य नहीं है', इस प्रकार के प्रबोध के उपरान्त जो प्रत्यय होता है वह, स्वप्न है। स्वप्न, महाजाग्रत के रहने पर ही होता है। चिरसंदर्शन के अभाव से स्वप्न का बृहद्वपु अप्रफुल्ल रहता है, अर्थात् बहुत देर तक ठहरने के कारण उसका भान उतना स्पष्ट नहीं होता। यही जब निरूढ़ प्रत्यय होकर महाजाग्रत के समान स्फुटता धारण करता है, तब स्वप्न जाग्रत कहा जाता है। उस अवस्था में सारा शरीर घायल रहने पर भी व्यक्ति मानों अपनेको अक्षत पाता है।

इन छः प्रकार की अवस्थाओं के परित्याग से जीव की जो जड़ावस्था होती है, वह सुषुप्तक कही जाती है। इस अवस्था में सभी संस्कार प्रसुप्त रहते हैं। यह भविष्यत् काल में दुःख का बोध कराने की शक्ति अपनेमें अभ्यर्हित रूप में रखता है। उस अवस्था में तृण, लोष्ट, शिला आदि पदार्थ परमाणुओं के रूप धारणकर (जाग्रत) रहते हैं। हे राघव, इस प्रकार मैंने सप्तविध अज्ञान का वर्णन किया। जाग्रत्स्वप्न चिरकाल से रूढ़ होने पर जाग्रतावस्था-से ही प्रतीत होने लगते हैं।

ये सात भूमियाँ स्थूलतः तीन विभागों में बाँटी जा सकती हैं—(१) बीज जाग्रत के ज्ञान का साधारण व्यक्ति को पता नहीं रहता। जाग्रत और महाजाग्रत, दोनों

१—वही, ११७।

जाग्रतावस्था में ही गिने जा सकते हैं और इनके साथ-साथ जाग्रत स्वप्न भी, क्योंकि वे भी जाग्रत में ही हुआ करते हैं। अतः इनको हम एक स्थूल विभाग जाग्रत में रख सकते हैं। (२) स्वप्न और स्वप्नजाग्रत, दोनों स्वप्न में ही परिगणित किये जा सकते हैं, क्योंकि दोनों में स्वप्नावस्था समान है, अतः दूसरा विभाग हुआ स्वप्न। (३) तीसरा विभाग तो स्पष्टतः सुषुप्ति है।

इस प्रकार 'योगवासिष्ठ' की ज्ञप्ति जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तिवाली है। अब हमें यह देखना है कि योगवासिष्ठ ने इनके लिए अन्तःकरण में अलग-अलग भूमियाँ मानी हैं कि नहीं। प्रश्न उठता है, योगवासिष्ठ ने अन्तःकरण की कितनी भूमियाँ मानीं? योगवासिष्ठ में अन्तःकरण को कभी मन, कभी चित्त, कभी जीव आदि भिन्न-भिन्न नाम से पुकारा गया है। इससे भ्रम हो सकता है कि योगवासिष्ठ की दृष्टि में चित्त, मन, बुद्धि, आदि में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु इस प्रकार का भ्रम निराधार है; क्योंकि कुछ स्थानों पर इन नामों के अनुसार इनके अलग-अलग धर्म और अलग-अलग क्रम बताये गये हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि योगवासिष्ठ ने भी चित्त के विभाग माने हैं; यद्यपि अन्तःकरण में प्रयेत्क विभाग की आवश्यकता और प्रधानता दिखाने के लिए सभी नाम से अन्तःकरण को बोधित किया गया है। अब हम योगवासिष्ठ में प्रयुक्त अन्तःकरण-सम्बन्धी उक्तियों को दो विभागों, अर्थात् क्रम-उक्तियों एवं धर्म-उक्तियों में बाँट सकते हैं। (१) प्रथम विभाग अर्थात् क्रमोक्तियाँ चित्त, बुद्धि, अहंकार, मन के परिणाम का प्रकार बताती हैं—

देशकालविभागान्ता तन्मात्रवलिता क्रमात्।
जीवोभूत्वा भवत्याशु बुद्धिः पश्चादहं मनः[१] ॥

चैतन्य देश-काल-विभाग के पूर्णतया अभिव्यक्त न होने तक उन्हीं से व्याप्त होकर परिणत होता है। पहले वह जीव के रूप में बनता है, पश्चात् बुद्धि तथा उसके अनन्तर अहंकार के रूप में परिणत होता है। और अन्त में मन बन जाता है। इससे यह व्यक्त हो जाता है कि अन्तःकरण का विकास क्रम से बुद्धि, उससे उत्पन्न अहंकार तथा अहंकार से उद्भूत मन द्वारा होता है। अब हम (२) धर्मोक्तियों के विभाग के अनुसार योगवासिष्ठ और डा० फ्रायड के मतों की समानता पर प्रकाश डालें। कौन-सा विभाग किस पर निर्भर रहता है? इस प्रश्न का उत्तर योगवासिष्ठ में स्पष्टतः परिलक्षित है। योगवासिष्ठ का कहना है—

'मनश्चैवं जडं मन्ये संकल्पात्मकशक्ति यत्।
क्षेपणैरिव पाषाणः प्रेर्यते बुद्धिनिश्चयैः ॥
बुद्धिर्निश्चयरूपैवं जडासत्त्वैव निश्चयः।
खातेनेव सरिन्नूनं साहंकारेण वाह्यते ॥[२]

मन संकल्पात्मक शक्ति है, वह बुद्धि-निश्चयों से प्रेरित होता है। और बुद्धि अहंकार से नियन्त्रित की जाती है। हमने पहले यह बताया है कि बुद्धि से अहंकार की उत्पत्ति

१—वही, निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्द्ध, ३०-७२।
२—वही, ७८. २०-२२।

होती है, किन्तु अहंकार बुद्धि पर प्रभुता स्थापित कर सकता है। बुद्धि निश्चय-रूपा है। अब एक-एक करके प्रत्येक के धर्मों की विवेचना अपेक्षित है। उनमें सबसे पहले हम मन को ही लेते हैं, क्योंकि वही सबसे स्थूल है।

(क) इसे संकल्पात्मक शक्ति की संज्ञा मिली है—

'मनस्त्वं समुपायाता संसारमवलम्बते।'[१]

मन होकर वह (जीव) संसार पर अवलम्बित होता है। मन को संसार से सम्बन्ध है। वह बुद्धि-निश्चयों से प्रेरित होता है। उसपर अहंकार की प्रभुता है।

मनो यदनुसन्धत्ते तत्कर्मेन्द्रियवृत्तयः।
सर्वासंपादयन्तेतास्तस्मात्कर्म मनः स्मृतम्॥[२]

मन जिसका अनुसन्धान करता है, उसी को सभी कर्मेन्द्रियों की वृत्तियाँ सम्पादित करती हैं, अर्थात् मन से ही सभी कर्मेन्द्रियों की वृत्तियाँ सञ्चालित होती हैं; अतः मन और कर्म दोनों में भेद नहीं है। इस प्रकार मन पूर्व विवेचना के अनुसार ही क्रियास्पन्द का मुख है।

गतेव सकलंकत्वं कदाचित्कल्पनात्मकम्।
उन्मेषरूपिणी नाना तदैव हि मनः स्थिता'॥[३]

जो कभी कल्पनात्मक होकर कलंकित होता है तथा नाना प्रकारों से उन्मेष को पाता है, वही मन है।

'रामास्य मनसो रूपं न किंचिदपि दृश्यते।'
'संकल्पनं मनो विद्धि संकल्पान्तन्नभिद्यते।'
'यदर्थप्रतिमानं तन्मन इत्यभिधीयते'।[४]

ऐ राम! मन का कोई रूप देखा नहीं जाता है। संकल्प ही मन है, मन संकल्प से भिन्न नहीं है। अर्थप्रतिमान ही मन कहा जाता है।

(ख) अहंकार

स्वाभाविकं यत्स्फुरणम् चिद्व्योम्नः सोऽङ्गजीवकः।
तदेव घनसंवित्त्या यात्यहंतामनुक्रमात्॥
संकल्पोन्मुखतां यातस्त्वहंकाराभिधः स्थितः॥[५]

चिदाकाश का स्वाभाविक स्फुरण जीव है। वही स्फुरण अनुक्रम से घन संवेदना के कारण अहंता को प्राप्त होता है। वही जब संकल्पोन्मुख होता है तब 'अहंकार' शब्द से व्यवहार किया जाता है। भेद यही है कि संकल्प करने पर मन हो जाता है और संकल्पोन्मुख होने पर 'अहंकार'।

'अभिमानादहंकारः।[६]

१—वही, ३०. ७३।
२—वही, उत्तरार्द्ध, ६६. १२।
३—वही, ११।
४—वही, ४. ३७, ४३, ४२।
५—वही, ६४. ६, १२, १६।
६—वही, १४।

अभिमान के कारण अहंकार हो जाता है।

यदा मिथ्याभिमानेन सत्तां कल्पयति स्वयम्।
अहंकाराभिमाने प्रोच्यते भवबन्धनी॥[1]

जब मिथ्याभिमान के कारण अपनी सत्ता की कल्पना करने लगती है, तब वह शक्ति अहंकाराभिमान से पुकारी जाती है।

अहंकाराभिधा या सा कल्प्यते ननु वास्तवी।
पाणिपादादिमात्रोऽयमहमित्येष निश्चयः॥[2]

मिथ्याज्ञान के कारण 'मैं पाणिपादादिमात्र हूँ' ऐसा जो कल्पित अभिमान होता है, उसी को 'अहंकार' नाम से पुकारा करते हैं।

'जानुस्तम्भेन महता धार्यते सुतरुर्यथा।
अहंकारेण देहोऽयं तथैव किल धार्यते।
अहंकार-क्षये देहं किलावश्यं विनश्यति।
मूले क्रकचसंलूने सुमहानिव पादपः॥[3]

अहंकार से ही यह देह धारण की जाती है। अहंकार के नाश हो जाने पर देह का नाश अवश्य हो जाता है। (यह ऐसा ही है) जैसा कि मूल में आरी से काटने पर वृक्षादि का होता है।

'चित्प्रधानोऽहंकारः कर्ता।[4]

चित्प्रधान अहंकार-कर्ता है।

ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि अहंकार मन और बुद्धि के बीच में है। वह बुद्धि का परिणाम है। उसी के रहने से शरीर की रक्षा होती है। यह साधारण अवस्था में शरीर की ज्ञप्ति का रूप धारण करता है। यथा—'मैं' कहने से ही नामरूपवाले शरीर का बोध होता है। इसी से बुद्धि और मन अपने-अपने कार्य करते हैं। यही धर्ता, ज्ञाता और कर्ता है।

(ग) बुद्धि

'अध्यवसायाद्बुद्धिः'।[5]

अध्यवसाय से बुद्धि होती है।

'भावानामनुसन्धानं यदा निश्चित्यसंस्थिता।
तदैषा प्रोच्यते बुद्धिरियत्ताग्रहणक्षमा॥[6]

१—वही, १५. ६६, १६।
२—वही, निर्वाण प्र०, ३३. ५३।
३—वही, उपशम, १६. ३, ४।
४—वही, उत्पत्ति०, १४. ५८।
५—वही, १६. ६७।
६—वही, ६६. १७।

निश्चयात्मक ज्ञान जिस मनोवृत्ति का काम है, वह बुद्धि कही जाती है। जब भावों[1] के अनुसन्धान का निश्चय करती है तब वह बुद्धि कही जाती है।

'शनैः शनैर्विचारेण बुद्धौ संस्कार आगते।
भ्रमो जगदहंचेति स्थित एवोपशाम्यति ॥[2]

धीरे-धीरे विचार से बुद्धि में संस्कार पड़ने पर जगत् और अहं का भ्रम आप-ही-आप समाप्त हो जाता है।

बुद्धि का स्थान अहंकार से निम्न है। अहंकार उसी से परिणत होता है। बुद्धि ही संस्कार-भूमि है। वह भावों का अनुसन्धान करती है। उसके विना निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता। यह ज्ञात-ज्ञात का स्थान लेती है।

(घ) चित्त

'इदंत्यक्तेदमायाति बालवत्पेलवा यदा।
विचारंसंपरित्यज्य तदा सा चित्तमुच्यते' ॥

जब चित्त की शक्ति स्थिर नहीं रहती और जब एक विषय को छोड़कर दूसरे को विचार किये विना ही ग्रहण करती है, तब वही चित्त है।

'रुदितं यन्महाक्रंदं पुंसा बह्वाशु राघव।
तद्भोगजालं त्यजता मनसा रोदनं कृतम्।
अर्धप्राप्तविवेकस्य न प्राप्तस्यामलं पदम् ॥
चेतसस्त्यजतो भोगान्परितापो हि वर्धते'[3]।
तच्चित्तेन विनार्थाशा शम्यतीति प्रदर्शितम् ॥
सहस्रनेत्रहस्तत्वं यत्पुंसः परिवर्णितम्।
तदनन्ताकृतित्वं हि चेतसः परिदर्शितम् ॥[4]

जो पुरुष का रोना था, वह भोग-जाल को छोड़ते समय मन का रोना है। (यहाँ मन से चित्त अभिप्रेत है) जिसने निर्मम पद को नहीं पाया हो, जिसे अर्धविवेक ही हुआ हो, उसे भोगों का त्याग करते समय परिताप होता है। चित्त के विना अर्थों की आशा नष्ट होती है। अतः चित्त ही आशा एवं तृष्णा का स्थान है। पुरुष के जो हजार हाथ और हजार नेत्र कहे गये हैं, वह सब चित्त के अनन्ताकृतित्व को ही दिखाने के लिए कहा गया है।

कल्पना चित्तमित्युक्त्या कथ्यतेशास्त्रदृष्टिभिः[5]

शास्त्रवित् कल्पना को चित्त कहते हैं।

१—Feelings & Emotions.

२—वही, मुमुक्षु, १८. ६, ३८।

३—वही, उत्पत्ति प्र०, सर्ग ६६।

४—वही, उपशम, १३।

५—वही, २३।

यश्चित्तफणिफूत्कारः सैवेयं कलनोच्यते ।[१]

जो चित्तरूपी फणी का फूत्कार है, वही फलता है।

'पुनर्जननयोग्या या वासना घनवासना ।
सा प्रोक्ता चित्तशब्देन न सा तज्ज्ञस्य विद्यते' ॥[२]

जो वासना घनवासना है, जो फिर जन्म देनेवाली है, वही चित्त-शब्द से कही जाती है। वह ज्ञानी में नहीं रहती है।

इच्छामात्रं विदुश्चित्तं तच्छान्तिर्मोक्ष उच्यते ।
एतावन्त्येव शास्त्राणि तपांसि नियमा यमा' ॥[३]

चित्त इच्छामात्र है। उसी की शान्ति मोक्ष है। सभी शास्त्र, तप, नियम, यम यहीं तक है।

'यास्त्वन्याश्चिच्छक्तयः सर्वशक्तेरभिन्ना एव कल्प्यन्ते ।'
'इच्छैवैता भूतजातयः ॥[४]
'रामेच्छानाम करिणी इदं मेऽस्त्वितिरूपिणी
यदोऽस्या वासनाव्यूहः सर्वतः प्रसरद्वपुः
संसारदृष्टयो राम तस्याः समरभूमयः ॥[५]
'चित्तादिमानि सुख-दुःखशतानि नून-
मभ्यागतान्यगवरादिव काननानि ।
तस्मिन्विवेकवशतस्तनुतां प्रयाते
मन्ये मुने निपुणमेव गलन्ति तानि' ।[६]

जो अन्य चिच्छक्तियाँ हैं, वे सभी सर्वशक्ति से अभिन्न ही हैं।
भूत जातियाँ इच्छारूपिणी हैं।
ऐ राम! 'यह मुझे हो जाय' इस प्रकार की इच्छा हथिनी है।
उसका मद वासना व्यूह है, जो सब जगह व्याप्त होता रहता है।
उस करिणी की समरभूमियाँ संसार-क्षेत्र हैं।
चित्त से सुख-दुःख की परम्परा पर्वतों से काननों के समान निकला करती हैं। विवेक से चित्त को प्रक्षीण बना दें तो वे सुख-दुःख अपने-आपही गल जात हैं।

इन सभी उद्धृत वचन-परम्पराओं से यही विदित होता है कि चित्त अन्तःकरण की सभी शक्तियों का केन्द्र है। वही वासनाभूमि है और इच्छा का रूप धारण करता है। उसमें किसी प्रकार का निषेध नहीं है। 'इदं मे अस्तु' 'यह मुझे हो

१—वही, २४।
२—वही, निर्वाण प्र०, पूर्वार्द्ध, १०१. २८।
३—वही, उत्तरार्द्ध, ३६, २५।
४—वही, ६३. १०, १६।
५—वही, निर्वाण प्र०, १२६. ७८, ८०, ८१।
६—वही, वैराग्य, १६. २६।

जाय' यही चित्त की वृत्तियों का स्वरूप है। उसी के कारण सुख-दुःखादि की अनुभूतियाँ होती हैं।

अब हमें यह देखना है कि योगवासिष्ठकार ने जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति को कि किन भूमियों का धर्म माना है। इस विषय में हमें योगवासिष्ठ के अध्ययन से कुछ स्पष्टतः नहीं ज्ञात होता, किन्तु इसका अनुमान हम योगवासिष्ठ द्वारा वर्णित योग-भूमियों के अध्ययन से कर सकते हैं। जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति की भूमियों का परिचय निम्न लिखित उद्धरणों से होता है—

> 'जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं त्रयं रूपं हि चेतसः।
> घोरं शान्तं च मूढं च आत्मचित्तमिहास्थितम् ॥
> घोरं जाग्रन्मयं चित्तं शान्तं स्वप्नमयं स्थितम्।
> मूढं सुषुप्तमावस्थं त्रिभिर्हीनं मृतं भवेत् ॥'[१]

चित्त के तीन रूप हैं—(१) जाग्रत, (२) स्वप्न और (३) सुषुप्त। आत्मचित्त घोर, शान्त, मूढ़ भेद से तीन प्रकार का है। घोर जाग्रन्मय है, शान्त स्वप्नमय है और सौषुप्तिक चित्तमूढ़ कहा जाता है। मुमुक्षु की दृष्टि से जाग्रत मिथ्या होने के कारण घोर कहा जा सकता है। जब इस संसार की वेदनाज्वालाएँ निर्वापित होने लगती हैं, तब स्वप्नावस्था होती है; अतः वह शान्त है। सुषुप्ति में सभी विभ्रम अस्तंगमित होते हैं; किन्तु प्रबोध के बाद वे व्युत्थित हो जाते हैं, अतः वे मूढ़ावस्था में विलीन रहते हैं। इसी कारण सुषुप्ति को मूढ़ कहा गया है। जाग्रत अवस्था में मन की प्रधानता एवं संकल्प की प्रमुखता पाई जाती है, ऐसा 'योगवासिष्ठ' का मत है। उसका कहना है—

> 'मनस्त्वं समुपायाता संसारमवलम्बते !'

मन संसार से अत्यन्त सम्बद्ध है। अतः जाग्रत और मन की एक ही भूमि मानना अनुचित नहीं हो सकता। बुद्धि संस्कारभूमि है, और स्वप्न का निर्माण स्मृति-विशेष से ही होता है, अतः उसमें बुद्धि की प्रमुखता है अर्थात् बुद्धि और स्वप्न में अधिक सम्बन्ध है। जब बुद्धि और मन दोनों सुषुप्ति के कारण अभिभूत होते हैं, तब चित्त का प्रकोप अर्थात् वासनाओं का प्रकोप होना चाहिए। किन्तु मन और बुद्धि के विना अहंकार उसका ज्ञान नहीं कर सकता, अतः अहंकार की दृष्टि में वह मूढ़ावस्था है।

घोर, शान्त, मूढ़ अवस्थाओं की विवेचना के सिलसिले में और एक ज्ञप्ति-विभाग का स्मरण आ जाता है, जिसे क्षिप्त, विक्षिप्त एवं मूढ़ कहते हैं। इनकी चर्चा करते हुए योगभाष्यकार ने क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध भूमियाँ बताई हैं। आचार्य वाचस्पति ने इन शब्दों की टीका इस प्रकार की है—

(१) क्षिप्तं—तेषुतेषुविषयेषु क्षिप्यमाणम् अत्यन्तमस्थिरम्।

(२) मूढं—मूढं तु निद्रावृत्तिमत्।

(३) विक्षिप्तम्—क्षिप्ताद्विशिष्टम्-कादचित्कः स्थेमा।

१—वही, निर्वाण, १२४. ३६–३८।

(४) एकाग्रं—एकतानम्।

(५) निरुद्धं—संस्कारशेषम्।

क्षिप्तावस्था वह है जिसमें चित्त, अर्थात् वाचस्पति के मत से, बुद्धि और मन उन-उन विषयों में लगते रहते हैं और अत्यन्त अस्थिर रहते हैं। मूढावस्था निद्रावृत्तिवाली है। विक्षिप्तावस्था तो कदाचित् क्षिप्त से विशिष्ट होती है; वह कभी स्थिर और कभी अस्थिर रहती है। एकधारारूप में ध्यान जिस अवस्था में रहता है, वह एकाग्र है। निरुद्धावस्था में संस्कार ही शेष रह जाते हैं।

योग के मत में पाँच वृत्तियाँ हैं : प्रमाण, विकल्प, विपर्यय, निद्रा और स्मृति। इन पाँचों वृत्तियों को तीन स्थूल विभागों में अन्तर्भूत कर सकते हैं। योगवासिष्ठ का भी कहना है—

सर्वं निरुपमं शान्तं मनसैतत्त्रिमार्गगम्।
ब्रह्मेदं बृंहितं ब्रह्म-शक्त्याकाशविकासया॥[1]

—सभी कुछ पूर्ण निरुपम ब्रह्म ही है। प्रथम वह आकाश के समान विस्तृत अपनी माया से जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति-लक्षणवाले तीन मार्गों में विकसित होता है। वे तीन मार्ग सृष्टि, स्थिति एवं लय अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक मार्ग भी कहे जा सकते हैं। प्रमाणादि पाँच वृत्तियाँ कुछ जाग्रत-अवस्था में, कुछ स्वप्नावस्था में और शेष निद्रावस्था में अन्तर्भूत हो सकती हैं। निद्रा सुषुप्ति है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति तो स्वप्नावस्था एवं जाग्रत दोनों में हो सकते हैं। किन्तु, प्रमाण जाग्रत-अवस्था में अधिक तथा अन्य स्वप्नों में प्रधान रूप से पाये जाते हैं। यदि हम क्षिप्त, विक्षिप्त आदि पाँच अवस्थाओं की तुलना इन्हीं से करके देखें, तो पता चलता है कि मूढावस्था सुषुप्ति की अवस्था है। 'मूढन्तु निद्रावृत्तिमत्'। तब एकाग्र एवं क्षिप्त की अवस्थाएँ दोनों जाग्रत में और विक्षिप्त और निरुद्ध की अवस्थाएँ स्वप्नावस्था में परिगणित की जा सकती हैं। किन्तु, इस प्रकार का विभाग करते समय यह बात ध्यान में रखनी होगी कि ये पाँचों अवस्थाएँ जाग्रत में हो सकती हैं। प्रत्येक अवस्था में पाँचों अवस्थाओं के भेद अन्तर्भूत हैं। स्वप्न में निरुद्ध, एकाग्र, मूढ, क्षिप्त और विक्षिप्त की अवस्थाएँ उपस्थित हैं। किन्तु, इस विषय में हमें प्रत्येक मार्ग के विशेष गुण की जानकारी भी कर लेनी चाहिए। ऐसा करने से विदित होता है कि साधारण व्यक्ति में एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाओं का अनुभव नहीं होता है; और प्रायः क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ अवस्थाओं की ही अनुभूति होती है। स्वभाव से जाग्रत क्षिप्त है। 'क्षिप्तं तेषु तेषु क्षिप्यमाणम् अत्यन्तमस्थिरम्'। यही सर्वार्थता है। प्रत्येक विषय के साथ चित्तवृत्ति परिवर्त्तित रहती है। इसकी अपेक्षा स्वप्नवृत्ति विक्षिप्त है, 'वह क्षिप्त से विशिष्ट है।' उसकी स्थिति थोड़ी देर तक स्थिर, फिर चंचल होती है। मूढ तो निद्रावृत्ति है, जैसा कि हमने ऊपर देख लिया है। सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत-अवस्थाओं में तो सभी व्यक्ति आते हैं। सभी में चैतन्य जागरूक है। किसी में अन्तःकरण

१—वही, ३४, ६।

प्रसुप्त होता है तो किसी में जाग्रत होता है। इसी से तीनों मार्गों का भेद हो जाता है। इस प्रकार की अवस्थाओं को समष्टि और व्यष्टि के भेद से भारतीय विद्वान् द्विधा मानते हैं और उनमें रहनेवाले चैतन्य के विविध नाम रखते हैं। पहले व्यष्टि की बात देखी जाय। भारतीय विद्वानों का कहना है कि जाग्रत में चैतन्य का नाम विश्व, स्वप्न में तैजस और सुषुप्ति में प्राज्ञ है। वही समष्टि में वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और ईश्वर नामवाला हो जाता है। इन तीनों के ऊपर एक विशिष्ट अवस्था भी मानी जाती है, जिसमें से अन्य तीन स्थितियाँ परिणत एवं विवर्त होकर पुनः उसी में लीन हो जाती हैं। इसी को भारतीय विद्वान् तुरीयावस्था कहते हैं। इसी को ब्रह्म, मोक्ष, शून्य आदि नामों से भी पुकारा जाता है।

डॉ० फ्रायड ने दूसरे प्रकार से विचार करते हुए एक जडावस्था का पता चलाया है, जिसकी समानता तुरीयावस्था से की जा सकती है। भेद केवल इतना ही है कि डॉ० फ्रायड द्वारा प्रचलित अवस्था जड कही जाती है और भारतीय चैतन्य, चैतन्य है। डॉ० फ्रायड के मत में भी एक शक्ति की गणना होती है, जिसके सम्बन्ध से जडावस्था में चंचलता उत्पन्न होती है और जिसमें वह चैतन्य प्रवृत्ति तथा निवृत्ति रूप में अभिव्यक्त होती है। किन्तु वास्तव में, वह जडावस्था जडावस्था है कि नहीं, उसे भी हम चैतन्य ही क्यों नहीं मानते, आदि प्रश्नों पर डॉ० फ्रायड ने विचार नहीं किया है।

अबतक हमने ऊपर की विवेचना द्वारा डॉ० फ्रायड द्वारा उद्घोषित चित्त-भूमियों एवं भारतीय आचार्यों की चित्त-वृत्तियों में समानता दिखाने की चेष्टा की है। सभी बातों की विवेचना तो की गई, किन्तु डॉ० फ्रायड की एक बात की विशेष चर्चा नहीं की गई। वह यही है कि ज्ञाताज्ञात शब्द-संस्कारों की भूमि है। शब्द की उत्पत्ति क्या है? कर्णपुट में स्वर-लहरियों द्वारा उत्पन्न उत्तेजना मस्तिष्क-केन्द्रों में प्रवेश कर ज्ञाताज्ञात तक ही क्यों जाती है, वह अज्ञात तक क्यों नहीं चली जाती है? इस शंका का डॉ० फ्रायड ने कोई समाधान नहीं किया है। उन्होंने प्रतिहारी के कार्यों को बताते समय यह स्पष्ट किया है कि वह बाह्योन्मुख होनेवाली प्रवृत्तियों पर ही प्रतिहारी का कार्य करता है। चित्त के भीतर जो संवेदनाएँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें वह नहीं रोकता है। इस बात के अनुसार यह सिद्ध होता है कि शब्द के संस्कार अज्ञात तक पहुँच जाते हैं। उनके बाह्योन्मुख होने में अर्थात् क्रिया-रूप में परिणत होने में, उनका प्रकाश विशेषतः ज्ञाताज्ञात में अनुभूत होने लगता है।

भारतीय तन्त्र-शास्त्रियों ने शब्द की उत्पत्ति पर ध्यान दिया है। इनके अनुसार प्रत्येक शब्द की चार दशाएँ हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। परा अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था है। उसका पता साधारणतः नहीं चलता है। किन्तु, अन्य तीनों का पता चल सकता है। इस विषय में भारतीय मत निम्नांकित है—

या सा मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती त्रिषष्टिः।
वर्णानत्र प्रकटकरणैः प्राणसङ्गात् प्रसूते॥

तां पश्यन्तीं प्रथममुदितां मध्यमां बुद्धिसंस्थां।
वाचं वक्त्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये॥

परम सूक्ष्म पराख्य शब्द की अवस्था सभी शब्दजात का मूल है। वह ब्रह्मात्मिका है। उस अवस्था से वह प्रकाशोन्मुख होता हुआ व्यक्ततर अवस्था में प्रथम पश्यन्ती, उससे व्यक्ततर होकर बुद्धिस्थ होते समय मध्यमा और केवल क्रिया-रूप में परिणत होते समय, उच्चारण के समय वैखरी कहा जाता है। इसी शब्द के प्रकार के विषय में स्पन्दकारिका में (रामकण्ठाचार्यकृत विवृति के साथ) कहा गया है—

अविभागात्तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रिया।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मावागनपायिनी॥
केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्त्तते॥
स्थानेष्वभिहते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना॥[१]

परा शब्द चैतन्य से भिन्न नहीं है, वह चित्त की शक्ति है। उसमें किसी प्रकार का स्पन्द नहीं है और न उसमें भिन्नताएँ, नाम, वर्ण आदि विभाग ही हैं। पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वृत्तियों में स्पन्द है और इनमें विभाग और क्रम की महत्ता बढ़ती जाती है। वैखरी में क्रम और विभाग स्पष्ट हो जाते हैं। मध्यमा में वही 'क्रमरूपानुपातिनी' क्रम को पाने लगता है। पश्यन्ती की स्थिति में केवल शब्द पाया जाता है। उसमें वर्ण आदि के भेद नहीं होते, केवल प्रकाश पाया जाता है। मध्यमा की स्थिति पश्यन्ती और वैखरी के बीच में है। वह बुद्धिसंस्था है। दूसरे तांत्रिकों ने मध्यमास्थित शब्द को 'बाह्यान्तःकरणात्मिका' की संज्ञा दी है। वह न तो केवल सूक्ष्म है और न स्थूल। उसमें दोनों का अंश दिखाई पड़ता है। उसमें पश्यन्ती का प्रकाश भी है और वैखरी की क्रिया एवं क्रम भी हैं। आचार्य रामकण्ठाचार्य ने कहा भी है—'सा चेयं (वैखरी) क्रियात्मिका क्रियास्वभावा'।[२]

योगवासिष्ठ ने चित्त-भूमियों की चर्चा करते हुए एक भूमि का नाम 'पश्यन्ती' कहा है। अतः मालूम होता है कि चित्त-भूमियों को पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी की दृष्टि से भी देख सकते हैं। योगवासिष्ठ का कहना है—

पश्यन्ती नाम कलितोत्सृजन्ती चेत्यचर्वणाम्।
मनोमोहाभ्रनिर्मुक्ता शरदाकाशकोशवत्॥

१—श्रीपरात्रिंशिका, निष्पन्द ४, अभिनवगुप्तकृत टीका, *Kashmir Series of Texts and Studies No. XVIII.*

२—*Sir John Woodroffe : The Garland of Letters, P. 240 Para*—Rest passing into movement; *Pasyanti*—General movement; *Madhyama*-Special movement of subtle character heard by the subtle ear; *Vaikhari*-Special movement which as speech is the fully articulated sound heard by the gross ear.

शुद्धा चिद्भावमात्रस्था चेत्यचिच्चापलं गता ।
समस्तसामान्यवती भवतीर्णभवार्णवा ॥
अपुनर्भवसौषुप्तपदपाण्डित्यपीवरी············
एतत्ते मनसि क्षीणे प्रथमं कथितं पदम् ॥[१]

इसके अनन्तर योगवासिष्ठ ने परा को भी एक भूमि बताई है जिसे वह—

न जडा नाजडा स्फारा धत्ते सत्तामनामिकाम् ।
दिक्कालाद्यनवच्छिन्न - महासत्तापदं गता ॥[२]

पश्यन्ती चेत्यचर्वणा को, प्रीति की अनुस्मृति को छोड़ती है। उस समय स्मृति, प्रिय, अप्रिय आदि का ज्ञान नहीं होता है। पहले 'चेत्यचिच्चापलं गतापि' अर्थात् चांचल्य को पाने पर भी इस अवस्था में जो चित्स्वभावमात्र रहता है, उसे सुषुप्ति कहा जाता है; क्योंकि यह आनन्द का विषय है और यह मन के क्षीण होने पर प्राप्त होती है। तुरीय एवं परा तो, काल, देश आदि के ज्ञान से अनवच्छिन्न है। पश्यन्ती में सभी भेद हैं; किन्तु 'भृष्टबीजोपम' है। वे प्रकट होंगे ही और जब वे प्रकट होते हैं तब वह रूप चैतन्यमध्यमा अथवा बुद्धि का नाम धारण करता है।

योगवासिष्ठ ने निवृत्ति के विषय में व्यक्ति के चैतन्य की स्थितियों में पश्यन्ती को एक भूमि माना है। किन्तु, वह प्रवृत्ति के विषय में व्यक्ति में भी उपयुक्त है। दोनों में भेद इतना ही है कि निवृत्ति में व्यक्ति की पश्यन्ती 'अपुनर्भवसौषुप्तपद-पाण्डित्यपीवरी' अर्थात् फिर उत्पन्न होनेवाली, जाग्रत होनेवाली पश्यन्ती नहीं है; और प्रकृति में व्यक्ति की पश्यन्ती पुनः उत्पन्न होनेवाली है। इस प्रकार प्रयोग करने में हमने आचार्यों के मार्ग का ही अनुसरण किया है जो निवृत्तिमुखी योगी के और प्रवृत्तिलीन व्यक्ति के सौषुप्तिक जीव को 'स्वपिति' कहता है।

इस प्रकार से विदित होता है कि पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी; सुषुप्ति, स्वप्न, जाग्रत; ईश्वर, हिरण्यगर्भ और वैश्वानर; प्राज्ञ, तैजस, विश्व; अज्ञात, ज्ञाताज्ञात और ज्ञात में तुलना हो सकती है। सर जॉन वुडरौफ का कहना है—

'जिस प्रकार शरीर-कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर अथवा लिंग-शरीर और शरीर हैं, जिस प्रकार समष्टि और व्यष्टि रूप से तीन अवस्थाएँ, सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत; प्राज्ञ, तैजस, विश्व; ईश्वर, हिरण्यगर्भ और वैश्वानर अथवा विराट्; और सभी का मूलभूत अतीतावस्था तुरीय है; उसी प्रकार शब्द की भी तीन अवस्थाएँ हैं; पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनकी योनिभूत चतुर्थावस्था भी एक है, जिसका नाम परा है।'[३]

१—यो०वा०, नि० पूर्वार्द्ध, ३४, ९, १०, १२।

२—वही, १७–१८।

३—*Sir John Woodroffe: The Garland of Letters: P. 208.* Just as the body is casual, subtle, gross and these are three cosmic and individual states, dreamless sleep, dreaming, waking; Prajna, Taijasa, Visva; Isvare, Hiranyagarbha, Vaisvanara or Virat; and a fourth transcendent state or Turiya so there the states (Bhava) of sound Pasyanti, Madhyama, Vaikhari developed from a fourth supreme and undifferentiated state (Para).

गत पृष्ठों में हमने पाश्चात्य चित्त-विश्लेषण-शास्त्र तथा भारतीय शास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का यत्न किया है, इसके फलस्वरूप जो बातें विदित हुईं, उन्हें हम एक चित्र द्वारा प्रकट करने का यत्न करते हैं। किन्तु इसके पूर्व हम पाठकों को एक बात के बारे में सावधान करना चाहते हैं। पाठकगण इस भ्रम में न पड़ें कि इस अध्याय की सभी विवेचित बातें सर्वथा ठीक ही हैं; क्योंकि हमने पाश्चात्य विद्वानों के ज्ञानदीपक द्वारा भारतीय शास्त्रों को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार से अध्ययन करने में अनेक अन्तराय हैं, तथापि इस गम्भीर विषय का अध्ययन किस प्रकार किया जा सकता है, यही दिखाने की चेष्टा की गई है। हाँ, यदि पाठकगण इसी तुलनात्मक दृष्टि से चित्त के विषय में अध्ययन करने का बीड़ा उठाएँ तो हम अपने को कृतकृत्य समझेंगे। अन्त में, हम एक अन्य भ्रम की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं, और वह यह है कि वास्तव में, चित्त के किसी भाग का स्पष्टतः पता नहीं चला। केवल अध्ययन-सौकर्य के लिए ही चित्त के भाग मान लिये गये हैं। यही डॉ० फ्रायड का कहना है और यही बात योगवासिष्ठ में भी पाई जाती है—

संकल्पात्स मनो भवेत। अध्यवसायाद्बुद्धिः। अभिमानादहंकारः।
स्मरणाच्चित्तम्। विक्षेपशक्तित्वान्माया।[1]

वही शक्ति संकल्प से मन, अध्यवसाय से बुद्धि, अभिमान के कारण अहंकार, स्मरण से चित्त, विक्षेप-शक्ति के कारण माया हो जाती है। सभी में शक्ति एक ही है, जिसके सभी उल्लास हैं और उसके उल्लास-भेद से भिन्न-भिन्न क्रियाएँ होती हैं अथवा भिन्न-भिन्न नाम पड़ जाते हैं।

एषत्वात्मा सर्वशक्तित्वाच्च क्वचिच्चिच्छक्तिं प्रकटयति, क्वचिच्छान्तिं, क्वचिज्जडशक्तिं क्वचिदुल्लासं क्वचित्किंचिन्न किंचित्प्रकटयति।[2]

आत्मा सर्वशक्तिमान् है। अतः वह कभी कहीं चिच्छक्ति को, कहीं शान्ति को, कहीं जडता को, कहीं उल्लास को प्रकट करता है। कहीं कुछ करता है और कहीं कुछ करता है।

डॉ० फ्रायड	योगवासिष्ठ	तन्त्रवादि	वेदांत		योग	सामान्यतः
			व्यष्टि	समष्टि		पूर्व विद्वान्
ज्ञात (जाग्रत)	घोरा	वैखरी	विश्व	वैश्वानर	क्षिप्त	जाग्रत
ज्ञाताज्ञात (स्वप्न)	शान्ता	मध्यमा	तैजस	हिरण्यगर्भ	विक्षिप्त	स्वप्न
अज्ञात (सुषुप्ति)	मूढा	पश्यन्ती	प्राज्ञ	ईश्वर	मूढ	सुषुप्ति

१—योगवासिष्ठ, उत्तरार्द्ध, ६७।
२—वही, ८३. २।

पाँचवाँ अध्याय

काम-शक्ति

चित्त-यन्त्र शक्ति से भरा हुआ है। शक्ति के कारण उसमें अनेक वृत्तियाँ होती हैं। चैतन्य ही शक्ति है जिसके विना जीव-जगत् जड हो जाता है। जीव और शव; जंगम और स्थावर आदि सभी भेद इसी शक्ति के समुल्लास के भेद से हैं। यह शक्ति दो प्रकार की है—(१) भौतिक कार्यों में प्रकट होनेवाली और (२) अन्तःकरण की क्रियाओं में अभिव्यक्त होनेवाली। शक्ति का लक्षण ही यह है कि वह जड वस्तुओं को उनके स्थान से हटानेवाली या हटा सकनेवाली है। यह चैत्त वृत्तियों में दृग्गोचर होती है। इसी से निरुद्ध वृत्तियाँ जाग्रत और व्युत्थित होती हैं। तिरोभूत संस्कार अपने-अपने वेगों के साथ अभिव्यक्त हो जाते हैं। सुख-दुःख आदि में एक वेग मालूम पड़ता है। भूख-प्यास आदि प्रवृत्तियों में व्यक्ति की शान्ति को बाधा पहुँचानेवाली तीव्रता और परिवर्त्तनोन्मुख प्रवृत्ति अनुभूत होती है। शक्तिपात से व्यक्ति स्थिर नहीं रह सकता। भौतिक जगत् में प्रत्यक्षतः देखा जाता है कि जब-जब किसी वस्तु पर शक्ति का प्रयोग होता है, वह वस्तु अपनी स्थिरता खो देती है और उसमें चांचल्य होने लगता है। प्रवृत्ति रजः का धर्म है। 'चलं रजः' अर्थात् रज चंचल है। रजः शक्ति का धर्म है। सभी शक्तियाँ एक ही महती शक्ति के समुल्लास हैं। वही महती शक्ति कभी चैतन्य के रूप में, कभी भौतिक शक्ति के रूप में प्रकट होती है। वह शक्ति सभी स्थलों में कहीं विक्षेप (छितराये) और कहीं संवरण-रूप में कार्य करती परिलक्षित होती है। व्यक्ति का जीवन आन्तरिक और बाह्य शक्तियों के इसी प्रकार के विक्षेपों अथवा संवरणों के पारस्परिक तुमुल संग्राम का क्षेत्र है। प्रत्येक व्यक्ति में, प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक अणु में इन्हीं दोनों रूपों में शक्ति काम कर रही है। उसका एक उल्लास बहिर्मुख है, तो दूसरा अन्तर्मुख है। एक प्रवृत्ति की ओर है तो दूसरा निवृत्ति की ओर; एक क्रिया में परिलक्षित होता है तो दूसरा प्रतिक्रिया में; और इसी प्रकार एक विभेद में तो दूसरा ऐक्य-करण में अभिव्यक्त होता दिखाई पड़ता है। भौतिक शक्ति जिन नियमों के अधीन काम करती दिखाई पड़ती है, उन्हीं नियमों के अधीन होकर चेत्य-शक्ति अथवा मानस-शक्ति भी अपना कार्य करती है।

यहाँ हमें भौतिक जगत् में शक्ति के स्वरूप अथवा उसके कार्यों की परिगणना नहीं करनी है। यहाँ हमारा उद्देश्य केवल इस परिज्ञान से है कि उस शक्ति का स्वरूप मानस-जगत् में क्या है; उसके संवरण और विक्षेप किस प्रकार होते हैं; तथा बाह्य जगत् के संस्पर्श से उसमें कौन-कौन-से परिवर्त्तन होते हैं?

चित्त में शक्ति है, यह निर्विवाद विषय है। यदि उसे कोई भौतिक शक्ति ही कहना चाहे तो कोई बाधा नहीं है; किन्तु जिन कारणों से हमें मानसिक जगत् और

भौतिक जगत् को अलग-अलग मानना पड़ा, उन्हीं कारणों से चैत्त शक्ति अथवा मानसिक शक्ति को अलग मानना पड़ता है। मानसिक शक्ति का स्वरूप क्या है ? इस विषय में अनेक मतभेद हैं। उसका स्वरूप जाने विना उसके कार्यों को जानना दुष्कर है। स्वरूप के ज्ञान से उसकी क्रियाओं का तथा उससे निस्सृत धाराओं का नियमन हम कर सकते हैं। अतः, सर्वप्रथम हम उसके स्वरूप की चर्चा ही उपस्थित करते हैं। मानसिक शक्ति के स्वरूप की चर्चा अनेक आचार्यों ने की है। उनमें हम डॉ० फ्रायड के मत को प्रथम स्थान देकर उसकी तुलना अन्य मतों से करने की चेष्टा करेंगे। उसके स्वरूप के विषय में युंग, एडलर, भगवानदास तथा अन्य विद्वानों ने भी अपने-अपने मत प्रकट किये हैं और हम यथास्थान उनका निर्देश भी करेंगे।

डॉ० फ्रायड ने उस शक्ति को कामशक्ति अथवा लिबिडो[१] कहा है। लिबिडो के अर्थ के विषय में मतैक्य नहीं है। डॉ० फ्रायड तथा उनके आरम्भिक कट्टर शिष्य युंग एवं एडलर की स्थापनाएँ इस विषय में पृथक्-पृथक् हैं। सभी 'लिबिडो' शब्द का प्रयोग करते हैं, किन्तु विभिन्न अर्थों में। अतः, पहले हम 'लिबिडो' शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालेंगे, जिससे उसके धात्वर्थ का अथवा मूल का बोध हो जाय। इसी विवेचन द्वारा विभिन्न आचार्यों के विविध मतों पर भी प्रकाश पड़ता जायगा। इस शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में प्रसिद्ध चित्त-विश्लेषक एवं मनोवैज्ञानिक युङ्ग की व्याख्या अतिप्रसिद्ध है जिसे हम थोड़ी व्याख्या के साथ इस पृष्ठ की टिप्पणी में दे रहे हैं[२]। स्पष्ट है कि सभी भाषाओं में 'लिबिडो' शब्द की विकृति और उसका अर्थ साफ है। संस्कृत में उसके रूपान्तरों का अर्थ है—तीव्र काम के वश होना, काम उत्पन्न करना, उत्कंठा, काम, लोभ आदि। गौथिक भाषा में इसका अर्थ आशा है; पुरानी जर्मन भाषा में प्रेम, स्तुति, प्रशंसा, कीर्त्ति है; ब्लगेरियन भाषा में प्रेम है और बिचूनिअन भाषा में प्रशंसा है।

इस रीति से लिबिडो तथा लिबिडो-सम्बन्धी जितने अर्थ प्राप्त होते हैं, उन्हें हम स्थूलतः प्रेम और यश अथवा काम और यश समझ सकते हैं। 'काम' किसी भी वस्तु

१—Libido.

२—The use of libido is very general.........Etymological context of the word (1) libido or lubida (with libet more ancient lubet) it pleases me (प्रसन्नता-सुख पहुँचाना), (2) and libens or lubens=gladly, willingly (खुशी से, सन्तोष के साथ), (3) Sanskrit, Lubhyati (लुभ्यति), to experience violent longing (तीव्र कामवश होना), (4) Lobhayati (लोभयति), excites longing (काम उत्पन्न करता है), (5) Lubdha (लुब्धा), Eager (उत्कण्ठता), (6) Lobha (लोभ), longing, eagerness (काम-उत्कण्ठा), (7) Gothic=limps, and, (8) Old High German liob=love (प्रेम), Moreover in Gothic, (9) lubains was represented as hope (आशा); and (10) Old High German, lobon to praise (स्तुति करना), (11) lob=commendation (प्रशंसा), praise, glory (कीर्त्ति), (12) Old Bulgyrian, Gubili=to love (प्रेम करना), Guby=love (प्रेम), (13) Lithuanian, liaupsinti=to praise (प्रशंसा करना)—देखिए *C. G. Jung : The Psychology of Unconscious, P. 76.*

का हो सकता है; धन का काम, यश का काम और स्त्री का काम आदि। अतः, 'काम' शब्द के वास्तव रूप को समझने से ही लिबिडो का अर्थ विदित होगा।

'काम' कहते ही दो अथवा दो से अधिक का बोध होता है; क्योंकि काम किसी विषय का ही होता है; विषय के विना काम नहीं है। विषय के साथ ही विषयी का बोध होता है। विषयी और विषय का सम्बन्ध ही काम का कारण है। जहाँ काम 'आत्म-काम' होता है, वहाँ भी आत्मा अथवा अपने-आपको व्यक्ति काम का विषय मानता है। अतः दो के विना काम की स्थिति नहीं है।

काम का स्वरूप क्या है—वह दो भिन्नताओं के बीच का सम्बन्ध है। वह विषय और विषयी को एकात्म बनाने की प्रवृत्ति है और है वह आकर्षण-रूपवाला।[१] इसी का दूसरा मुख विकर्षण है। प्रथम प्रवृत्ति है और उसके उपरान्त निवृत्ति अर्थात् आकर्षण के उपरान्त विकर्षण। उदासीन स्थिति के परिवर्त्तित होने पर पहला आकर्षण होता है और फिर बाद विकर्षण की स्थिति आती है; अर्थात् विकर्षण तबतक नहीं हो सकता, जबतक आकर्षण न हुआ हो। यों ही उदासीनता से विकर्षण का उद्भव नहीं हो सकता। विकर्षण निषेधात्मक है। उसकी सत्ता विधेयात्मकता के अस्तित्व पर निर्भर है। इस विकर्षण को भी इसी कारण से आकर्षण का दूसरा मुख समझना चाहिए।

१—Thus the Libido of our sexual instincts would coincide with the Eros of poets and philosophers, which holds together all living things. *Freud : 'Beyond the Pleasure Principle' P.-64.*

मिथुन-वासनाओं में अभिव्यक्त होनेवाले काम और कवि तथा दार्शनिकों के साथ में कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि दोनों का धर्म एक ही है। वह सभी प्राणियों का धारण है।

That 'sexual instincts' are, we knew through their relation to the sexes and to the function of propagation. We then retained his term when the findings of psycho-analysis compelled us to regard its relation to propagation as less close. With the discovery of narcissistic libido, and the extention of the libido concept to the individual cells, the sexual instinct became for us transformed into the Eros that endeavours to impell the separate parts of living matter to one another and hold them together; what is commonly called the sexual instinct appears as that part of the Eros that is turned towards the object.
Freud : 'Beyond the Pleasure Principle' P. 78.

मिथुन-वासनाएँ क्या हैं, यह हमने जातियों से और प्रजनन के पारस्परिक सम्बन्ध से जाना है। हमने इसी शब्द का प्रयोग तब भी किया, जब चित्तविश्लेषण के कारण हम प्रजनन से उनके सम्बन्ध को कम महत्त्व देने के लिए मजबूर हुए थे। स्वीय काम के आविष्कार के साथ ही उसके अन्तर्गत अलग-अलग कोशिकाओं को भी अन्तर्गत करते ही मिथुन-वासना ने Eros का रूप धारण किया, जो सभी भिन्न द्रव्यों को एक में मिला देने का प्रयत्न करता है और उन्हें एक रूप में सुरक्षित रखने की चेष्टा करता है। जिसको प्रायः मिथुन-वासना कहते हैं। वह Eros के उस भाग का नाम है जो विषय के प्रति आकृष्ट है।

(इन टिप्पणियों का स्पष्ट विवरण इस ग्रन्थ के आगे के अध्याय में स्पष्ट होगा।)

इस काम का प्रत्यक्ष और स्थूल प्रमाण 'दारैषणा' (स्त्री के लिए इच्छा) है। सबसे सूक्ष्म अथवा अभौतिक रूप आत्मकाम है। इसी कारण डॉ० फ्रायड प्रारम्भ में सभी शक्तियों की प्रकृति को मिथुन-शक्ति अर्थात् काम-शक्ति मानते थे। किन्तु, और परिशीलन के उपरान्त उन्हें आकर्षणमात्र काम मालूम पड़ा, और वे जहाँ-जहाँ आकर्षण है, वहाँ-वहाँ मिथुन-शक्ति, मैथुन-क्रिया और काम-शक्ति का अस्तित्व मानने लगे। मिथुन शब्द इस प्रकार अति विस्तृत अथवा व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। अधिकतर मैथुन शब्द का प्रयोग स्त्री-पुरुष-संप्रयोग में होता है। प्रजननार्थ में ही मैथुन शब्द का प्रयोग होता है। अतः, डॉ० फ्रायड ने जब मैथुन शब्द का प्रयोग किया तो जनता उन्हें अश्लील कहकर उनकी निन्दा करने लगी। डॉ० फ्रायड ने मैथुन-शक्ति का इतना विस्तृत क्षेत्र माना कि उसी में सभी प्रकार के प्रेम, यथा भ्रातृ-प्रेम, भगिनी-प्रेम; गुरुभक्ति, देवभक्ति; पितृ-प्रेम और मातृप्रेम, सखा-प्रेम, सखी-प्रेम, आदर्श प्रेम आदि समाहित हो गये। इससे लोग आगबबूला हो गये। भारतवासी भी काम शब्द का इसी विस्तृत अर्थ में प्रयोग करते हैं। कामुक कहने से कोई साधारण मनुष्य 'स्त्री-कामुक' को छोड़ कर और किसी अन्य अर्थ का ग्रहण नहीं करता। कामदेव का अर्थ है—मन्मथ, रतिपति, मनसिज, पञ्चबाण आदि। उनका कार्य प्रिया और प्रिय का अथवा स्त्री और पुरुष का मिलाप कराना है। इस प्रकार से 'काम' शब्द का स्थूल अर्थ में प्रयोग होता है और सूक्ष्मतर विचार करनेवाले काम शब्द का अतिविस्तृत अर्थ बताते हैं और इच्छा के पर्याय में प्रयोग करते हैं, और विषय की अभिकांक्षा में भी प्रयोग करते हैं। अतः, हम 'लिबिडो' को काम-शक्ति कहकर प्रयोग करेंगे। 'काम' शब्द के प्रयोग के विषय में डॉ० फ्रायड का निम्नलिखित कथन पढ़ने योग्य है[१]—

१—Libido is an expression taken from the Theory of the Emotions. We call by that name the energy of those instincts which have to do all that may be comprised under the word 'love'. The nucleus of what we mean by love naturally consists (and this is what commonly called love, and what the poets sing of) in sexual love with sexual union as its aim. But we do not separate from this—what in any case has a share in the name 'love'—on the one hand, self-love, and on the other, love for parents and children, friendship and love for humanity in general and also devotion to concrete objects and to abstract ideas. Our justification lies in the fact that psycho-analytic research has taught us that all these tendencies are an expression of the same instinctive activities; in relation between the sexes these instincts force their way towards sexual union, but in other circumstances they are diverted from this aim or are presented from reaching it, though always preserving enough of their original nature to keep their identity recognizable (as in such features as the longing for proximity and self-sacrifice.)

We are of opinion then, that language has carried out an entirely justifiable piece of unification in creating the word 'love' with its

'लिबिडो' शब्द 'संवेग-सिद्धान्त' से लिया गया है। यह शब्द उस शक्ति के लिए प्रयुक्त होता है, जो 'प्रेम' शब्द से किसी प्रकार से भी सम्बन्ध रखनेवाली मूल प्रवृत्तियों में अभिव्यक्त होती है। 'प्रेम' का यदि कोई बीज, गर्भ या संचयास्पद है (जिसे सभी 'प्रेम' कहते हैं और कवि जिसके विषय में गाया करते हैं) तो वह मैथुन-प्रेम है जिसका ध्येय संप्रयोग है। किन्तु, 'मैथुन-प्रेम' (Sexual love) में किसी प्रकार से 'प्रेम' शब्द-भागी जितने सम्बन्ध हैं, सभी अभ्यर्हित हैं। वे उससे भिन्न नहीं किये जाते हैं, यथा—स्वीय प्रेम और दूसरी ओर पितृ-मातृ-प्रेम, शिशु-वात्सल्य, मैत्री, विश्व-प्रेम, वैषयिक आसक्ति और भावनाओं के प्रति श्रद्धा-भाव आदि। इस प्रकार के प्रयोग के विषय में हमारा प्रमाण यही है कि चित्त-विश्लेषण ने इन सभी प्रवृत्तियों को उसी (मैथुन-वासना या दारैषणा) वासना की अभिव्यक्तियाँ-सी सिद्ध किया है। स्त्री-जाति और पुरुष-जाति के सम्बन्ध में यह वासना संप्रयोग की ओर प्रवृत्त होती है और अन्य परिस्थितियों में उसी उद्देश्य से दूसरी ओर घुमाई जाती है और संप्रयोग में परिणत होने से रोकी जाती है। किन्तु, उन परिवर्तित परिस्थितियों में भी यह वासना अपना प्राकृतिक स्वभाव यदि संपूर्णतः नहीं तो अंशतः ही बचाये रखती है और उसका अभिज्ञान हो सकता है।

भाषा ने यदि 'प्रेम' शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग किया तो वह हमारे सिद्धान्त का ही समर्थन करती है। अतः, हम शास्त्र और वैज्ञानिक चर्चाओं में और सिद्धान्त-प्रतिपादनों में इसी को आधार-स्वरूप मानते हैं। इस प्रकार के निर्णय पर पहुँचने से चित्त-विश्लेषण-शास्त्र भीषण क्रोध का लक्ष्य बना। परन्तु, इस रीति से 'प्रेम' शब्द का अति विस्तृत अर्थ में प्रयोग करने में हमने कोई नवीनता नहीं दिखाई। मैथुन-प्रेम के साथ सम्बन्ध रखने में, उससे उत्पन्न होने में, अपनी क्रियाओं में, सभी में यूनान के दार्शनिक प्लेटो 'एरॉस' शब्द से चित्त-विश्लेषण-शास्त्र का 'लिबिडो' शब्द मिलता-जुलता है।

---

numerousness and that we cannot do better than take it as the basis of our scientific discussions and expositions as well. By coming to this dicision, psycho-analysis has let loose a storm of indignation, as though it had been guilty of an act of outrageous innovation. Yet psycho-analysis has done nothing original in taking love in this 'wider' sense. In its origin, function and relation to sexual love, the 'Eros' of the philosopher Plato coincides exactly with the love force, the libido, of psycho-analysis, as has been shown by Nachmansohn. × ×...... × ×...... Psycho-analysis, then gives these love instincts the name of sexual instincts, a *priori* and by reason of thier origin. × × × × The Greek word 'Eros' is to soften the affront, is in the end nothing more than a translation of our German word Liepe (love).—*S. Freud. Group Psychology and the Analysis of the Eros. P. P. 37, 8–9, 40.*

अतः उसके मूल कारण को दृष्टि में रखकर 'चित्त-विश्लेषण' प्रेम-वासनाओं को 'दारैषणा' अथवा 'मैथुन-वासनाएँ' कहता है। यूनानी शब्द 'एरॉस' एक प्रकार से तत्त्व (जनता की) अवज्ञा अथवा अवमान को मृदु बनाने के लिए है। वास्तव में, उसमें और जर्मन भाषा के 'लाइब' (प्रेम) में कोई अन्तर ही नहीं है।[१]

सारी वासनाओं अथवा मूल प्रवृत्तियों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—(१) वित्तैषणा, (२) दारैषणा और (३) लोकैषणा—अर्थात् धन की वासना, स्त्री और पुत्र की कामना और लोक अथवा समाज की कामना (जमीन, जर और जन)। डॉ० फ्रायड के मत के अनुसार तीनों का और सूक्ष्म विचार करने से सबको काम अर्थात् दारैषणा में ही अन्तर्भूत किया जा सकता है; क्योंकि उसका ही सार आकर्षण है; आकर्षण स्त्री-पुरुष-संयुति में पर्यवसित होता है। धन के प्रति और लोगों के प्रति एक आकर्षण है। आकर्षण ही मिथुनजन्य है। अतः आदिशक्ति का स्वरूप 'काम' अर्थात् सहचर की कामना है; वह सहचर पुरुष अथवा स्त्री होती है और धन आदि भी हो सकते हैं। अन्य वासनाएँ तथा मूल प्रवृत्तियाँ इसी द्वितीय (धन आदि) की कामना के रूपान्तर हैं।

धन आदि की कामना आनन्द-भोग के लिए होती है। व्यक्ति आनन्द के लिए स्त्री चाहते हैं, आनन्द के लिए धन चाहते हैं और उसी के लिए लोग और समाज की इच्छा भी होती है। आनन्द ही सभी कामों का प्राण है। आनन्द ही सभी प्राणों को चलानेवाली प्रेरणा-शक्ति है। इसी पर अस्तित्व, वृद्धि, नाश आदि निर्भर हैं। इसका स्थूल प्रत्यक्ष अनुभव मैथुन में होता है। मैथुन-आनन्द सांसारिक जीवन में पराकाष्ठा का आनन्द है। अतः, ऐसा प्रतीत होता है कि सभी आनन्दों को इसी मैथुन-आनन्द का रूपान्तर समझने में डॉ० फ्रायड ने कोई गलती नहीं की है। दारैषणा (पुत्रैषणा) अथवा कामैषणा-सम्बन्धी आनन्द की खोज सार्वभौम है। यह विश्व-वासना है।

कवि, शास्त्र, भक्ति, भक्त आदि सभी इसी विश्व-वासना के प्रमाण हैं। विश्व-वासना की मूर्त्ति स्त्री है। देखिए—विश्ववन्द्य कवि टैगोर का मुक्तवाणी-विहार—

जगतेर अश्रुधारे धौत तव तनूर तनिमा,
त्रिलोकेर हृदि-रक्त-आँका तव चरण-शोनिमा,
मुक्तिवेणी विवसने, विकसित-विश्व-वासनार

१—The distinction of Purusha and Prakriti Spirit and Matter is the primal archetype of the difference of the sexes which runs through all the kingdoms and all the aspects of Nature. The two are eternally inseparable, eternally dependent upon eternally craving for, and also eternally oppositing and hindering each other. All the joys and all the sorrow, all the wishes and all the vices, all the rights and all the wrongs, all experinces whatsoever, are summed up in the Maya which creates the illusary appearance of the distinction between the two, and keeps them bound together in inseparable relation.—Dr. Bhagwan Das : *The Spiritualisation of the science of Polities by Brahmavidya, VI, P. 25.*

अरविन्द-माझखाने पाद-पद्म रेखेछो तोमार
अति लघुभार;
अखिल-मानस-स्वर्गे अनन्त रंगिनी,
हे स्वप्न-संगिनी ।[१]

'ऐ उर्वशी, तुम्हारे वपु का तानव जगत् की अश्रुधारा से धौत है। तुम्हारे चरणों का रक्तिम राग त्रिलोक के हृदय-रक्त से रंजित है। तुम मुक्तवेणी और वसनहीन होकर, विकसित, विश्व-वासना के अरविन्द के हृदय पर अति लघुभार से अपने चरण रखती हो। ऐ उर्वशी, अखिल मानस-स्वर्ग में तुम अनन्तरूप से खेल करती हो। ओ उर्वशी, तुम स्वप्नों के साथ चलनेवाली हो।'

अखिल मानस-जगत् इसी दारैषणा (काम-शक्ति) से ओत-प्रोत है। यही सभी वासनाओं का गर्भ अथवा बीज है। इसी से सभी वासनाएँ एवं प्रवृत्तियाँ जाग्रत होती एवं इसी में लीन होती हैं। बच्चों के कोमल हृदय-स्पन्द में, कामुक के तीव्र संज्वर में, भक्त के हृदयस्पर्शी भक्ति-स्रोत में कवि की विश्वमोहिनी विपंचिका में इसी वासना की मंजुल, हृदयद्रावी ध्वनि फूट निकलती है। संक्षेप में डॉ० फ्रायड का यही मत है।

डॉ० फ्रायड के इस प्रकार के सिद्धान्त के अनुसार योरप के लोग अपनी सारी क्रियाओं को मैथुन-भाव से अभिरंजित नहीं समझ सकते थे। 'प्रत्येक क्रिया काम-भाव से प्रेरित है', यह विचार ही अश्लील और जुगुप्साजनक समझा गया। अतः, स्वयं डॉ० फ्रायड के कुछ शिष्यों ने भी उनका साथ छोड़ दिया और उन्होंने अपने-अपने अलग-अलग मत प्रकट किये। इस सम्बन्ध में 'विएना' के 'एडलर' और 'ज्यूरिच' के 'युङ्ग' प्रसिद्ध हैं। एडलर महोदय काम-वासना को आदि-वासना नहीं मानते, और न वे दारैषणा को प्रधानता ही देते। वे सभी क्रियाओं के मूल में 'अधिकार की इच्छा' अथवा लोकैषणा देखते हैं। उन्होंने स्पष्ट किया है—'बच्चा अपने सभी कार्य इसीलिए करता है कि वह अपने को माता-पिता की आँखों में ऊँचा बना सके; वह गुरु से सम्मान पाने के लिए अनुशासन अथवा विनय के अनुसार चलने लगता है; वह अपने साथियों के बीच अपना ही प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है। इसी प्रकार व्यक्ति युवावस्था में भी अधिकार और यश के 'जागते सपने' देखा करता है। व्यक्ति का संसार में नाम बढ़े, उसे सभी जानें, उसकी कीर्त्ति-कौमुदी चतुर्दिक् बढ़े आदि, इसी प्रकार की इच्छाओं के मूल में लोकैषणा अथवा अधिकार-भावना है।'

इस प्रकार की अधिकार-भावना की इच्छा की अभिव्यक्ति की मात्रा व्यक्ति के ऊपर निर्भर है। जिस व्यक्ति में कुछ शारीरिक दोष अथवा अङ्ग-भङ्ग पाया जाता है, उसमें इस शक्ति की वांछा प्रबल रूप से दिखाई पड़ती है। बच्चा निस्सहाय एवं शक्तिहीन होता है; उसे अपनी आवश्यकताओं के लिए माता-पिता पर निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार के परालम्बन से वह विचलित होता है। अतः, उसका विरोध करना चाहता है। इस प्रकार का विरोध इस रूप में परिणत होता है—"देखो! मुझे

१—श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर : उर्वशी।

अपने सुख के लिए उन लोगों पर निर्भर रहना पड़ता है, अतः मैं उनसे अपने को दूसरे रूप में स्वतन्त्र बनाऊँगा। मैं विनय का पालन करूँगा, उनकी सभी आज्ञाएँ एवं बातें मानूँगा और उन्हें विवश करूँगा कि वे अपने सुख के लिए मुझ पर अवलम्बित रहें। गुरु मुझे दण्ड देता है। मैं अपने अच्छे गुणों से उन्हें मुग्ध करूँगा और अपना प्रभाव प्रकट करूँगा।" वातव्याधियों के मूल में भी एडलर महोदय इसी प्रकार की वांछा की सत्ता मानते हैं। यदि वातरोगी को किसी ने धमकी दी और कहा, 'तुम्हें हम स्त्री बना देंगे', तो वह उसकी प्रतिक्रिया में अति-पुरुष बनने की चेष्टा करेगा। यदि यह चेष्टा सफल नहीं हुई तो वह वातव्याधि का ग्रास बनेगा।

'एडलर' महोदय के मतानुसार सारा विश्व पुरुषोचित विरोध[1] अथवा लोकैषणा की भावना से प्रेरित है। लोकैषणा अथवा यश की कामना से प्रेरित व्यक्ति ही अपनी सन्तान को बढ़ाना चाहता है। यश की कामना के कारण ही कवि ग्रन्थ लिखते हैं अथवा नेता दुःख भोगते हैं। भगवान् से प्रशंसा की अभिकांक्षा रखकर ही भक्त इहलोक में हर प्रकार की यातनाएँ सहते हैं। इतना ही नहीं, यश के सम्पादन के लिए कतिपय अपने प्राणों से भी हाथ धो बैठते हैं। यश के लिए पत्नी का, माता-पिता का, धन का त्याग करते हैं—किं बहुना, अपने प्राणों का परित्याग तक कर देते हैं। यही यश की कामना उन्नति के मूल में है। इसी को विश्व-वासना की संज्ञा दी जाती है।

युंग महोदय अपने गुरु डॉ० फ्रायड के मत के विरोधी हैं, किन्तु एक उनका एडलर महोदय के सिद्धान्त से कोई मतैक्य नहीं है। उनके मतानुसार जितना महत्त्व दारैषणा का है, उतना ही लोकैषणा का भी है। इन्होंने 'इन दोनों में कौन-सी प्रवृत्ति आदि वासना है?', ऐसा प्रश्न निरर्थक माना है। इनके मत से दोनों एक अनिर्णीत स्वरूपवाली शक्ति के दो मुख हैं। वह शक्ति न तो दारैषणा है और न लोकैषणा। मनुष्य जीवित रहना चाहता है। वह खाना चाहता है। भूख अति प्रधान मूल प्रवृत्ति है। भूख की तृप्ति से स्वत्व की रक्षा होती है। व्यक्ति अपने स्वत्व को स्थिर रखना चाहता है। इसी स्वत्व की अभिव्यक्ति दारैषणा और लोकैषणा द्वारा होती है। यदि व्यक्ति-स्वत्व अनेक रूप में रहना चाहता है तो स्त्री को अपना साधन मानता है और यदि अधिक रूप में रहना चाहता है तो समाज में यश की कामना करने लगता है; क्योंकि पुत्र से स्वयं अपने-आप व्यक्ति संसार में स्थूल रूप से रह जाता है और यश के रूप में उसकी सत्ता चतुर्दिक् फैल जाती है। कहा भी है, 'कीर्त्तिर्यस्य स जीवति।' यही अस्तित्व की वांछा कभी दारैषणा कभी लोकैषणा बन जाती है। इसी के फलस्वरूप विकास होता है। इसी से विश्व की धारणा होती है। यही सभी क्रियाओं का मूलाधार है।

डॉ० भगवान दास का मत युंग से अधिक मिलता-जुलता है।[2] वे भी

१—Masculine Protest.

२—'The problems and conflicts of love of fundamental importance for humanity......the love-life is of immensely greater importance than the individual suspects......(But) love is used in the larger sense...not

अस्तित्व की कामना को ही मूल शक्ति मानते हैं, और उसी से दारैषणा और लोकैषणा का अभिव्यक्ति-क्रम बताते हैं। उन्होंने अपने मत को इस प्रकार प्रकट किया है—

'आदि शक्ति, यथा, तृष्णा, लिबिडो, 'जीने की इच्छा' अपने को प्रधानतः अन्य व्यक्तियों से अलग स्वतन्त्र व्यक्ति होकर रहने की इच्छा में अभिव्यक्त होती है। प्रारम्भ में 'अपनी अलग सत्ता, अपना अलग जीवन', (अनन्तर मृत्यु की इच्छा, निद्रा की, विश्राम की इच्छा और वह भी विश्व-शक्ति में, विश्वरूप में वही बनकर रहने की इच्छा) यही प्रधान शक्ति का समुल्लास है।'[१] 'मैं रहूँ' (अलग अपनी सत्ता रखूँ), स्वीय रक्षा की वासना, स्वीय धारण, स्वीय परिवर्द्धन, आहार की तृष्णा, जो शरीर की रक्षा करती है, जो शरीरगत पदार्थ-सार की पूर्त्ति करती रहती है (जो शरीर आत्मा के समान समझा जाता है) क्षुधा, तृष्णा, अशन-पिपासा, तृष्णा, तंहा या यश की तृष्णा जो मानसिक शरीर के लिए आहार है, लोकैषणा—यही काम का आदि और प्रधान स्वरूप है। 'मैं अधिक (मात्रा में) रहूँ—हो जाऊँ', 'मैं अधिक (संख्या में) हो जाऊँ', विशेष रूप को, तिर्यक्, मानव या दैव आदि रूपों को पाने की वासना, स्वीय अभिवृद्धि, स्वीय व्याप्ति, स्वीय अलंकरण, वित्त की तृष्णा, धन की, वस्तुओं की, कुलाय की, घर की तृष्णा, जिसमें अपने सारे उपकरणों को सुरक्षित कर सकते हैं और तृप्ति पा सकते हैं कि 'हम इस सारे अर्थजात के प्रभु हैं;' धन की वासना अथवा वित्तैषणा, तृष्णा का दूसरा रूप है। तो भी यह उसी शाश्वत काम 'अस्तित्व काम' की नित्य या शाश्वत अभिव्यक्ति और प्रधान भाग है। 'मैं अनेक हो जाऊँ' स्वीय वृद्धि (सन्तान के रूप में) सहचर के लिए मैथुन-तृष्णा, मिथुन की इच्छा, अपने अर्द्ध-भाग के लिए, स्त्री के लिए इच्छा, प्रधान क्रिया प्रजनन के लिए, दार-सुत-एषणा, पुत्र-एषणा अथवा शक्ति-एषणा, बल-एषणा, अधिकार की इच्छा,

---

mere sexuality (p. 366). Sexuality, it is true is always and everywhere present; the instinct for power certainly does penetrate the heights and the depths of the soul; but the soul itself is not solely cither the one or the other or even both together; it is also that which it had made and will make out them both (p. 394)'. Jung, 'Analytical Psychology.' Elsewhere he remarks that if sexuality underlies everything; nutrition underlies sexuality.'—*Dr. Bhagwan Das, 'The Science of the Emotions, 3rd Edition.'*

—मनुष्य जाति के लिए प्रेम-सम्बन्धी समस्याएँ और संग्राम तथा तद्विषयक अन्तर्युद्ध बहुत महत्त्व के हैं। प्रेम का अधिक प्राबल्य है। वैसे ही अधिकार की इच्छा (लोकैषणा) का भी अधिक प्राबल्य है, मानव का जीव केवल काम अथवा लोकैषणा अथवा दोनों के वश में नहीं है। एक स्थान पर युंग महोदय कहते हैं कि यदि मैथुन-भाव सभी बातों के मूल में रहता है तो उसके मूल में पुष्टि का भाव रहता है।

१—The primal shakti manifests primarily as Desire, Libido, the will to live as an individual, separate from other individuals, having 'a life of my own' (and then as the will-to-die, to sleep and to rest in and as the Universal, in the Life of All),—*Dr. Bhagwan Das : The Science of the Emotions, Third Edition, P. 35.*

जिस शक्ति की, जिस इच्छा की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति प्रजनन (अपनी सन्तान द्वारा), दूसरों पर अपना प्रभाव डालना, वंश का स्थापन करना, कुटुम्ब में अग्रस्थान, कुल में, जाति में, देश का परिपालन, यह तृष्णा का तीसरा मुख है। यह भी आदि-शक्ति से अविभाज्य है। इसकी अभिव्यक्ति प्रजनन में होती है।

डॉ० भगवानदास के मत में 'अस्तित्व की वासना', जिसकी अभिव्यक्ति आहार-ग्रहण में होती है, सारी विश्व-क्रियाओं का और प्रतिक्रियाओं का मूल है। वे 'काम' शब्द का अर्थ उसके सभी मुखों में अर्थात् 'अस्तित्व में ही काम' मानते हैं, वे अन्न ग्रहण की प्रवृत्ति को प्रधान स्थान देते हैं[1]; क्योंकि यह प्रवृत्ति उत्पत्ति से मरण तक रहती है। अन्य सभी वासनाएँ काल-भेद से अभिव्यक्त और तिरोभूत होती हैं। केवल यही आजन्म रहती है। अतः, अन्य वासनाओं को इसी की शाखा-प्रशाखाओं के रूप में मानना चाहिए,

---

१—आहार शब्द को भगवानदास जी विशद अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। उन्होंने इस आहार के विषय में एक वचन उद्धृत किया है—

"अन्नममृतम्, अन्नं वै प्रजापतिः, अन्नं वा अस्य सर्वस्य योनिः, अस्यैवान्नं इदं सर्वम्। अन्नमात्मा, अन्नात्पुरुषः, अहमन्नम् अहमन्नादः, अहं ब्रह्म, अन्नं ब्रह्मा अन्नमयं हि सौम्यं मनः, मनोऽन्नम्, अन्नात् वीर्यम् आत्मनः अन्नम्। अन्नात् शुक्रम्, शुक्रं ब्रह्म सनातनम्, तदेव शुक्रममृतं, तद् ब्रह्म।'

डा० भगवानदास पुनः लिखते हैं—

'In short, all is food and from food; all is seed and from seed......... The seed is the essence of the food etc.' सभी कुछ अन्न एवं अन्न से ही है। खानेवाला अन्न है और जो वस्तु खाई जाती है, वह भी अन्न ही है। इस विशद अर्थ में 'आहार' और 'काम' शब्द दोनों में कोई अन्तर नहीं है। स्वयं डॉ० फ्रायड ने अनेक स्थलों पर यह कहा है कि जो मैथुन-वासना को और काम-शक्ति को नापसन्द करते हैं, वे एरॉस (Eros) शब्द का प्रयोग कर सकते हैं, जिसका तात्पर्य पोषण करनेवाली (Sustaining power) शक्ति है। आहार उसी कोटि में आता है। सभी इंद्रियाँ मुख हैं। पुरुष के उन्नीस मुख कहे जाते हैं—पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च प्राण, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ और मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त। (देखिए, माण्डूक्योपनिषद्, ३: 'उनविंशतिमुख') सभी विषयजात इनका आहार है, अथवा काम्य है। तब यह पूछा जा सकता है कि हम 'आहरण' अथवा 'आहार' शब्द का ग्रहण क्यों नहीं करते हैं? इसका उत्तर यही है कि 'आहार' शब्द के मूल में जो मानसिक रीति है, वह 'आकर्षण' है। उस वस्तु के प्रति 'काम' है, अतः 'काम' शब्द का प्रयोग ही उचित है। यह मूल मानसिक भाव-विशेष आहार शब्द के ग्रहण में स्पष्ट नहीं होता है।

जिस प्रकार 'आनन्दो-ब्रह्मेति व्यजानात्' कहा गया है, उसी प्रकार अन्न को भी उपनिषद् ने 'अन्नम्' कहा है। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि उपनिषद् स्थूल से आगे बढ़ते-बढ़ते अन्त में आनन्द को ब्रह्म बताकर रह जाता है। अतः, प्रतीत होता है कि आनन्द के अनन्तर और कोई ऐसा भाव अथवा अर्थ नहीं है जो ब्रह्म हो सके। वही सबकी योनि, स्थिति और लय है। अतः, उसी को आदि-शक्ति का विकास मानने में अनौचित्य नहीं होगा।

'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।'

अन्त में आनन्द को पहचानता है। वही सभी का हृदय है। अन्य सभी उसके स्थूल रूप हैं। सबसे स्थूल अन्नमय कोश है। उससे कम स्थूल प्राणमय, उपरान्त मनोमय, विज्ञानमय अन्त में आनन्दमय कोश हैं। वही ब्रह्म की योनि है। उसी से विकसित होते हुए अन्य चार निष्पन्न हुए और उस आनन्द का स्थूल एकायन उपस्थ है, अर्थात् उपस्थएकायनम्।

ऐसा उनका मत है। वे शिशु में मैथुनेच्छा का अस्तित्व किसी प्रकार भी मानने को सन्नद्ध नहीं हैं। वे शिशुओं को मिथुनरहित मानते हैं।[१]

किन्तु पुराणों में मिथुन-वासना की ही अधिक प्रधानता क्यों मानी गई है? इस प्रश्न के उत्तर में डॉ० भगवानदास कहते हैं कि सभी वासनाओं में वास्तविक भेद नहीं है। अस्तित्व का 'काम' ही अत्यन्त स्थूल रूप में दारा का 'काम' मालूम होता है। स्थूल और प्रधान रूप से दिखाई पड़ने के कारण, उसी के संयमन एवं नियमन पर आधारित सभी क्रियाओं के कारण, सभी धर्मों और अधर्मों में स्त्री को ही केन्द्र मानकर पुराणों में उसकी अधिक महत्ता गाई गई है। किन्तु, उसके मूल में भी अहंकार 'अहमस्मि' (मैं हूँ) का बोध बीज-रूप से विद्यमान है।

हमने उपर्युक्त विवेचनों में अनेक आचार्यों के मत प्रदर्शित किये। हम डॉ० फ्रायड के विचारों को ही इतनी प्रधानता एवं महत्ता देते हैं, अब हम इसी के निरूपण की चेष्टा करेंगे। वास्तव में, डॉ० फ्रायड सबसे पहले लोगों को यह स्पष्टतः बता देते हैं कि 'काम' का विशद अर्थ है मैथुनैषणा अथवा दारैषणा में अभिव्यक्त होनेवाली शक्ति। यह शक्ति, यदि किसी प्रकार का अवरोध न हो, तो अन्त में मैथुन-रूप से पर्यवसित होती है। यह शक्ति आकर्षण-रूपवाली है। अतः, यदि लोग यह समझते हैं कि प्रजनन के ध्येय से ही यह शक्ति प्रचालित होती है, तो यह उनकी भूल है। उस शक्ति के परिवर्त्तित रूपों को भी, जो उस स्थिति में मैथुन से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते हैं, मूलतः मैथुन-वासना-जन्य कहते हैं। सभी लोग 'मैथुन' शब्द को जिस अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, अथवा 'काम' शब्द को जिस अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, उसी अर्थ के लिए उस शब्द का प्रयोग परिमित नहीं किया जाता है। किन्तु, उसके अन्तर्गत आकर्षणों के सभी भेदों एवं प्रभेदों का अन्तर्भाव हो जाता है। शास्त्रीय परिशीलन में लोगों का प्रयोग ही साधुता की कसौटी नहीं समझी जा सकता है और न तत्त्व की परीक्षा लोगों के प्रयोगों से ही की जा सकती है। इस विशाल अर्थ में डॉ० फ्रायड का प्रयोग लोगों में यह आश्चर्य उत्पन्न करता है कि उन्होंने दूसरे शब्द का प्रयोग क्यों नहीं किया?

१—"The infant shows the stage of sexlessness; the adolescent, the traces of both; the grown up, of difference, the aging, again a gradual effacement of difference; and the aged, a complete effacement." *Dr. Bhagwan Das, 'The Science of Social Organization.' P. 73.*

—शिशु में जाति-भेद नहीं है, मिथुन भाव नहीं है। उसी ग्रन्थ के सातवें पन्ने में वे लिखते हैं—"The purpose of all this evolution and inevolution may be described in one way, as being first, the growth of egoism and then the transcendence of it. But the most concrete embodiment of this idea is the accentuation, and then the blurring of the sex-feeling."

—यदि मिथुन-भाव अस्मिता का स्थूल मूर्त्तिमान् रूप है, तो अहंकार अथवा अस्मिता मिथुन-भाव का सूक्ष्म अनभिव्यक्त रूप होगा। वे शिशु में अस्मिता के अस्तित्व के विषय में कोई शंका नहीं करते हैं। अतः, उसमें भी मिथुन-भाव की सिद्धि होती है। डॉ० फ्रायड शिशुओं में मिथुन-भाव का अन्यथा रूप (perversion) दिखाते हैं।

लोग जिस शब्द का एक अर्थ में प्रयोग करते हैं, उस शब्द का प्रयोग विज्ञान की रीति से भी उस अर्थ में होना चाहिए। इस पर जोन्स महोदय अपने विचार प्रकट करते हैं—

"इस विषय को एक दृष्टान्त से और भी स्पष्टतः समझा सकते हैं। नैट्रोजेन के आविष्कार के थोड़े समय के बाद यह देखा गया है कि वह वायुमण्डल में ही नहीं, किन्तु घन पदार्थों में भी अन्य तत्त्वों के सम्मिश्रण में पाया जाता है। जब इस प्रतिफल का उद्घोष किया गया तो, विमर्शकवृन्द कह सकते थे—'आप वैज्ञानिक भाषा का दुरुपयोग करते हैं। 'नैट्रोजेन' शब्द को एक नवीन और अनिरूपित और अनावश्यक विशद अर्थ में प्रयुक्त करके कहते हैं कि वह घन पदार्थों में भी रहता है जब कि नैट्रोजेन घन पदार्थों में नहीं है, यह स्पष्ट है। आपको हम सूचित करना चाहते हैं कि साधारणतया उस शब्द का प्रयोग वायुमण्डल में पाये जानेवाले एक प्रकार के वाष्प (वायु-रूप) के लिए होता है।' इसके उत्तर में यदि गवेषक ने ऐसा कहा होता तो उचित ही होता—'मैं शोध-कार्य प्रारम्भ करते समय भी इस शब्द का अर्थ जानता था। किन्तु, गवेषणा ने निरूपित किया कि जिसे मैं और आप नैट्रोजेन कहते हैं, उसी वस्तु को हम कुछ प्रयास से, कुछ परिस्थितियों में, अन्य रूप में भी पा सकते हैं, विशेषतः जिस रूप में उसके स्वाभाविक गुण उद्भूत नहीं हैं, वे विश्लेषण से ही देखे जा सकते हैं।"[१]

इसी प्रकार डॉ० फ्रायड ने 'मैथुन' और 'काम' शब्द का प्रयोग किया है। वे जानते थे कि शिशुओं अथवा बच्चों में संभोग की प्रवृत्ति नहीं है, तथापि उन्होंने उनमें भी मैथुन-वासना और काम का अस्तित्व माना है। बच्चों में काम का रूप दूसरा है। वह अधिकतर आहार ग्रहण करने की इच्छाओं से इस प्रकार मिला रहता है

१—"The point can be made clearer still by the following analogy, which in several respects is a fairly close one. Some time after the discovery of nitrogen, in the atmosphere, it was found that it also existed, in combination with other elements, in solid substances. When this finding was announced, critics might very well have said to the investigator : "You are distorting Scientific language, and are using the word 'nitrogen' in a novel and unscientifically wide sense by applying it to solid substances which are evidently not nitrogen; allow us to inform you that the word denotes, by common acceptation, a gas, which is to be found in the atmosphere." To which the investigator would have been right in saying : I was acquainted with the meaning of the word when I began my researches, but these have convinced me that the element which both you and I are agreed to call nitrogen may exist not only in its easily observable gaseous form, but also, in certain circumstances, in other forms where its familiar attributes are not manifest and where its very existence can be determined by careful analysis—"
Ernest Jones : Papers on Psycho-Analysis, 3rd Edition, P.P. 27-8.

कि उसकी अलग सत्ता स्पष्ट नहीं हो पाती। किन्तु विश्लेषण से बच्चों का स्वभाव मालूम किया जा सकता है और उनकी क्रियाओं की अभिव्यक्ति से भी उनके स्वभाव का पता चल सकता है। इस प्रकार बच्चों का अंगूठा मुँह में डालना, मुँह में रखना, दूध पीते समय माता के स्तनों को हाथों से दबाना, मल देखने की प्रवृत्ति, प्रजननेन्द्रियों को देखने की उत्कंठा, खिलौने को अपना बच्चा समझना, गुड्डी-गुड्डे का विवाह रचाना आदि सभी प्रवृत्तियों का परिशीलन स्पष्ट प्रकट करता है कि ये सभी प्रवृत्तियाँ मैथुन-वासना—काम से सम्बन्ध रखती हैं। दूध पीते समय स्तन छूना, अंगूठा मुँह में रखना आदि तो आहार-ग्रहण की प्रवृत्ति अथवा क्षुधा-तृप्ति की वासना में परिगणित किये जा सकते हैं, किन्तु हम अन्य बातों को दूसरे रूप में नहीं समझा सकते हैं। 'अंगूठा मुँह में रखना' भी आहार-ग्रहण की प्रवृत्ति का अंग नहीं है। उसमें विशेष प्रकार का आनन्द होता है जिसके कारण शिशु मुँह में अंगूठा डालता है। किन्तु, तात्कालिक वह प्रवृत्ति क्षुधा-तृप्ति की प्रवृत्ति से अधिक मात्रा में मिली रहती है। बाल्यकाल में मिथुन-प्रवृत्ति 'काम' है कि नहीं, इसकी व्याख्या हम आगे करेंगे। यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'शिशु काम-रहित अथवा मिथुन-वासना-रहित है', ऐसा सिद्ध नहीं किया जा सकता। जैसे शरीर में प्रजननेन्द्रिय जीवन-भर रहती है, किन्तु शैशव में प्रजनन-क्रिया के लिए वह उपयुक्त नहीं होती, वैसे ही मानसिक शक्तियों में 'काम' अथवा मैथुन-शक्ति रहती है, किन्तु उस समय उसका ध्येय मैथुन-संभोग नहीं रहता है। आहारादि के ग्रहण से वह पुष्ट होती है और अपने आगे के महान् कार्यों के लिए बाल्यकाल से विवृद्धि[१] का संचय करती रहती है। वह शक्ति कभी-कभी छोटी-से-छोटी ऐसी क्रियाओं में परिणत होती है, जो युवावस्था में निस्सन्देह मैथुन-संभोग के अंग समझी जाती हैं। यदि दुग्धपान करने के लिए माता के स्तन के लिए शिशु की इच्छा पूर्वजन्म के संस्कार (आहार-ग्रहण) का स्मरण दिला सकती है, तो यह मानना अनुचित नहीं होगा कि उसके बाद उससे संलग्न जो प्रवृत्ति जगती है, वह मैथुन-प्रवृत्ति है और उसका अङ्ग (स्तन छूने के आनन्द का बोध आदि) जन्मान्तर के स्तन-स्पर्श में कारण है। यदि बच्चों के खिलौने आदि के एकत्र करने में वित्तैषणा, उसकी मैत्री और पिता-माता को प्रसन्न करने की प्रवृत्ति में लोकैषणा का अस्तित्व सिद्ध होता है तो माता के स्तनों का स्पर्श, अंगूठा मुँह में रखना, खिलौनों का विवाह रचाना, उत्पत्ति के बारे में अनेकानेक कल्पनाएँ करना आदि दारैषणा के अस्तित्व के प्रमाण में क्यों नहीं स्वीकृत हो सकते? कोई भी प्रवृत्ति अचानक युवावस्था में ही नहीं फूट निकलती है। सभी का विकास क्रमशः होता है। कोई शारीरिक विवृद्धि (परिपक्वता) के कारण पहले और कोई कालान्तर में प्रकट होती है। किन्तु, इस प्रकार का विकास या विवृद्धि प्रवृत्तियों की प्रधानता का निरूपण नहीं कर सकती। भोजन करना अथवा क्षुधा-वृत्ति सबसे प्रथम प्रकट होती दिखाई देती है, किन्तु वही प्रथम अर्थात् आदि-वासना है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; अथवा वह मिथुन-प्रवृत्ति से अलग है, ऐसा मत भी

१—Maturation.

प्रकट नहीं किया जा सकता। फल से वृक्ष की जाति का निर्णय होता है, 'फलेन परिचीयते।' फल से मूल की अभिज्ञा होती है। यदि हमने किसी उद्देश्य से अनेक साधनों का ग्रहण किया तो उद्देश्य अप्रधान और साधन प्रधान नहीं हो सकते। यदि अन्न का ग्रहण शरीर में वीर्य उत्पन्न करता है और वह भी जाति की वृद्धि में, प्रजननार्थ है, तो अन्न के ग्रहण की प्रवृत्ति प्रजनन का साधन है, किन्तु प्रजनन साध्य है।

अतः, आदि-शक्ति का आदि-विकास अथवा प्रधान विकास मैथुनविषयक है, अर्थात् आनन्द के लिए है और है रति के लिए। यही विश्व-वासना है। अधिकार की वांछा भी इस विश्ववासना का वेग ही है। जिस वेग से 'काम' अपने को अन्य मार्गों में अभिव्यक्त करता है, वही लोकैषणा है। समाज में व्यक्तियों का सम्बन्ध मैथुन-सम्बन्ध ही है। सारे नियम-चैत्त नियम, वैषयिक प्रीति आदि जितने सामाजिक सम्बन्ध हैं, सबमें काम-शक्ति ही प्रधान है। नेता, गणपति, गुरु अथवा भगवान् के प्रति यदि कोई सम्बन्ध है, तो वह आकर्षणात्मक, कामात्मक है और है मैथुनात्मक। गुरु पति का स्थान ग्रहण करता है और शिष्य स्त्री का भाव ग्रहण करता है। भगवान् कृष्ण है, भक्त राधा है; नेता प्रिय है और नेय प्रिया है। रौद्रात्मक, विसर्गात्मक, रजात्मक प्रवृत्ति पुरुष है, शान्त्यात्मक, आदानात्मक, सहनात्मक प्रवृत्ति स्त्री है। देनेवाला पुरुष, लेनेवाला स्त्री। यही नियम सर्वत्र व्याप्त है। 'अनुकूल परिस्थिति में शारीरिक संप्रयोग में, संभोग में, अन्य परिस्थितियों में मानसिक और आत्मिक संभोग में वही आदि-शक्ति परिणत होती है। आहार ग्रहण किया जाता है। विषय है, विषयी है, दोनों का आकर्षण है। बाज सबसे अधिक प्रेम कबूतर का करता है। संसार में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो प्रेम की पराकाष्ठा में भिन्नता का नाश नहीं चाहता। यदि आहार है तो भक्षण करता है और स्वात्म्य बनाता है। यदि कोई ऐसा व्यक्ति है, जिसका भौतिक नाश असम्भव है तो निर्मम आलिंगन (अदय आश्लेष) से मानसिक जगत् में नेत्र-निमीलन करके उसके नाश का अनुभव किया जाता है। अद्वयानन्द में अहंता बाधक है। अमिथुनीभाव में आनन्द का उद्रेक है। इसी की प्रत्यक्ष व्यावहारिक दशा स्त्री-पुरुष-संप्रयोग है। कवि शीलर की वाणी है—

काल की गति पर
जबतक उदात्त भाव—
दर्शन एकाधिपत्य
राज्य नहीं करता,
तबतक यह विश्व अति
प्राचीन रीति में
क्षुधा-काम-वृत्ति से
बढ़ता ही जायगा।[१]

—अर्थात् जबतक उदात्त दार्शनिक दृष्टि समय-क्रम को सर्वतोभावेन आवृत नहीं करती है तब तक सांसारिक जीवन प्राकृतिक प्राचीनतम मार्ग के अनुसार ही क्षुधा और काम से सञ्चालित होगा।

१—*S. Freud : The Problem of Lay Analysis, P. 68.*

क्षुधा का बहुत महत्त्व है, किन्तु वह अपने-आप ध्येय नहीं है। वह दूसरे के लिए है—काम के लिए है।[१] 'काम' के लिए जितने युद्ध हुए, उतने आहार के लिए नहीं। अस्तित्व के लिए जितने भी संग्राम-कलह हुए, वे सब जीवनानन्द के लिए ही हुए, और आनन्द की एकमात्र इन्द्रिय है उपस्थ अर्थात् प्रजननेन्द्रिय। यह सभी आनन्दों में उत्कट और स्थूल है। सभी अन्य आनन्द इसी के भेद हैं। इसी के सूक्ष्मतर रूप हैं; क्योंकि सूक्ष्मतर होने से ही उनके रंग में परिवर्त्तन नहीं होता है। और, वे भी मिथुन-जन्य हैं, मिथुनार्थ हैं।

यदि काम-शक्ति अथवा प्रेम के पूर्व की किसी प्रवृत्ति अथवा चैत्त स्थिति का निर्णय करना हो तो यह कहना पड़ेगा कि यदि कुछ है तो वह न काम है और न काम-जनित कोई साधन; वहाँ न अस्तित्व की कोई वांछा है और न अनस्तित्व की। यदि उस स्थिति का वर्णन किया जा सकता है तो निषेधात्मक शब्दों में ही। इस विषय में हम 'सांख्य' के शब्दों में कह सकते हैं कि 'नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्'; अर्थात् 'न मैं हूँ, न मेरा'। इन्हीं शब्दों द्वारा हम उस स्थिति को प्रकाशित कर सकते हैं। किन्तु, व्यक्ति को उस स्थिति की अनुभूति नहीं होती, जिसे व्यक्तित्व का ज्ञान है, बोध है, उसी के लिए एषणाएँ कुछ महत्त्व अथवा कुछ अर्थ रखती हैं। अतः, प्रश्न है—व्यक्ति के जीवन में आदि-प्रवृत्ति अथवा आदि-वासना क्या है? वह क्या विषय की वांछा है? दो की वांछा है? मिथुन की इच्छा है? अथवा अपने अस्तित्व की अभिकांक्षा है? यदि वह व्यक्ति के अस्तित्व की अभिकांक्षा ही है, तो क्योंकर? कोई भी व्यक्ति दुःखी नहीं रहना चाहता। वास्तव में जब जीवन में आनन्द रहता है, तभी रहने की इच्छा भी होती है। यदि अस्तित्व की इच्छा है ही, तो उसकी अनुभूति होनी चाहिए। आनन्द की इच्छा बड़ी बलवती है, यह तो व्यक्ति के सभी प्रयत्नों से स्पष्ट झलकता है। अपने को बलिवेदी पर स्वाहा करने में आनन्द तो है, किन्तु इस क्रिया में अस्तित्व का नाश है। आनन्द तो अपने स्वभाव से ही अहंता की विस्मृति उत्पन्न करनेवाला है; क्योंकि अहंता आनन्दानुभूति में अभिव्यक्त नहीं होता। आनन्द की पराकाष्ठा को प्राप्त होते-होते व्यक्ति आत्म-विभोर अथवा मृत-सा हो जाता है। वह कहने लगता है—'अच्छा होता, यदि अभी मेरे प्राण उड़ जाते।'

एमन चाँदेर आलो
मरि यदि सेओ भालो।

—अर्थात् ऐसे चन्द्रालोक में मृत्यु भी भली है। 'अस्तित्व' की इच्छा से भेद की इच्छा प्रकट होती है। यह भेद की इच्छा व्यवहार-विरुद्ध है। व्यक्ति अपने आदर्शों से अपने को एकात्म समझता है। आन्दोलनों में कार्यकर्त्ता अपनी अलग सत्ता का नाश करते हैं। उनका आदर्शों से तादात्म्य हो जाता है। उन्हें इससे अधिक व्यापक सत्ता की अनुभूति भी नहीं होती। वे समुद्र में जल के समान मानो

१—All for love!

विलीन हो जाते हैं। यदि अहंता का बोध है तो उसमें और उसके पूर्व के जल-विंदु की अहंता में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। जल-विंदु का तो नाश हो गया। यदि हम यह कहें कि प्रजनन में 'अहमस्तित्व की अभिव्यक्ति' होती है तो यह ठीक नहीं। संप्रयोग में व्यक्ति को अपनी एवं अपने उद्देश्य, विषय, क्रिया आदि सभी की विस्मृति हो जाती है। संभोग का आनन्द पाते समय व्यक्ति को सन्तान में अपने अस्तित्व का बोध नहीं होता। किन्तु, ठीक इसके विपरीत अति तीव्र भूख में अच्छे भोजन खाते समय अहन्ता का नाश हो सकता है। इसी से श्राद्ध-भोजन-विधि में भी कहा जाता है कि निमन्त्रित ब्राह्मण यदि मौन होकर आहार ग्रहण करता है, तो वह भोजन पितरों को प्राप्त होता है, उसके 'अहं' को नहीं। मौन-भंग होने पर विषय और विषयी का भेद होता है, उसके साथ 'अहमस्मि' का भी भान होने लगता है। इस प्रकार, मैथुन-प्रवृत्ति, विषय के प्रति आकर्षण, काम, लिबिडो सभी के मूल में है।[१] वही काम स्त्री के प्रति होने पर सम्भोग का आनन्द खोजने लगता है, न कि सन्तान प्राप्ति। संभोग से अनुस्यूत रूप से सन्तान होती है। जो वृद्ध संतान-रहित होने पर संतान की कांक्षा रखते हैं, उनमें अपने वंश की उतनी कांक्षा नहीं है जितनी उनके स्पर्श आदि के सुख की है। हम यह मानते ही हैं कि अन्य वासनाएँ भी हैं। सन्तान की इच्छा जहाँ

१—इस सम्बन्ध में डा० भगवानदास के निम्नस्थ शब्द अर्थपूर्ण हैं—

"With further diminution of the individualistic intensity, and the deeper realisation of the mythical illusory, dramatic and dream-like nature of the world-process, the distinction of the sexes itself may tend to lose its sharpness ; and after the condition of each individual may become self-complete as being in oneself the pair of soul-and-body primarily and, secondarily, hermo-phrodite physically, as some of the scriptures say the human being was and again will be ; till the wish for, and the sense of, separateness and individuality become further attenuated, the consciousness more and more expands into and coincides with the (comparatively) cosmic or the sober consciousness, all experiences are simultaneously felt 'within' as in evening revaries, and the souls become *'Dhyanantaras'*, 'feeders on thought and meaning', as the words on *Yoga* name the codition, and then, finally, the desire for complete sole-ness, one-ness, solitude, Lone-livers, *Kaivalya* utter in-turnedness, arises and fatigue supervenes, the manifest distinction and-interplay of Spirit and the Matter cease, all consequent differentiations return into homogeneity, and the particular world-system we are concerned with goes to sleep in *Pralaya*, for the time being."

× × × ×

"The innumerable aspects of the Attractive-Repulsive Primal Desire or *Shakti* which connects and binds together *Purusha* and *Prakriti*, the *Shakti* whose other name is sex-feeling..........."

होती है, वहाँ प्रधानतः वंश की चिन्ता रहती ही है, और वह भी अपने लिए अर्थात् अपने ऊपर जो अपना प्रेम होता है, उसी के कारण है। वास्तव में, यदि अपने से प्रेम न हो, तो सन्तान की इच्छा भी नहीं होती।

यत्प्रीत्या प्रीतिपात्रं तनुयुवतितनूजार्थमुख्यं स तस्मात्।
प्रेयानात्माऽथ शोकास्पदमितरदतः प्रेय एतत्कथं स्यात्॥
भार्याऽऽद्यं जीवितार्थे वितरति वपुः स्वात्मनः श्रेय इच्छन्।
तस्मादात्मानमेव प्रियमधिकमुपासीत विद्वान्न चान्यत्॥[१]

—जिस पर प्रीति के कारण ही शरीर, स्त्री, पुत्र, वित्त आदि प्रिय हैं वह (आत्मा) इन सबसे प्रीतिकर रहना चाहिए। जब अन्य सभी दुःख के आस्पद हैं, तब अपने से वे अधिक प्रिय कैसे हो सकते हैं? अपनी रक्षा के लिए अपनी स्त्री आदि का भी त्याग किया जा सकता है। अपनी भलाई के लिए अपने शरीर को भी छोड़ा जा सकता है। अतः, विद्वान् को चाहिए कि अपने को ही सबसे अधिक प्रिय समझें।

अपनी रक्षा से आनन्द हो, तभी रक्षा की कांक्षा होगी; और अपने त्याग से अपने को आनन्द हो, तभी व्यक्ति त्याग कर सकता है। व्यक्ति किसी आदर्श के लिए प्राण इसीलिए दे सकता है कि वह आदर्श को अधिक प्रेम करता है और उसके रूप में वह अपने-आपको प्रेम करता है। अतः, प्रेम के मूल में काम है, विषय है। जहाँ विषय नहीं है, वहाँ न काम है और न मिथुन। दोनों को, 'द्वन्द्व' को, पार करने के बाद मिथुन-भाव से मुक्त होने पर व्यक्ति का व्यक्तित्व ही नहीं रहता और न अहंता का तथा आनन्द का बोध होता है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्यों के पूर्वकथित मतों में तत्त्वतः कोई विरोध नहीं है। डॉ० फ्रायड का मत सभी विविध मतों का समन्वय है। अब डॉ० फ्रायड के मत के समर्थन में ही हम कतिपय आचार्यों के मतों पर प्रकाश डालेंगे और अन्त में आदि-वासना (आदि मूल-प्रवृत्ति) के विषय में उपनिषदों की वाणियों की भी व्याख्या करने का प्रयत्न करेंगे।

पाश्चात्य पण्डितों में काम का प्रभाव सबसे पहले प्लेटो ने माना है। प्लेटो उसको 'एरॉस' कहते हैं। एरॉस-सम्बन्धी प्लेटो का निर्वचन अथवा व्याख्या श्री ओटो रैङ्क के शब्दों में निम्नलिखित है—

'प्लेटो (अफलातून) मानवी प्रजनन नामक मूल प्रवृत्ति को सभी बातों (भावों, भावनाओं एवं क्रियाओं) के केन्द्र में रखते हैं और इसी के विशद अर्थ में ऐन्द्रिक, मानसिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक मनःस्थिति को इसकी विविध अवस्थाएँ अथवा उल्लास मानते हैं। उनके मत में 'काम' एक खोई हुई स्थिति की, अथवा और स्पष्टतर शब्दों में खोये हुए ऐक्य-भावना की तृष्णा है। उन्होंने मिथुन-प्रवृत्ति के सार

१—शंकराचार्य : शतश्लोकी, ६

को अपने प्रसिद्ध रूपक में स्पष्ट किया है, जिसमें ऐक्य-स्थापन के लिए विराट् पुरुष को दो में विभाजित किया गया।'[१]

सृष्टि की उत्पत्ति 'अहं भूयासम्' अर्थात् 'मैं हो जाऊँ' इस प्रकार के अस्तित्व की इच्छा से नहीं हुई। ब्लावाट्स्की महोदय के शब्दों में काबालियों का कहना है—लोकों के अस्तित्व के मूल में आनन्द है; अर्थात् संसार और अन्य लोकों की सृष्टि आनन्द से ही हुई है। ऐंसुफ अपने-आप में प्रसन्न हुआ और अपने से अपने में प्रकाशित हुआ......ये सब आनन्द की ही संज्ञा पाते हैं।[२]

उपनिषदों का कहना है—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति॥'[३] ....

× × ×

सर्वेषां आनन्दानामुपस्थ एकायनम्।[४]

—आनन्द से ही भूतों की उत्पत्ति होती है। आनन्द से ही उत्पन्न सभी वस्तु और भूतजाल जीवित रहते हैं और आनन्द में ही लीन होते हैं। आनन्द ही सब कुछ है।... और, आनन्द का एकायन उपस्थ है।[५] अन्य सभी वस्तुएँ आनन्द के उपकरण हैं। वित्त, स्त्री, लोक आदि सभी आनन्द को बढ़ाने के लिए हैं। जीव आदि-रूप में एकाकी था। उस स्थिति में उसे किसी प्रकार का रमण नहीं हुआ। अतः, वह विषयों की खोज में निकला। निम्नलिखित श्लोक में इस आशय की अन्तर्ध्वनि है—

१—"Plato's philosophy of Eros, places the human instinct of procreation at the centre of things and points in its world explanation to the different stages of Eros, as shown in the sensuous, the psychical, the philosophic and the religious (mystical) attitude.... He (Plato) conceives Eros as the yearning for a lost state indeed still more clearly, for a lost union and he also explains the essence of the sexual impulse in his famous allegory of the primal being cut into two, as a striving towards union." —*Otto Rank : The Trauma of Birth, P. 173.*

२—"The Quabbalists say that the entering into existence of the worlds happened through delight, in the Ainsuph rejoiced in Itself and beamed from Itself to Itself......which are called delight."

—*Blavatsky : The Secret Doctrine, Vol. II, P. 134.*

३—तैत्तिरीय, अनुवाक ६

४—बृहदारण्यक, २, ४, ११

५—इसी सिलसिले में श्री वुड्रफ का निम्नस्थ कथन पठनीय है—

"The universe is the outcome of the Divine Desire (Kama) or Will (Ichchha). *Kama* on the physical plane denotes among other things, sexual desire in the highest sense, it is the first creative impulse of the one to be many ; whereby It begets Itself as all creatures. Earthly desire and self-reproduction are but limited manifestations of that first impulse. The Divine Will is continually and presently

एकाक्यासीत्पूर्वं मृगयति विषयानानुपूर्व्याऽन्तरात्मा ।
जाया मे स्यात्प्रजा वा धनमुपकरणं कर्म कुर्वंस्तदर्थम् ॥
क्लेशैः प्राणावशेषैर्महदपि मनुते नान्यदस्माद्गरीयः ।
त्वेकालाभेऽप्यकृत्स्नो मृत इव विरमत्येकहान्याऽकृतार्थः ॥[१]

—अन्तरात्मा पहले एकाकी था। कालान्तर में वह विषयों को क्रम से खोजने लगता है; यथा, 'मेरी स्त्री हो, पुत्र हो और उनके संरक्षण के लिए धन हो।' उन्हीं के लिए व्यक्ति अपने प्राणों की भी परवाह न करके अनेक श्रम उठाकर कर्म करता है और उनसे बढ़कर और किसी भी अन्य वस्तु को वह श्रेष्ठतर नहीं समझता है। यदि उनमें एक की भी प्राप्ति नहीं होती, तो व्यक्ति अपने को अपूर्ण समझता है और अकर्मण्य हो जाता है, और मानो वह मर ही जाता है। उनमें एक भी नष्ट होने पर वह अपने-आपको अकृतार्थ समझता है।

पूर्णता अथवा अपूर्णता का कीलक-यन्त्र आनन्द है। विषय-सम्बन्ध में व्यक्ति को अत्यन्त रति मिलती है; अतः वह उसके नाश से अपने-आपको नष्ट और उसकी प्राप्ति से अपने-आपको पूर्ण समझता है। कहा भी है—

'भार्यापुत्रादिषु सकलेषु विकलेषु वा अहमेव सकलो वा विकलो वेति।'[२]

अतः 'अहं भूयासम्', 'मैं हो जाऊँ', यह इच्छा ही विषय पर अवलम्बित है। विषय के सम्बन्ध से होनेवाला आनन्द प्रमोद पर निर्भर है। मिथुन के द्वारा अपनी पूर्णता की इच्छा होती है। यदि व्यक्ति को अपने अस्तित्व की इच्छा है तो, वह तो है ही, फिर उसकी इच्छा क्यों होनी चाहिए? वास्तव में, 'मैं बहु हो जाऊँ', 'मैं अधिक हो जाऊँ', इस प्रकार की इच्छाएँ अपूर्णता से उत्पन्न होनेवाले अभाव के कारण ही उद्भासित होती हैं। वास्तव में, व्यक्ति उसी रति की खोज में, अर्थात् अपनी खोई हुई दशा की खोज में, अधिक होना चाहता है अथवा 'बहु' होना चाहता है। कहा भी है—

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते। सद्वितीयमैच्छत्......।[३]

---

working through the individual sexual desire for the continued creation of the universe. This Divine *Kama* is eternal and the origin of all things. And so Parmenides speaking of Eros or Love said *Prostiston men erota theon metesato, panton* ('He devised Eros the first of all the Gods'). This is the Divine Eros through whom things are (See Plato : Symp. 5-6). The daughter of *Kama* is *Vak*. The latter as the Divine Will speaks the Divine Word upon which thing is. In the *Atharvaveda* (IX-9) *Kama* is celebrated as a great power superior to all the *Devas*. The daughter of *Kama* is named 'The cow which sages call Vak-virat', that is, Vak is the form of the universe."

—*Sir John Woodroffe : The Garland of Letters, P.P. 5-6.*

१. शंकराचार्य : शतश्लोकी, ३१।

२. ब्रह्मसूत्र : शांकर भाष्य।

३. बृहदारण्यकोपनिषद् : १, ४, ३

—उसे अकेले में आनन्द नहीं मिला। अकेले को आनन्द नहीं रहता है (इसी से) उसने दूसरे की कामना की।

अतः, प्रवृत्ति की प्रथम अथवा आदि-शक्ति है विषय और रमण की इच्छा। वह अकेला था। उसका उसे बोध था। बृहदारण्यकोपनिषद् में आया है—

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्सोऽहमस्मि इत्यग्रे व्याहरत् ततो अहंनामाभवत्…… ।[१]

—वह आत्मा पहले एक ही था। वह पुरुषविध था। उसने अपने से अतिरिक्त और किसी को नहीं पाया, 'मैं हूँ' इस प्रकार से पहले उसने वाक्य कहा……।

'मैं हूँ' का बोध पहले है। परन्तु वह 'बहु' होने में, अथवा अधिक होने में कारण नहीं है।

सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय इति।[२]
तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति।[३]
स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।[४]

—उसने चाहा कि मैं अनेक हो जाऊँ, मैं उत्पन्न करूँ।
—उसने सोचा कि मैं अनेक हो जाऊँ, मैं सर्जन करूँ।
—उसने सोचा कि लोकों की सृष्टि करूँ……।

किन्तु, इस प्रकार के चाहने और सोचने में 'अहमस्मि' का बोध कारण नहीं है। 'बहुस्याम्', 'अनेक और अधिक हो जाऊँ' इसका भी कारण है। वह कारण यह है, 'स वै नैव रेमे—स द्वितीयमैच्छत्'; अर्थात् वह आनन्दित नहीं हुआ, अतः (उसने) दूसरे की कामना की, और वह दूसरा था विषय। पुनः विषय ने कभी अनेक और कभी अधिक का रूप ग्रहण किया। अतः, विषय-सम्बन्धी इच्छा ही आत्मा में भी परिवर्त्तन का कारण है। वही सभी क्रियाओं के मूल में है। ज्यों ही पुरुष को 'अहमस्मि' का बोध हुआ वैसे ही उसे भय हुआ ; क्योंकि उस सत्ता का बोध ही द्वितीय वस्तु को पूर्व-सिद्ध मानता है। यदि द्वितीय का बोध ही नहीं है, तो 'मैं हूँ' इस प्रकार से सत्ता स्थिर है, ऐसा निष्कर्ष उपस्थित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतः, अपनी सत्ता के प्रतिपादन के साथ ही साथ भय हुआ। उसका कारण है मानसिक जगत् में द्वितीय (दूसरे) का भावना-रूप में अस्तित्व। अतः—

सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति सहायमीक्षांचक्रे,
यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमि इति……।[५]

—उसको भय हुआ। अतः एकाकी को भय होता है। उसने सोचा—मेरे अतिरिक्त अन्य है नहीं, मैं क्यों डरता हूँ ?

१—बृहदारण्यकोपनिषद् : १, ४, १
२—तैत्तिरीयोपनिषद् : २, ६
३—छान्दोग्योपनिषद् : ६, २, ३
४—ऐतरेयोपनिषद् : १, १
५—बृहदारण्यकोपनिषद् : २, ४, २

जीव अविद्या में फँसा। उसको अपने अस्तित्व का बोध हुआ। इसी कारण द्वितीय का बोध भी पूर्व-सिद्ध हुआ। अतः, अपनी पूर्व-परिस्थिति के परिज्ञान की इच्छा हुई। उस दृष्टि में जो मानसिक 'द्वितीय' का बोध हुआ, उससे भय एवं विकर्षण हुआ और विकर्षण से फिर हुआ आकर्षण। एकाकी को रमण नहीं प्राप्त होता, अतः मानसिक 'द्वितीय' की प्रत्यक्षतः इच्छा हुई, 'स द्वितीयमैच्छत्।' अतः, पहले मानसिक विचार में द्वितीय का बोध, अपनी पूर्व-स्थिति से भिन्नता का बोध, कालान्तर में अपनी अहंता की स्थापना, द्वितीय के बोध के कारण भय, भिन्नता से भय, विकर्षण और विकर्षण से फिर प्रवृत्ति, उसी विषय के प्रति विकर्षण अर्थात् भय के नाश के लिए फिर खोई हुई द्वितीय वस्तु की कामना आदि की उद्भूति हुई। इसी आकर्षण-विकर्षण; प्रवृत्ति-निवृत्ति; राग-द्वेष; प्रेम-भय में महामाया अर्थात् अविद्या का स्वरूप पाया जाता है। इसी अविद्या (महामाया) में जीव-कोटि फँसी है। **इस प्रकार सारे अज्ञान के मूल में द्वितीय के प्रति आकर्षण तथा उसको अपने से अलग समझना ही है।** अतः विश्व-वासना आकर्षण एवं काम की मिथुन-आकांक्षा ही ज्ञात होती है। इसी से निषेध[1] और उतने ही वेग से विधान[2] अर्थात् 'अहम् एतत् न', 'मैं यह नहीं' का अनवरत चक्र-भ्रमण होता है। अनेक की और अधिक की इच्छा इसी से होती है। सब के मूल में द्वितीय के प्रति 'अहम्' का, 'एतत्' के प्रति आकर्षण है, जिसमें अनेक की इच्छा भी एक रूप है। बृहदारण्यकोपनिषद् में आया है—

या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणा।[3]

—जो पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है; जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है। सभी का मूल पुत्रैषणा ही है।

इस बात का समर्थन एक अन्य बात से भी होता है और वह है आत्मस्थ का वर्णन। द्रष्टा अपनी स्थिति का जिस प्रकार से वर्णन करते हैं, उसमे भी इसका समर्थन होता है कि सभी के मूल में वही आकर्षण एवं मैथुन है। श्री ओटो रैङ्क ने कहा है—

'वहाँ (प्रथम अवस्था में) भेद करने का स्थान नहीं है। वहाँ पर मिथुन नहीं है। मिथुन में पर्यवसित होता है। जब तक वह एक है, वे एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। लौकिक व्यवहार में इस ऐक्य का दृष्टान्त पति-पत्नी, प्रिय-प्रिया की अद्वैत इच्छा में है। प्लोटिनस के शब्दों में 'अहं' और 'एतत्' के भेद को भूल जाना मात्र है।'[4] इस विषय में हम बृहदारण्यकोपनिषद् की एक वाणी उद्धृत करते हैं—

१—Negation.

२—Assertion.

३—बृहदारण्यकोपनिषद् : ३, ५, १

४—'There is no intervening space there, there are no longer two, but both are one, they are not separate one from another, so long as that one is there, this union is imitated here in this world by lover and

तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद
नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन
वेद नान्तरं............[1]

—जिस प्रकार प्रिया से आलिंगन पाने पर व्यक्ति को न बाह्य का ज्ञान रहता है, न अन्तर का, उसी प्रकार पुरुष प्राज्ञ आत्मा से संश्लेष पाकर न बाहर का ज्ञान रखता है, न भीतर का।

प्रथमावस्था में न तो 'अहं' का बोध रहता है और न 'एतत्' का। जब 'अहं' का बोध हुआ तो साथ-ही-साथ 'एतत्' का भी बोध हुआ और तभी आकर्षण और मैथुन का प्रारम्भ हुआ। मैथुन से प्रथमावस्था प्राप्त होने पर व्यक्ति शान्तावस्था की इच्छा नहीं करता; क्योंकि उस स्थिति में आनन्द के भोग का ज्ञान भी नहीं होता। अतः आनन्द की रुचि के लिए व्यक्ति उस मैथुन से निवृत्त होना चाहता है और अपनी पृथक् सत्ता रखना चाहता है, जिससे वह आनन्द की अनुभूति कर सके। अतः आत्मा के अस्तित्व की वांछा उसी अद्वयावस्था का अनुभव करने के लिए है। इसके मूल में फिर वही आत्म-काम और आत्म-रति है। यह आत्म-रति न अपने ऊपर है और न दूसरे के ऊपर, प्रत्युत यह है दोनों के समवेत अद्वय-स्थिति के प्रति आकर्षण के रूप में, किन्तु व्यक्ति उससे फिर भीति और अलग सत्ता की इच्छा रखता है। यदि पहले भेद की इच्छा है तो विषय की खोज में व्यक्ति जायगा ही नहीं। ऐक्य की ओर उसकी इच्छा अवश्य है, किन्तु अज्ञान के कारण उसकी प्रतिक्रिया 'मैं अलग रहूँ' के रूप में होती है। अस्तित्व की इच्छा अनस्तित्व की इच्छा पर, अर्थात् अद्वय होने की इच्छा पर निर्भर है। विकर्षण आकर्षण पर अवलम्बित है। इसका फल ही संसार का वैचित्र्य है।

सारे विश्व में निवृत्ति अपने को प्रवृत्ति के मार्ग में स्थापित करना चाहती है। उसके द्वारा भेद का वरण केवल अभेद-सिद्धि के लिए होता है। यही महामाया है, अज्ञान है और इसी अविद्या में सभी जीव घूम रहे हैं। मिथुन के नाश के लिए यदि कोई साधन है तो वह मैथुन ही है। द्वन्द्व का नाश द्वन्द्व से ही हो सकता है। द्वन्द्व के रास्ते हमें अद्वैत की ओर चलना पड़ेगा। जमीन पर गिरने पर उस जमीन के सहारे ही उसका त्याग किया जा सकता है।

इस प्रकार से स्पष्टतः विदित होता है कि काम, अविद्या, आकर्षण सभी वासनाओं के मूल में हैं। इसी से 'काम' को 'आदिदेव' की संज्ञा मिली है। देखिए—

अथर्ववेद का एक मन्त्र कामदेव को आदिदेव और ब्रह्मा मानता है और कहता है—

the beloved who desire to fuse with one-another into one being...... 'It is a question of doing away with the boundaries between the Ego and non-Ego (Plotinus)'—*Otto Rank : Trauma of Birth*, p.p. 27—7.

१—बृहदारण्यकोपनिषद् : ४, ३, २१

'काम आदि में उत्पन्न हुआ। देवता अथवा पितर या मनुष्य कोई उसकी समानता नहीं कर सके।'

'जिस प्रकार से यूनानी इतिहास में एरॉस प्रारम्भ में विश्व-सृष्टि से सम्बन्ध रखता था और कालान्तर में मैथुन-क्रिया-प्रवर्त्तक 'काम' हो गया, उसी प्रकार वैदिक 'काम' की भी यही दशा हुई।'[१]

शैव लोग सारे संसार के मूल में शिव-शक्ति-सम्बन्ध घोषित करते हैं—'शिव-शक्ति-समायोगाद् जायते सृष्टि-कल्पना।' आदि-वासना, निस्सन्देह, उनके मत में वही है जो अध्यात्मिक रूप में, पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध अथवा आकर्षण से द्योतित होता है अथवा शारीरिक रूप में जो स्त्री-पुरुष के सम्भोग में परिणत होता है। देखिए निम्नस्थ कथन—

भूता वा वर्त्तमाना वा जनिष्याश्चापि सर्वशः।
कामात् सर्वे प्रवर्त्तन्ते लीयन्ते बुद्धिमागताः॥[२]

—भूत, वर्त्तमान या भविष्य सभी काम से ही प्रवृत्त होते हैं। यह काम 'अस्तित्व का काम' नहीं है। यह 'स्त्री-पुरुष सम्बन्धात्मक' है। पुनः शिवपुराण में आया है—

शक्ति शक्तिमदुत्थं तु शाक्तं शैवमिदं जगत्।
स्त्रीपुंसप्रभवं विश्वं स्त्रीपुंसात्मकमेव च॥
परमात्मा शिवः प्रोक्तः शिवा मायेति कथ्यते।
पुरुषः परमेशानः प्रकृतिः परमेश्वरी॥
शंकरः पुरुषाः सर्वे स्त्रियः सर्वा महेश्वरी॥[३]

—सारा जगत् शैव और शाक्त जगत् है, जो शक्ति और शक्तिमान् से उत्पन्न हुआ है। विश्व स्त्री और पुरुष से उत्पन्न हुआ है और स्त्री पुंसात्मक ही है। परमात्मा शिव है तो माया शिवा है। पुरुष परमेशान है और प्रकृति परमेश्वरी है। सभी पुरुष परमेश्वर हैं और सभी स्त्रियाँ परमेश्वरी हैं। इन्हीं दोनों का मिथुनात्मक सम्बन्ध ही मूल-वासना है। वही आकर्षण है अथवा काम है। शिवपुराण के निम्न-लिखित वचन भी पठनीय हैं—

१—A hymn in the *Atharvaveda* exalts Kama to a supreme God and Creator and says—

'Kama was born the first. Him neither God nor Fathers (पितृ) nor men have equalled.'

'As Eros was connected in early Greek Mythology with the world's creation and only afterwards became the sexual Cupid, so was Kama in his original Vedic character.'—*Blavatsky : The Secret Doctrine, Vol.II, P.186.*

२—*Dr. Bhagwan Das : 'The Science of Emotions.' P. 397.*

३—शिवपुराण, वायु-संहिता, उत्तर खण्ड, अ० ५

सर्वभूतात्मभूताख्या त्रिलिंगा विश्वरूपिणी।
कामस्यैषा हि सा मूर्त्तिर्ब्रह्मविष्णवीश्वरात्मिका॥
भूता वा वर्त्तमाना वा जनिष्याश्चापि सर्वशः।
कामः सर्वमयः पुंसां स्वसंकल्पसमुद्भवः॥
वक्तुं न शक्यते यच्च परं चानुपरं च यत्।
आनन्दममृतं दिव्यं परं ब्रह्म तदुच्यते॥
परमात्मेति चाप्युक्तं विकाराः कामसंज्ञिताः।
सुप्तानां जाग्रतां वाथ सर्वेषां यो हृदि स्थितः॥
नानाविधानि कर्माणि कुरुते ब्रह्म तन्महत्।
निराकारं महाघोरं स्वसंवेद्यं परं ध्रुवम्॥
त्रिवृद् ब्रह्म ततो विश्वं कामश्चेच्छात्रयं कृतम्।
स्पंदोऽप्यशक्योऽयं मुक्त्वा कामः संकल्प एव हि॥

—शिवपुराण, धर्मसंहिता, अ० ८*

इसमें जो 'कामः संकल्प एव हि' कहा गया है, उससे केवल संकल्प एवं विकल्प अभिप्रेत नहीं है, प्रत्युत उनमें रहनेवाले, वस्तु के प्रति, जो आकर्षण और विकर्षण हैं, वे ही अभिप्रेत हैं। इसी काम के विषय में शिवपुराणकार ने ८, ९, १०, ११, १२ इन पाँच अध्यायों में विवेचन किया है और उनमें 'काम' को मैथुन-विषयक 'काम' के अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। शिवपुराणकार का कहना है कि काम के पंजे में विश्वामित्र आदि ऋषि, रामादि अवतार भी फँस गये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि 'कामः संकल्प एव हि' कहने में कवि का आशय उस संकल्प के मूल में रहनेवाली विषयासक्ति ही है। काम का निर्वचन करते हुए वात्स्यायन कहते हैं—

श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानामात्मसंयोगेन मनसा अधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः। स्पर्शविशेषविषये त्वस्याभिमानिकसुखानुविद्धा फलवत्यर्थप्रतीतिः प्राधान्यात् कामः॥[1]

—आत्मा से संयुक्त और मन से अधिष्ठित पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अपने-अपने विषयों में अनुकूलतः जो प्रवृत्ति है, वह काम है। काम प्रधानतः स्पर्श में अभिमान से संयुक्त सुख से अनुविद्ध है, और उसका फल देखा जाता है।

तांत्रिक मत भी सभी क्रियाओं के मूल में 'अहंता' अथवा 'मैं हो जाऊँ' इस प्रकार के अभिमान को नहीं रखता है। संसार के मर्म को वह शिव-वीर्य के संक्षोभ से समझाता है। शिव के वीर्य में संक्षोभ होने से जगत् की सृष्टि हुई। मूल है—

शिवो हि परवाङ्मयमहामन्त्रवीर्यविसृष्टिमयः परमेश्वरी विसृष्ट्या तद्वीर्यघनतात्मप्रसूननिर्भरया सृष्ट्या युज्यते।[2]

---

* (उद्धृत श्री भगवानदास जी के 'Science of Emotions', 3rd Edition; P.397. से)

१—*Dr. Bhagwan Das : 'The Science of Emotions', Third Edition, P. 284 ;* कामसूत्र : १, २

२—श्री परात्रिंशिका, अभिनवगुप्तकृत टीका ; *Kashmir series of Texts and Studies. No. XVIII.*

शैव और शाक्त सिद्धान्त अलग-अलग हैं और दोनों तन्त्र-नाम से पुकारे जाते हैं। दोनों में सृष्टि-मर्म मैथुनजन्य ही बताया गया है। शिव-शक्ति-संयोग से ही सृष्टि हुई है। उसी से शब्द की और अर्थ की उत्पत्ति हुई है। उसी के फलस्वरूप निवृत्ति-शक्ति और प्रवृत्ति-शक्ति निष्पन्न हुई। तन्त्र-शास्त्र में निष्णात सर जॉन वुड्रोफ लिखते हैं—

'परा संवित् शिव की शक्ति-रूप में स्वानुभूति ही है। यही अनुभूति पूर्ण जगत् का आदर्श है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शिव शक्ति के स्वरूप-भेद से ही आदर्श है। तात्पर्य यह है कि सारे विश्व का आदर्श वही रूप-रहित भाव, आनन्द पाना है, जो शिव को अपनी शक्ति के रूप में अपनी अनुभूति से होता है, जो आनन्द सारे जगत् का मूल है। सभी कुछ प्रेम है और प्रेम से ही सभी प्राप्त होता है। शाक्ततन्त्र सृष्टि के अव्यवहित पूर्व-क्षण में शिव-शक्ति-संयोग को एक उदाहरण से समझाते हैं। चने के दाने के दोनों पुटों में एक शिव और एक शक्ति है। दोनों ऊपर से एक कंचुक से आवृत रहते हैं। द्वन्द्व-रूप में मैथुन-सा होता है। उससे जो संक्षोभ और आनन्द होता है, उससे नाद निकलता है और उससे विन्दु विनिस्सृत होता है। जब कंचुक फूटता है तो दोनों दाने अलग हो जाते हैं। एक विभेद उत्पन्न होता है। दाने का एक पुट 'अहं' और दूसरा 'इदं' का रूप धारण करता है।'[१]

तान्त्रिक लोग शब्द की निष्पत्ति और जप को भी मैथुन संज्ञा से ही स्पष्ट करते हैं। वुड्रोफ महोदय पुनः लिखते हैं—

'(जप करनेवाले साधक के) दोनों ओष्ठ-पुटों में एक शिव और दूसरा शक्ति है। ओठों का जो हिलना है, वही दोनों का मैथुन है। उससे निकलनेवाला शब्द ही विन्दु का स्वरूप है। इससे उत्पन्न होनेवाला देवता साधक का पुत्रवत् है।'[२]

१—"So it is held that the supreme experience is by the self (शिव) of Himself as Shakti, who as such is the Ideal of Perfect universe ; not in the sense of a perfected world of form but that ultimate formless feeling (भाव) of Bliss (आनन्द) or Love at root the whole world is. All is Love and by Love all is attained. The *Shakta Tantras* compare the State immediately prior to creation with that of a grain of gram (Chanaka) wherein the two seeds (शिव and शक्ति) are held as one under the single sheath. There is, as it were a मैथुन in this unity of dual aspect, the thrill of which is नाद giving birth to विन्दु . When the sheath breaks and the seeds are pushed apart, the beginning of a dichotomy is established in the consciousness, whereby the 'I' and 'This' (Idam or Universe) appear as separate."

—*Sir John Woodroffe, 'Shakti and Shakta', p. p. 208-9.*

२—"The two lips are Shiva and Shakti. Their movement is coition (मैथुन) of the two. शब्द which issues herefrom is in the nature of *Vindu*. The *Devata* thus produced is, as it were, the son of the *Sadhaka*."

—वही, *The Garland of Letters, P. 210.*

द्वन्द्व-प्रपञ्च को समझाने के लिए सभी शास्त्रकारों ने मैथुन को ही श्रेष्ठ उदाहरण क्यों मान लिया है ? बात यह है कि उपमेय और उपमान में समानता है। वह समानता आकर्षण-रूपिणी एवं काम-रूपिणी है। इसको मानने में क्या विरोध हो सकता है ? क्योंकि—

'शाक्ततन्त्र अद्वैतवाद का साधना-शास्त्र है। वह वेदान्त के सिद्धान्तों को अपनी क्रिया के प्रतीकों के अनुसार अपनी ही रीति से बताता है। वह कहता है कि नाद शिव-शक्ति का मैथुन है और जब महाकाल महाकाली के साथ विपरीत रति में रत था, विन्दु निकला।···शब्द की अभिव्यक्ति के पूर्व द्वन्द्व पूर्वसिद्ध है। जब द्वन्द्व है, तब मिथुन का सम्बन्ध मैथुन अवश्य है।'[१]

वास्तव में, सभी प्रतीकों के उपकरण हमारे अनुदिन के जीवन में दिखाई पड़नेवाली परिस्थितियों से ही प्राप्त होते हैं। अतः किसी बात को उदाहरणार्थ नहीं लेकर स्त्री-पुरुष के मिथुन-सम्बन्ध को ही विशेषता देने से यह उचित ही प्रतीत होता है कि जगद्वैचित्र्य मैथुनात्मक एवं कामात्मक है। काम का प्रधान अंश आकर्षण है, अथवा आकर्षण ही काम है। आकर्षण जब बड़ों के प्रति होता है तब वह श्रद्धा, भक्ति, पुनीत भाव आदि रूपों में परिलक्षित होता है, वही समान के प्रति प्रेम और सख्य-रूप में परिणत होता है, वही निकृष्टों अथवा छोटे व्यक्तियों के प्रति अनुकम्पा के रूप में प्रकट होता है और शिशुओं के प्रति वात्सल्य-भाव बनता है। वही आकर्षण (काम) माता के दुग्ध में वात्सल्य के रूप में, प्रेमी के आलिंगन में काम के रूप में, दीनों अथवा छोटों के प्रति करुणा और दया के रूप में प्रकट होता है। किन्तु, इन सभी रूपों में एक ही मानसिक भाव जागरूक है और वह है मिथुन का सम्बन्ध, आकर्षण अथवा काम। अतएव, सभी दार्शनिकों ने काम को आदिदेव माना है और कहा है—

भूता वा वर्त्तमाना वा जनिष्याश्चापि सर्वशः।
कामात् सर्वे प्रवर्त्तन्ते लीयन्ते बुद्धिमागताः॥[२]
काममय एवायं पुरुषः।[३]

१—"For the Shakta Tantra is the साधनाशास्त्र of अद्वैतवाद presenting the teachings of वेदान्त in its own manner and in terms of its own ritual symbolism. Thus it is said that नाद is the मैथुन of Shiva and Shakti and that महाकाल was in विपरीत मैथुन with महाकाली (a form of मैथुन again which is symbolical of the fact that शिव is निष्क्रिय and शक्ति सक्रिय) there issued विन्दु......Before the appearance of शब्द there must be two. Unity is necessarily actionless. 'Two' involves a third which is the relation of both."

२—शिवपुराण।

३—बृहदारण्यकोपनिषद्।

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं तदासीत् ।
सतोबन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ [१]

पुरुष काममय है। काम मन का रेतस् है। वही प्रारम्भ में शिशु के कोमल हृदय-स्पन्द में पल्लवित होता है। किन्तु इसे वही पहचान पाता है, जो अपनी संस्कार-जनित भावनाओं को छोड़कर सत्य को देखने की चाह रखता हो। काम-शक्ति के अनेक उल्लास हैं। कहीं वह मानस-शक्ति के रूप में प्रकट होती है, तो कहीं शक्ति के रूप में। उसके सभी उल्लासों के साथ-साथ अनेक प्रकार के भाव-विशेष होते हैं। अतः, हम आगे के अध्याय में पाठकों के सामने काम-शक्ति की क्रियाएँ तथा उनसे और भावों का क्या सम्बन्ध है, इसे दिखाने का यत्न करते हुए काम-शक्ति की क्रियाओं एवं उनके और भाव-संवेग के सम्बन्ध पर प्रकाश डालेंगे।

१—*Dr. Bhagwan Das ; 'The Science of Emotions.'*

छठा अध्याय

काम-शक्ति, संवेग और निरोध

चित्त-यन्त्र को चलानेवाली शक्ति काम-शक्ति है। वह आकर्षणात्मक है। वह व्यक्ति को विषय की ओर ले जाती है और फिर उसे विषयी से एक बना देना चाहती है। इस प्रकार के विकास में यदि काम-शक्ति को सफलता प्राप्त हुई तो विषयी अपने को विषयासक्त पाता है, किन्तु यदि असफलता मिली तो वह प्रायः विकर्षण में परिणत होती है। चैत्त शक्ति के प्रवाह की तुलना हम एक धारा से कर सकते हैं। काम-शक्ति धारा के समान विषयों की ओर बहती है। इस प्रकार की तुलना देने का कारण यही है कि कामशक्ति भौतिक शक्ति के समान ही प्रचालित होती है। भौतिक शक्ति का हम प्रत्यक्ष अनुभव कार्य-रूप में कर सकते हैं। उस शक्ति को हम रोक सकते हैं, उसको अभिलषित गम्य स्थान से हटाकर दूसरे मार्गों से बहा सकते हैं; उसके ठीक-ठीक उपयोग से समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी विद्युत् आदि शक्तियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं। काम-शक्ति के प्रवाह में इसी प्रकार की गति अथवा गतिरोध उत्पन्न किया जा सकता है।

हम सभी इस काम-शक्ति के कुछ रूपों का अनुभव प्रतिदिन करते हैं। क्रोध, दया, प्रेम, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि सभी भाव एवं संवेग[१] इसी शक्ति के प्रतिफल हैं। इनके अतिरिक्त हम भी उस शक्ति का अनुभव कई अन्य प्रकार से भी करते हैं। भूख, प्यास और मैथुनेच्छा भी इसी के रूप हैं। भूख का क्रम स्पष्टतः विदित नहीं होता। भूख अकस्मात् नहीं लगती है, प्रत्युत उसका जागरण क्रमशः होता है। भूख का आरम्भ कब हो जाता है, इसका पता नहीं लगता। भुक्तान्न के कण-कण के पचने के साथ-साथ भूख की प्रवृत्ति का भी जागरण आरम्भ हो जाना चाहिए; किन्तु हमें उसका अनुभव नहीं होता है। भूख लगने से अर्थ है—भूख का ज्ञान हो जाना। यह ज्ञान तभी हो जाता है जब खाया गया अन्न पच जाता अथवा अन्नकोष खाली हो जाता है। अन्नकोष एकाएक खाली नहीं होता; खाली होने का क्रम धीरे-धीरे होता है। जब अन्नकोष पर्याप्त मात्रा में खाली हो जाता है, तभी भूख के रूप में कुछ काम-शक्ति प्रकट होने लगती है। यही क्रम प्यास और मैथुनेच्छा में भी पाया जाता है। सब प्रवृत्तियों का जन्म अज्ञात है। किन्तु, समय पाकर वे इच्छा-रूप में, अन्न के काम में, जल की इच्छा में, काम की तृप्ति की खोज में परिणत होती हैं। सभी मनुष्यों में इन प्रवृत्तियों का अस्तित्व है। जब तक इनकी तृप्ति नहीं

१—Affective experiences : 'Feelings and Emotions'. Affective Experience को हम भावानुभूति कहते हैं। Instinct को हम मूल-प्रवृत्ति या सहज-वासना के नाम से पुकारेंगे।

हो पाती, ये व्यक्ति की शान्ति में बाधा पहुँचाती ही रहती हैं। किन्तु एक बार की तृप्ति से ये वासनाएँ बुझती नहीं, प्रत्युत अनवरत अपना वेग दिखाती रहती हैं। वे सदा रहनेवाली इच्छाएँ हैं और इसी कारण इन्हें मूल-प्रवृत्तियों की संज्ञा मिली है। इन अनवरत प्रवृत्तियों के कारण ही व्यक्ति का अस्तित्व है। अपितु, ये ही व्यक्ति के विकास एवं उन्नति के मूल में हैं। हम कह सकते हैं कि स्थूल रूप से मानव-सभ्यता का विकास इन नैसर्गिक मूल-प्रवृत्तियों अथवा वासनाओं की तृप्ति के लिए ही हुआ है।

सभी मूल-प्रवृत्तियों के मूल में काम है। कामशक्ति के विना इनका प्रचलन नहीं हो सकता। वास्तव में, कोई भी प्रवृत्ति राग के कारण ही होती है, और राग का दूसरा नाम है काम। काम से ही वासनाओं की उद्भूति होती है। वासनाएँ निरूढ इच्छाएँ हैं। जब कोई इच्छा बार-बार उत्पन्न होती हुई क्रमशः दृढ ग्रन्थि का रूप धारण करती है, तब वही वासना का रूप पकड़ती है। भूख आदि की इच्छाएँ वासनाएँ अथवा मूलप्रवृत्तियाँ हैं; क्योंकि उनके मूल का परिज्ञान हमें नहीं हो पाता। ऐसी इच्छाएँ सम्पूर्ण जंगम-जगत् तथा जीव-समुदाय में प्रबल रूप से जागरूक हैं। यह देखने में आता है कि सभी जीव इनके वेग में एक ही प्रकार से प्रतिवेद अथवा प्रतिक्रियाएँ करते हैं। बीज में ही इनका अंकुर है। ये प्राग्भवीय हैं। ये बीज के साथ संक्रान्त होकर निर्माणोन्मुख शिशु में अभिव्यक्त होती हैं। अतः इनको निरूढ अथवा आरूढ इच्छाओं अथवा प्रवृत्तियों की संज्ञा देना अनुचित नहीं जान पड़ता। आरूढ इच्छाओं को ही हम दूसरे नामों, अर्थात् मूल-प्रवृत्तियों, से उद्घोषित कर सकते हैं। ये मूल-प्रवृत्तियाँ अथवा वासनाएँ अपने स्वभाव से व्यक्ति की सभी क्रियाओं को वासित, आच्छादित, रंजित करती रहती हैं। इनके द्वारा काम की अभिव्यक्ति होती है, और काम इनसे बढ़ता है।

वासनाएँ तृप्ति चाहती हैं। तृप्ति पाने के लिए वे उन्मुख रहती हैं। उनको तृप्त करने में काम-शक्ति का कुछ ह्रास होता है। प्रत्येक तृप्ति के साथ वासना का वेग घटता है। व्यक्ति इस घटी हुई शक्ति को फिर से पूरा कर देता है। जब भूख की तृप्ति में काम-शक्ति का कुछ व्यय होता है, तो भुक्तान्न से फिर उसकी पूर्त्ति हो जाती है। मिथुन-क्रिया में संक्षोभ के साथ-साथ जब काम-शक्ति कुछ घट जाती है, तो संभोग के कारण स्त्री-पुरुष में जिस आनन्द की उत्पत्ति होती है, उससे वे पुनः हरे-भरे हो जाते हैं, उत्साह और प्रसाद पाते हैं और इस प्रकार से खोई हुई शक्ति का पुनःसञ्चय वे कुछ सीमा तक कर लेते हैं।

यदि हम प्रत्येक क्रिया के मूल का परिशीलन करें, तो विदित होगा कि उसमें प्रच्छन्न रूप से कोई-न-कोई वासना अवश्य विद्यमान रहती है। प्रकृति से उत्पन्न गुणों के कारण ही व्यक्ति कार्य करता है। कोई क्षणभर के लिए भी अक्रियाशील नहीं होता। प्रकृति अपनी क्रियाएँ करती ही रहती है और उन क्रियाओं में प्राकृतिक इच्छाएँ अथवा वासनाएँ तृप्त होती रहती हैं। पुण्य की इच्छा, यश की कामना आदि प्रत्येक व्यक्ति में पाई जाती हैं। लोग भूखे को अन्न और नंगे को वस्त्र देते हैं। कभी-कभी कर्तव्य-

बुद्धि से भी प्रेरित होकर ऐसा व्यवहार अथवा क्रिया करते हैं। किन्तु, इस प्रकार की कर्तव्य-बुद्धि के मूल में प्रच्छन्न रूप से काम विद्यमान रहता है। प्रत्येक कार्य के मूल में 'लोग मेरी भलाई करें' यह इच्छा रहती है।

काम-शक्ति प्रायः अज्ञात रूप से ही व्यक्ति को विषय की ओर प्रवृत्त करती रहती है। अतएव द्रष्टा कहते हैं—

'हमारा जीवन अज्ञात और अनिरोध्य शक्तियों के हाथों चलता है।'[1] यह बात सत्य है। ज्ञात होने पर ही हमें शक्तियों का पता चलता है। इस अध्याय में हम इसी शक्ति के कुछ कार्यों का अध्ययन करेंगे। मान लीजिए, कोई व्यक्ति गुलाब का फूल देख रहा है, जिससे चतुर्दिक् सौरभ बिखर रहा है। गुलाब के सौरभ के कारण व्यक्ति मुग्ध होता है। उसके मन में फूल तोड़ लेने की एक इच्छा उठती है। व्यक्ति जिन वस्तुओं से प्रेम करता है, उनकी अलग सत्ता नहीं चाहता, प्रत्युत उन्हें वह अत्यन्त निकट रखना चाहता है। व्यक्ति मिष्टान्न को अपने उदर में ही सुरक्षित करता है। जहाँ प्रिय वस्तु की सन्निधि इस प्रकार सम्भव नहीं है, वहाँ भी प्रिय वस्तु को सन्निकट रखने का यथासम्भव प्रयत्न देखा जाता है। अस्तु, गुलाब तोड़ने की इच्छा मानसिक है। जगी हुई इच्छा किसी प्रकार के अवरोध के अभाव में क्रिया-रूप में परिणत हो जाती है। अतः फूल के तोड़ने में चैत्त शक्ति और भौतिक शक्ति अथवा काम-शक्ति की क्रिया प्रकट हो जाती ही है। वास्तव में, बिना शक्ति के विनियोग के किसी प्रकार की क्रिया का स्फुरण सम्भव नहीं है।

शक्ति जल के समान है। जल बहता है। जिस ओर ढाल होता है उधर ही उसकी गति उन्मुख होती है।[2] यदि उस जल के मार्ग को किसी बाँध से रोक दिया जाय तो जल का बहाव रुक जाता है। इतना ही नहीं, पीछे से जल आ-आकर बाँध की ओर एकत्र हो जाता है। इसके फल अनेक हो सकते हैं: (१) या तो वह जल बढ़-बढ़ कर इतने परिमाण में हो जायगा कि वह बाँध ही टूट जायगा। यदि बाँध टूट न सका, तो (२) वह जल-प्रवाह लौटकर उस बाँध के दोनों सिरों से बहने का प्रयत्न करता है।[3] यदि इसमें भी सफल नहीं हुआ, तो (३) पुरानी सूखी हुई नालियों में से बहने की चेष्टा करेगा, यदि यह भी नहीं हो सका, तो (४) वह अपने लिए नवीन मार्ग बना लेता है, अथवा (५) बाँध के ऊपर से बह निकलता है।

जिस प्रकार जल निम्नग है, उसी प्रकार काम-शक्ति भी बहिर्मुख है अथवा विषयोन्मुख है। काम-शक्ति चित्त-यन्त्र से बहिर्गत होने का प्रयत्न करती है। यदि उसके प्रकटीकरण में कोई अवरोध उत्पन्न हुआ, तो वह जल-प्रवाह के सदृश या तो (१) घूम-फिरकर बाँध को बचाकर, ज्ञात होने की चेष्टा करती है, या (२) पुराने मार्गों

१—We are lived by unknown and uncontrolled forces.

२—योगवासिष्ठ में वासना की तुलना सरित् से की गई है।

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना-सरित्—योगवासिष्ठ : मुमुक्षु प्रकरण, सर्ग ६, श्लोक ३०।

३—'पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहं यथा···द्वैधी भवति—शाकुन्तलम्।

से प्रकट होने का प्रयत्न करती है, या (३) अपने लिए नवीन विषय चुन लेती है, अथवा, (४) स्वप्न आदि में निरोध को जीतकर, बाँध के ऊपर से बह निकलती है।

भोजन करना एक प्रवृत्ति है। यदि हम स्वादिष्ट भोजन करें और उसे पचा लें, किन्तु कोई क्रिया न करें तो क्या होगा? अन्न से उद्भूत वह शक्ति किसी-न-किसी प्रकार बहिर्मुख होने का प्रयत्न तो करेगी ही। यदि उस शक्ति का ठीक उपयोग हो गया और वह शरीर से बहिर्गत हो जाती है तो व्यक्ति को शान्ति मिलती है। शक्ति का संचय तथा विनियोग ही जीवन के लक्षण हैं। यदि शक्ति का संचय तथा उसका विनियोग अनुरूप रहें, तो जीवन शान्तिमय होता है। संचय कम और विनियोग अधिक, अथवा विनियोग कम और संचय अधिक रहे, तो व्यक्ति व्याधिग्रस्त हो जाता है। किसी-न-किसी प्रकार से शक्ति के विनियोग का मार्ग होना ही चाहिए। बच्चों में शक्ति का संचय विनियोग की मात्रा से अधिक होता है, इसी कारण वे उद्देश्य-रहित कार्यों में और खेल-कूद में अधिक प्रवृत्त होते हैं। अध्यापकों को चाहिए कि वे उस शक्ति का ह्रास अतिमात्रा में न होने दें और उसका यथोचित विनियोग सिखावें।[१]

वासनाओं के वेग को रोकने से काम-शक्ति का संचय इसी प्रकार से होता है। रोकनेवाले को उसके विनियोग का मार्ग दिखाना चाहिए, और दिखाना चाहिए उसके लिए तदनुरूप विषय। यदि ऐसा नहीं हो सका तो उसका बहुत कम भाग उद्देश्य-रहित कार्यों में परिणत होगा और अधिक भाग शारीरिक और मानसिक रोगों के रूप में प्रकट होगा।

काम शक्ति का प्रवाह और एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। जब हम जल गरम करते हैं तो पहले बुद्बुद का स्वर नहीं होता। क्रमशः साँय-साँय करता हुआ बुद्बुद का स्वर फूटने लगता है और कालान्तर में ध्वनि के साथ खौलने लग जाता है। स्पष्ट है, खौलने की वह अवस्था भी अचानक नहीं आती, प्रत्युत क्रमशः प्रकट होती है। इसी प्रकार यदि खौलते समय उसे ढक्कन से ढँक दें और आग लगाते जायँ, तो ढक्कन को उससे निकलनेवाला वाष्प उठा डालेगा और यदि पात्र, जिसमें जल खौलाया जा रहा है, ढक्कन से भलीभाँति बन्द है, तो सम्भवतः वह अत्यधिक उष्णता से फूट जायगा। यही बात काम-शक्ति के विषय में भी लागू है। इस उपमा में भेद केवल इतना ही है कि जल को खौलाने के लिए बाहर से आग दी जाती है, किन्तु वासनाओं अथवा मूल-प्रवृत्तियों को प्रकट करनेवाली काम-शक्ति अन्तः में ही विद्यमान है। वासनाओं का वेग ही वाष्प का वेग है। वासना-वेग संवेग के रूप में परिणत होता है। किसी भी संवेग को पूर्णतया रोकने से अथवा किसी भी वासना को

१—मनु का कहना है कि ब्रह्मचारी अग्नि है। उसे अपनी शक्ति की रक्षा करनी चाहिए, 'वृथा जल-ताड़न' नहीं करना चाहिए। आचार और समय से उस शक्ति का यथाशास्त्र संयमन और नियमन करना चाहिए। ब्रह्मचारी की, इसी शक्ति के कारण, अग्नि से तुलना की जाती है। कठोपनिषद् में बालक नचिकेता को अग्नि कहा गया है—'वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।'—प्रथमवल्ली।

पूर्णतया अवरुद्ध करने से वही दशा उत्पन्न होगी, जो जल-प्रवाह की अथवा खौलनेवाले जल की होती है।

भावों एवं संवेगों में परिवर्त्तन होता रहता है। जिस प्रकार जल-प्रवाह अपनी गति में अन्य मार्गों के अनुसरण करने में उन्हीं (मार्गों) का रूप धारण करता है और अपने पूर्व-रूप में कुछ परिवर्त्तन डाल लेता है, उसी प्रकार भाव एवं संवेग बहिर्गत होने में सबसे अनुकूल रूप को ही धारण करते हैं। मन की भावात्मक अनुभूति किसी विचार के साथ संलग्न होकर ही प्रकट होती है। यदि वह विचार निरुद्ध अथवा अवदमित कर दिया जाता है, तो भावात्मक अनुभूति दूसरे विषय से संलग्न हो जाती है। भावों एवं संवेगों (भावात्मक अनुभूतियों) में प्रगट होनेवाली काम-शक्ति भी अपना रूप परिवर्त्तित करती रहती है। वह विषयों के अनुकूल अपने को प्रकट करती रहती है।

काम-शक्ति और संवेग में सम्बन्ध है, परन्तु उसमें और भौतिक शक्ति में उस प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। संवेगानुभूति के आधिक्य से काम-शक्ति का अधिक विनियोग और उसकी कमी से उसकी कमी प्रकट होती है। किन्तु, भौतिक शक्ति के ह्रास अथवा वृद्धि और काम-शक्ति के ह्रास और वृद्धि में इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। छोटी-से-छोटी क्रिया में भी अधिक काम-शक्ति विनियुक्त हो सकती है। यदि मुँह पर मक्खी बैठ जाय तो पहले कोई उतनी परवाह नहीं करता, किन्तु जब वह बार-बार आकर बैठती है तो व्यक्ति हाथ उठाकर उसे उड़ाता है। हाथ के उठाने में थोड़ी-बहुत भौतिक शक्ति विनियुक्त होती है, किन्तु काम-शक्ति का अधिक व्यय नहीं होता है। मक्खी जब भगाने पर भी आकर पुनः बैठती ही रहे, तो व्यक्ति झुँझला उठता है और हाथ फटकार कर उसे भगा देता है। निस्सन्देह, इस बार तो भौतिक शक्ति का कुछ अधिक व्यय हुआ, किन्तु इस क्रिया में काम-शक्ति का व्यय बहुत अधिक हुआ। दर्शन की किसी समस्या के विषय में सोचने में अधिक काम-शक्ति लगती है, किन्तु भौतिक शक्ति बहुत ही कम विनियुक्त होती है। संवेगानुभूति जितनी अधिक मात्रा में रहती है, उतनी ही अधिक मात्रा में चैत्त शक्ति विनियुक्त होती है। अधिक शारीरिक परिश्रम में भी, अभ्यास के कारण, चैत्त शक्ति का अल्प विनियोग होता है। किसी नवीन कार्य के करने में हमें पहले मन लगाना पड़ता है। साइकिल के सीखने में प्रारम्भ में अधिक चैत्त शक्ति विनियुक्त होती है। सीखते समय व्यक्ति को सारा ध्यान उसी क्रिया में लगाना पड़ता है, किन्तु अभ्यस्त हो जाने के अनन्तर व्यक्ति आँख मूँदकर साइकिल चला लेता है और वैसी स्थिति में चैत्त शक्ति का विनियोग ही नहीं होता है।

बाह्य संसार में, यदि किसी कारणवश, चैत्त शक्ति को अपने अभिव्यंजन में अनुकूलता नहीं प्राप्त हुई तो वह बाह्य विषय को छोड़कर भीतर की ओर प्रवृत्त होती है और विषयी (व्यक्ति) के अहंकार को ही अपना विषय बनाती है। शैशवावस्था में यह काम-शक्ति शिशु में 'स्वीय काम' के रूप में रहती है। शिशु का कोमल अहंकार अपने-आपको काम का विषय बना लेता है। अपने-आपमें शिशु को रति मालूम

उत्पत्ति होती है। इसी वेदना को भाव कहते हैं और जब यह भाव बहुत बढ़ जाता है तो उसे संवेग कहते हैं।[1] व्यवस्थित चित्तवाले व्यक्ति को प्रत्येक ज्ञान के साथ कुछ भाव भी हुआ करते हैं। भाव स्मरण से भी होता है। स्मरण भी ज्ञान हैं और ज्ञान के साथ भाव होता है। गुरु के निकट अपने अतीत दुःखों का उल्लेख करते-करते व्यक्ति दुःख से अभिभूत हो सकता है। भाव प्रिय तथा अप्रिय दो प्रकार के होते हैं; वे व्यथा अथवा हर्ष की अभिव्यक्ति के प्रतीक हैं। दुःखद घटनाओं का स्मरण करते समय अत्यन्त दुःख उत्पन्न हो सकता है। माता अपने मृत बच्चे की स्मृति से दुःखित होती है। बच्चे अपने अपमान को स्मरण कर-करके रोते हैं। यहाँ रोना संवेग (अत्यधिक भाव) का द्योतक है। क्षण-भर के लिए यदि उनकी वृत्ति दूसरी ओर घुमाई जाय तो भी, फिर उसी अपमान का अथवा दुःख का स्मरण कर वे रो पड़ते हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि दुःखादि भावों एवं संवेगों की उत्पत्ति के लिए जिन विषयों का सम्बन्ध अपेक्षित है, वे या तो वास्तविक विषय हो सकते हैं, अथवा उनकी स्मृतिमात्र। यह कोई आवश्यक नहीं है कि सचमुच विषय की सत्ता हो, अथवा उसकी स्मृति हो; क्योंकि कल्पित विषयों से भी भय, प्रेम आदि के संवेग जाग्रत हो जाते हैं। विषय के सन्निकर्ष से तो कोई-न-कोई भाव या संवेग उत्पन्न होगा ही। गीता में आया भी है—

संगात् संजायते कामः।

—संग से काम होता है। काम के साथ उसका संवेग होता है। अच्छी बातों को सोचते-सोचते चेहरा खिल उठता है। इस प्रकार से संवेग प्रत्येक वासना-व्यूह से सम्बद्ध है। चित्त-वृत्ति का पूर्ण स्वरूप ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक है। ज्ञान के कारण भाव अथवा संवेग जाग जाता है। चित्त-यन्त्र में अपरिमित अनुद्भूत काम-शक्ति है। यह शक्ति तभी अभिव्यक्त होती है जब उसे प्रेरित करनेवाले स्फुलिंग हों। बाह्य एवं आन्तर उद्दीपकों से उत्पन्न संवेदनाएँ तथा ज्ञानात्मक मानस-गतियाँ स्फुलिंग का काम देती हैं। और, फलतः भावावेग (संवेग) के साथ वह काम-शक्ति बाह्योन्मुख हो जाती है।

कुछ लोग भाव एवं संवेग को जड मानते हैं। उसका कहना है कि भाव चित्त-यन्त्र का धर्म नहीं है, वह तो शारीरिक परिवर्तनों के कारण होता है। यह सभी की अनुभूति है कि क्रोध के संवेग में मुँह लाल होता है, ओठ फड़फड़ाते हैं तथा इसी प्रकार की अन्य बाह्य एवं आन्तर क्रियाएँ होने लगती हैं। किन्तु, कुछ लोगों का कहना है कि मुँह लाल होने, ओठ फड़फड़ाने आदि से क्रोध होता है। इस मत के प्रतिपादक हैं—आचार्य विलियम जेम्स। उनका कहना है—'उत्तेजक तत्त्व के परिज्ञान के पश्चात् ही शरीर में कुछ परिवर्त्तन होते हैं और उन परिवर्त्तनों का भाव ही संवेग

१—Feeling और Emotion को क्रम से भाव और संवेग कहा जाता है। Stirred up feeling is emotion. जब भाव में हलचल उत्पन्न होती है, अथवा जब भावातिरेक होता है तो संवेग उत्पन्न हो जाता है। दोनों में केवल मात्रा का भेद है। इस विषय में प्रो० अर्जुन चौबे काश्यप-लिखित 'सामान्य मनोविज्ञान' के प्रथम खण्ड का दसवाँ अध्याय अवलोकनीय है।

है। सामान्य ज्ञान के अनुसार हम कहते हैं, हमारा धन खो गया, हमें दुःख होता है और हम रो पड़ते हैं; हमें भालू से भेंट होती है, हम डर जाते हैं और भागते हैं; प्रतिद्वन्द्वी हमारा अपमान करता है, हमें क्रोध होता है और उसे पीटते हैं।......इस प्रकार का अनुक्रम त्रुटिपूर्ण है......अधिक बौद्धिक कथन यह है कि हम रोते हैं इसी से हमें दुःख हो जाता है, हम पीटते हैं अतः क्रुद्ध हो जाते हैं, हम काँपते हैं और डर जाते हैं.........।'[१]

संवेग शारीरिक परिवर्त्तनों को छोड़कर और क्या है? क्रोध एक संवेग है। यदि हम उससे उसके सभी शारीरिक वैखरियों यथा, दाँत पीसना, मुँह लाल होना, ओठ फड़फड़ाना आदि को निकाल दें, तो क्रोध का संवेग नहीं पाया जायगा। विलियम जेम्स ने इस प्रकार के तर्क उपस्थित किये हैं। विलियम जेम्स के सिद्धांतानुसार यदि हम किसी विशिष्ट संवेग में अभिव्यंजित होनेवाली शारीरिक वैखरियों को व्यक्त करने का प्रयत्न करें तो उस संवेग की उत्पत्ति हो जाती है। नाटक में अभिनेता यही तो करते हैं। शीशे के सामने बैठकर यदि हम अपने दाँत पीसें, मुक्का बाँधें, काँपने लगें तो क्रोध की उत्पत्ति हो जाती है। अतः क्रोधादि संवेग शारीरिक परिवर्त्तन की संवेदनाएँ और उनकी अभिव्यक्ति हैं। जेम्स महोदय का मत इस मत का समर्थन करता है कि मानसिक जगत् अलग नहीं है और भौतिक जगत् ही सब-कुछ है। उनके कथनानुसार विचार आदि भी शारीरिक परिवर्त्तनों के कारण होते हैं। 'मानसिक और भौतिक जगत्' नामक अध्याय में इस विषय पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार के भ्रम के कारण कुछ योगियों ने शारीरिक नियमों पर अत्यधिक ध्यान और बल दिया है। कुछ पाश्चात्य मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं—'संकुचित गति संवेग है'[२], 'संवेग क्रिया एवं स्पन्द का घनीभूत रूप है अथवा संवेग संवेदनाओं का पुञ्ज है।'[३] डर कुछ नहीं है, वह केवल उसके सब वैखरियों का अथवा बाह्य रूपों का फलस्वरूप है। इसी विषय की चर्चा करते हुए डा० भगवानदास ने कहा है—

१—'The bodily changes follow directly the perception of the exciting fact and our feeling of the same changes is the emotion. Common sense says, we lose our fortune, are sorry and weep; we meet a bear, are frightened and run; we are insulted by a rival, are angry and strike··· This order of sequence is incorrect. The more rational statement is that we feel sorry because we cry, angry because we strike, afraid because we tremble, and not that we cry, strike or tremble, because we are sorry, angry or fearful, as the case may be.'

विलियम जेम्स के समान ही डेनमार्क के मनोवित् डा० लैङ्ग का भी सिद्धान्त है। दोनों मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्त को जेम्स-लैङ्ग का संवेग-सिद्धान्त (The James-Lange Theory of Emotions) कहा जाता है। अब यह सिद्धान्त मान्य नहीं है। सर्वश्री शेरिंगटन, कैनन, कैण्ट्रिल महोदयों के प्रयोगों ने इस सिद्धान्त को भ्रामक मान लिया है। देखिए, प्रो० अर्जुन चौबे काश्यप : सामान्य मनोविज्ञान, प्रथम खण्ड, पृष्ठ, ४०१–१४।

२—'Compressed motion is Emotion.'

३—Emotion is a sensation-mass.

"कुछ लोगों ने ऐसा कहा है कि 'संवेग अवदमित या घनीकृत (संक्षिप्त) गतियों का सूचक है,' भय पलायनहीन पलायन है, क्रोध युद्धहीन युद्ध है (अर्थात् भागने अथवा लड़ाई के अक्रियान्वित रूप ही क्रम से भय एवं क्रोध के संवेग हैं।) किन्तु, वैसे ही उतनी ही दृढ़ता से यह भी कहा जा सकता है कि पलायन क्रियान्वित भय है, लड़ाई क्रियान्वित क्रोध है।...समान शरीरवाले समान शरीर-रचनावाले प्राणियों में समान परिस्थितियाँ सदैव एक ही प्रकार के संवेगों को अभिव्यक्त नहीं करती हैं। यदि शारीरिक स्वरूपों से भिन्न मानसिक स्वरूप न हों, तो यह हो कैसे सकता है?"[१]

मैक्डूगल आदि मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने भी जेम्स के सिद्धान्त की इसी प्रकार आलोचना एवं विमर्शना की है। इधर के मनोवैज्ञानिक अन्वेषणों से जेम्स महोदय का सिद्धान्त भ्रामक मान लिया गया है। वास्तव में, संवेग मानसिक वृत्ति है। चित्त-विश्लेषकों ने अपने परीक्षित प्रमाणों द्वारा इसपर प्रकाश डाला है। इस विषय में श्री ब्रयार आदि की चिकित्सा-प्रक्रियाएँ प्रमाण हैं, जिनसे हमें यह विदित होता है कि निगूढ़, किन्तु जीते-जागते संवेग चित्त में रहते हैं। संवेग वासनाओं के समान अभिव्यक्त होना चाहते हैं। अन्तःकरण में कोई भी ऐसी बात नहीं है जो अपने को वैखरी-रूप में प्रकट नहीं करना चाहती हो। यदि किसी निरोध के कारण संवेग की अभिव्यक्ति नहीं हो सकी तो वह (१) या तो उद्वेग अथवा चिन्ताकुलता[२] में परिणत होता है, (२) कोई विपरीत रूप धारण करता है, अथवा (३) प्रत्यागमित होकर किसी पुराने मार्ग से प्रकट होता है। अब हम क्रमशः इन चारों दशाओं पर विचार कर लें।

(१) संवेग के प्रकाश को रोकने से वह दब जाता है और किसी-न-किसी रूप से प्रकट होने का प्रयत्न करता है। यदि उसके लिए कोई अनुकूल मार्ग नहीं प्राप्त होता है, तो वह अहैतुक उद्वेग अथवा चिन्ताकुलता का रूप धारण करके निकल पड़ता है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को माननेवाले एक दम्पती थे। इस मत के लोग यही सोचते हैं कि विवाह होते हुए भी स्त्री-पुरुष अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सब-कुछ कर सकते हैं, पर एक-दूसरे को अपना रहस्य कह देंगे तो पर्याप्त होगा। फल यह हुआ कि पति ने अपने गुप्त-प्रेम का रहस्य अपनी पत्नी को बतला दिया। पत्नी इससे प्रसन्न ही मालूम पड़ी। परन्तु, कई दिनों के बाद ही वह अहैतुक उद्वेग से ग्रस्त हो गई। वह किसी तरह अकेली बाहर चलने में असमर्थ थी। पति को हमेशा उसके साथ

१—"It has been said that 'Emotions are suppressed or condensed motions.' that 'fear is an unfled flight', 'anger is an unfought fight.' (*Ref. Lay : The child's Unconscious Mind, 1919' P.94*). But we may equally truely say that a flight is a fledout fear, and a fight a fought out anger......The same situation does not produce the same physiological changes, always in different human beings with similar organisms. How could this be if there were not mental aspects distinguishable from the physiological ?"

Dr. Bhagwan Das ; The Science of Emotions. P. 3, Foot-note.

२—Anxiety

रहना अनिवार्य हो गया। स्पष्ट है, यहाँ स्वाधीन चिन्ता उद्वेग के रूप में रूपान्तरित हो गई।

(२) दूसरा रूप यह है कि निरुद्ध होने पर संवेग ठीक विपरीत रूप धारण करके प्रकट होता है। कई आचार्यों का मत है कि क्रोध, वास्तव में, कोई स्वतन्त्र संवेग नहीं है, प्रत्युत् वह किसी प्रवृत्ति के रोकने से ही क्रोध-रूप में परिणत होता है। गीता में आया है—'संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोभिजायते...'। यदि काम की तृप्ति हो जाय तो क्रोध उत्पन्न नहीं हो सकता। काम की तृप्ति में बाधा डाली जाय तो वह क्रोध बन जायगा। क्रोध के पूर्व काम के मार्ग में कोई-न-कोई रुकावट पूर्व-सिद्ध है। सम्भवतः गीता ने 'कामात् क्रोधोऽभिजायते' इसी उद्देश्य से कहा है कि काम की पूर्ण तृप्ति असम्भव है, उसमें कोई-न-कोई रुकावट से क्रोध उत्पन्न होगा ही।

(३) तीसरी बात पुराने मार्गों का ग्रहण करना है। मान लीजिए, किसी माता को किसी पर क्रोध होता है और वह किसी कारणवश अपने क्रोध को प्रकट नहीं कर सकती है, तो ऐसा देखने में आता है कि वह अपने अबोध बच्चों को पीटती है। यह अनुद्दिष्ट है, किन्तु वह जाने बिना ही उन बच्चों को पीटती है। अपनी लज्जा को हँसी में छिपाने का प्रयत्न भी इसी बात का समर्थन है। जब हमारे भेद को कोई जान लेता है और हम उसपर अपना क्रोध प्रकट करते हैं, तब वह क्रोध किसी मजाक के रूप में प्रकट होता है। हँसी-मजाक के मूल में अनेक महत्त्व की बातें छिपी रहती हैं। हँसी में बात को उड़ाना, हँसी में बात घुमा देना आदि शिशुओं के व्यवहार का स्मरण दिलाते हैं। इन तीनों मार्गों से यदि संवेग प्रकट नहीं होने पाया तो वह व्यक्ति के चित्त में क्षोभ उत्पन्न करता है और कभी-कभी व्यक्ति को मृत्यु-शय्या तक पहुँचा देता है। इसी कारण से सभी भाव-रेचन के लिए प्रयत्न करते हैं। इसका परिचय महाकवि टेनिसन की एक कविता से भलीभाँति प्राप्त होता है। वे लिखते हैं—

"एक वीर वनिता का पतिदेव रण-रंग में मारा गया। लोग उसका शव घर पर ले आये। उसकी स्त्री दुःख से इतनी भर गई कि वह रो नहीं सकी। यदि वह किसी प्रकार से रेचित नहीं होती तो उसका बचना दुष्कर था। सखियों ने शव के मुँह पर से कपड़ा उठाया। उनका विचार था कि पति के मुँह को देखने से वह रो पड़ेगी। किन्तु; जब उनका कोई भी प्रयत्न सफल न हुआ, तब अन्त में, एक बूढ़ी धाई ने उसके एकलौते बेटे को उसकी गोद में छोड़ दिया। अब वह स्त्री रो पड़ी और आँसुओं के रूप में संवेग का रेचन हो गया।"[१] भवभूति ने संवेग के इस स्वभाव का अच्छा वर्णन किया है—

१—"Home they brought her warrior dead;
She nor swoon'd nor uttered cry.
× × ×
Rose a nurse of ninety years,
Set his child upon her knee—
Like summer tempest came her tears—
'Sweet my child, I live for thee'."

—*The Princess*

पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया ।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते ॥[१]

—जब तडाग लबालब भरा हो, तब बाँध को बचाने की एकमात्र प्रतिक्रिया उसके किसी-न-किसी भाग को तोड़कर जल को बहा देना ही उत्तम है। उसी प्रकार जब चित्त क्षोभ से भरा रहता है, संवेग-परीवाह (संवेगाभिव्यंजन) ही व्यक्ति को जीवित रख सकता है। इसी कारण, किसी बन्धु के मरने पर गाँव के सभी लोग सान्त्वना देने के लिए एकत्र होते हैं। ऐसा लगता है, मानो सान्त्वना दुःख को और बढ़ा देती है, किन्तु वास्तव में, निगूढ संवेग (भावावेग) उद्भूत हो जाता है, आँसू निकल पड़ते हैं और चित्त शान्त हो जाता है। आनन्द में भी अश्रुपात होता है और अश्रुपात से भावोद्वेग का परीवाह हो जाता है।[२] जिस प्रकार अधिक दुःख से व्यक्ति स्तम्भित हो जाता है, उसी प्रकार अधिक सुख में भी अनुकूल अथवा प्रतिकूल किसी भी संवेग का आधिक्य सहा नहीं जा सकता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी व्यक्ति को अकस्मात् बहुत ही प्रिय बात कह देने से उसकी मृत्यु हो जाती है। अधिक दुःख से भी ऐसा हो जा सकता है। भक्त लोग पुकारा करते हैं, 'हे भगवन्, मुझे इतनी प्रसन्नता न दो, मैं इस आनन्दातिरेक को सह नहीं सकता हूँ।' संवेगातिरेक में व्यक्ति घबरा जाता है और चाहने लगता है कि ठीक उसके विपरीत अवस्था उत्पन्न हो जाय। ऑस्कर वाइल्ड का कहना है—

"उच्छ्रिति के शिखर पर रहते-रहते जी ऊब गया, अतः नवीन संवेदना की खोज में नीचे की ओर जान-बूझकर चलने लगा।"[३]

महाकवि माघ ने भी इसी प्रकार के प्रसंग में एक सुन्दर वर्णन किया है—

सततममृतादेवाहारात् यदापतदरोचकं ।
तदमृतभुजां भर्त्ता शंभुर्विषं बुभुजे विभुः ॥[४]

—अर्थात्, सदा अमृत ही अमृत खाते रहने से शिवजी को अरुचि हुई, तब अमृतभुक् देवताओं के प्रभु शिवजी ने विष का भक्षण किया।

भाव-परिवर्त्तन की इच्छा सभी को होती है। मनुष्य स्वभाव से ही परिवर्त्तन-प्रिय है। सुन्दरता नवीनता में है। बच्चे भी नवीन-नवीन बातें चाहते हैं। योगवासिष्ठ में एक स्थान पर आया है—

यथा प्राप्तिक्षणे वस्तु प्रथमे तुष्टये तथा ।
न प्राप्त्येकक्षणादूर्ध्वमिति को नानुभूतवान् ॥[५]

१—उत्तर-रामचरित : अंक ३, श्लोक १९।

२—तन्वी चेतयते चेत्यं घनाचित्तांगचेतसि। अल्पक्षीबः क्षीभयेति घनक्षीबो हि शाम्यति ॥
—योगवासिष्ठ : उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग ६६, श्लोक २३।

३—'Tired of being on the heights, I deliberately went to the depth in the search for new sensation'—*Oscar Wilde : De Profoundis, P. 22.*

४—माघ : ४-१७।

५—योगवासिष्ठ : निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्द्ध, ४४-२।

—जिस प्रकार से पहले क्षण किसी वस्तु की प्राप्ति से तृप्ति होती है, उस प्रकार की तृप्ति प्राप्ति के दूसरे क्षण में नहीं मिलती है। ऐसा किसने नहीं अनुभव किया है? वास्तव में अभिरुचि किसी वस्तु की नवीनता है। नवीनता रमणीयता का द्योतक है। निम्नांकित श्लोक सभी मार्मिक पाठकों को स्मरण है—

क्षणे क्षणे यन्नवतां विधत्ते तदेव रूपं रमणीयतायाः ॥

—रमणीयता का वही रूप है जो क्षण-क्षण में नवीनता को प्राप्त होता है, अर्थात् जो क्षण-क्षण नवीन रूप धारण करता है। संवेग के कारण हमारी क्रियाएँ प्रतिक्षण परिवर्त्तित होती रहती हैं। एक ही विषय से उत्पन्न संवेग में परिवर्त्तन हो सकता है, क्योंकि एक ही स्थिति से रमणीयता का ह्रास होता है। एक विषय के प्रति दो भाव एवं संवेग हो सकते हैं। विष्णुपुराण में आया है—'जब एक ही वस्तु से दुःख, सुख, ईर्ष्या, कोप आदि उत्पन्न होते हैं, तब वह वस्तु दुःख देनेवाली कैसे कही जा सकती है? वही एक समय प्रीति उत्पन्न करती है, फिर दुःख, कोप और प्रसन्नता उत्पन्न करती है।'[१] जब प्रारम्भ में शिशु फल देखता है, तब वह उससे खेलना चाहता है। एक बार खा लेने के उपरान्त पुनः खाने की तृष्णा जगती है। सर्वप्रथम औत्सुक्य और तब तृष्णा का जागरण होता है। संवेगात्मक स्थिति में काल का बोध भी अन्य प्रकार का होता है। कहा गया है—

कान्ताविरहिणां एकं वासरं वत्सरायते।

अर्थात् प्रिया से बिछुड़े व्यक्तियों को एक दिन वर्ष-सा लगता है।

उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि संवेग निरन्तर परिवर्त्तनशील है। उसकी उद्भूति बाह्य संसार से उत्पन्न अभिज्ञता अथवा स्मृति से हो सकती है। इसीलिए, संवेग प्रकट होकर बहिर्गत होने की चेष्टा करता है। उसके साथ-साथ कुछ-न-कुछ भावना लगी रहती है। यदि उसके प्रकट होने के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा पड़ती है, तो वह अपने रूप को अथवा अपने अभिव्यंजन के उपकरणों में परिवर्त्तन ला देता है। अब हम नीचे बाहरी और भीतरी अवरोधों से उद्भूत संवेग-परिवर्त्तन के विविध स्वरूपों पर प्रकाश डालेंगे। अवरोधों से संवेग अपना रूप क्यों परिवर्त्तित करते हैं?

जिनके कारण संवेग के अभिव्यजन में कठिनाई होती है, उन्हें अवरोध कहते हैं। अवरोधों के कारण संवेग का पूर्ण अभिव्यंजन नहीं हो पाता, और चित्त अव्यवस्थित हो उठता है, तथा चिन्ताकुलता उत्पन्न हो जाती है। जबतक चित्त की चिन्ताकुलता अथवा क्षोभ नहीं निकल पाता, तबतक व्यक्ति के अन्दर घोर युद्ध चलता रहता है। इसी से प्रायः नैतिक विषयों में आन्तर युद्ध चला करते हैं। मान लीजिए, एक युवक किसी युवती के प्रेम में आसक्त है। अभाग्यवश उस युवती का विवाह दूसरे युवक से हो

१—"वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्योद्भवाय च।
कोपाय च यतस्तमाद्वस्तु दुःखात्मकं कुतः॥
तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते।
तदेव कोपाय च ततः प्रसादाय च जायते॥"

—विष्णुपुराण : अंश २, अध्याय ६; श्लोक ४५–४६।

जाता है। इससे प्रेमी युवक के मन में गहरी चोट लगती है। सामाजिक नियमों एवं नैतिक आदर्शों के अनुसार यह उचित है कि प्रेमी अब उस स्त्री पर काम-दृष्टि न फेरे। किन्तु, ऐसा हो नहीं पाता और वह व्यक्ति अपनी प्रबल कामेच्छा के कारण अपनी प्रेमिका के पीछे मन दौड़ाता रहता है और इस प्रकार अशान्ति-नद में डूबता-उतराता रहता है। वास्तव में, प्रत्येक व्यक्ति में इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं, जो सदा उसे इन्द्रियगत लोलता की ओर खींचती रहती हैं। यदि व्यक्ति के आदर्श अच्छे हैं, यदि उसे उन आदर्शों पर पर्याप्त विश्वास है, तो वह सदा उन प्रवृत्तियों से लड़ता है। व्यक्ति की इच्छाओं और आदर्शों में लड़ाई प्रसिद्ध है। प्लेटो (अफलातून) का कथन है—

"हमें यह मानना कारणयुक्त प्रतीत होता है कि व्यक्ति के भीतर दो तत्त्व हैं, जो एक-दूसरे से विशिष्ट हैं। उनमें एक तर्कपूर्ण प्रवृत्ति है और दूसरी विचार-रहित है, जो अपने को काम, अशना, पिपासा और अन्य इच्छाओं के रूप में प्रकट करती है।"[१] 'इच्छैव एता भूतजातयः" प्राणिसमूह इच्छामात्र हैं। इच्छाओं के कारण चित्त-शान्ति का नाश होता है। इच्छाएँ तृप्ति चाहती हैं। तृप्ति बाह्य उपकरणों पर निर्भर रहती है। (१) यदि इच्छा की तृप्ति के लिए बाह्य परिस्थिति प्रतिकूल है तो वह चित्त में रह जाती है और क्षोभ उत्पन्न करती है। यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे की वस्तु ले लेना चाहता है, किन्तु बाह्य व्यक्तियों तथा समाज के दण्ड के भय से वह वैसा नहीं कर पाता, तो उसकी इच्छा क्रिया-रूप में परिणत न होने के कारण एक वेग के रूप में मन में रह जाती है और फलतः उस व्यक्ति के चित्त का साम्य बिगड़ जाता है। (२) ऐसी स्थिति व्यक्ति के आदर्शों के विरुद्ध पड़ जाने पर भी उत्पन्न हो जाया करती है। इन दोनों स्थितियों के कारण चित्त में युद्ध छिड़ जाता है। चित्त के सामने सदा के लिए कोई भी समस्या विषमरूप धारण करके नहीं रह सकती है; क्योंकि अन्तःकरण स्वभावतः क्षोभ को निकाल बाहर करना चाहता है। यदि अन्तःकरण का ऐसा स्वभाव नहीं होता तो संसार में, जो असंख्य बाधाएँ उपस्थित होकर क्षोभ उत्पन्न करती हैं, उनसे व्याकुल होकर व्यक्ति मर जाता। अपने विचित्र स्वभाव के कारण चित्त-यन्त्र साम्य स्थापना करने का अनवरत प्रयत्न करता रहता है। संसार में तो विषमता रहेगी ही, किन्तु व्यक्ति उसे दूर करने की चेष्टा करता ही रहता है। प्रतीत होता है, मानो व्यक्ति ने संसार के स्वभाव के विरुद्ध क्रान्ति करने के लिए ही जन्म लिया है। व्यक्ति को प्रवाह के विरुद्ध तैरना पड़ता ही है। अस्तु, व्यक्ति का अन्तःकरण अपने साम्य की स्थापना के लिए उपाय खोजता है। सबसे सुलभ उपाय है विरोधी प्रवृत्तियों को अलग करना। यदि दो बच्चे घर में लड़ते

"१—Then we shall have reasonable grounds for assuring that there are two principles, distinct one from the other and for giving to that part of the soul with which it reasons the title of the rational principle and to that part with which it loves and hungers and thirsts and experiences the flutter of the other desires, the title of irrational principle."

—*Plato : The Republic, Book IV.*

रहते हैं तो पिता, जहाँ तक सम्भव है, उनके सभी सम्बन्धों को तोड़कर दोनों को अलग करने का प्रयत्न करता है। वह प्रयत्न करता है कि दोनों घर में रहें तो अवश्य, किन्तु उनमें किसी भी बात के लिए एक-दूसरे से सम्बन्ध न रहे। इसी प्रकार से चित्त-यन्त्र भी प्रयत्नशील रहता है। यदि दो भावनाएँ मन में युद्ध ठान लेती हैं, तो चित्त उन दोनों को एक-दूसरे से स्वतन्त्र करने की प्रयत्न करता है। व्यक्ति उन दोनों भावनाओं की अभिज्ञता रखता है, किन्तु वे दोनों काल-भेद से क्रियाशील होती रहती हैं। वे दोनों एक साथ ही क्रियोन्मुख नहीं होने पातीं। ऐसी है गति चित्त-यन्त्र की। कोई व्यापारी एक वस्तु के न्यायसंगत मूल्य से तिगुना अधिक ले लेता है, और अपने इस कार्य को वह आदर्श के विरुद्ध नहीं समझता, किन्तु वही व्यापारी दूसरे समय किसी अन्य व्यक्ति द्वारा प्रचालित एवं प्रतिपादित अन्याय का घोर विरोध कर सकता है। 'राजनीति में झूठ क्षम्य है', और 'स्वाधीनता के लिए की गई क्रान्ति, हत्या आदि पाप नहीं है'—इस प्रकार की धाराएँ दो भावनाओं के पृथकत्व से ही सम्भव हैं। अति प्रसिद्ध कथन 'परोपदेशे पाण्डित्यम्' का अर्थ यही है। व्यक्ति अन्य व्यक्तियों को तो उपदेश देता है कि 'ऐसा करो, वैसा न करो', किन्तु वह स्वयं वैसा नहीं करता है। किन्तु, यदि इस रीति से व्यक्ति अपनी बात को स्वयं नहीं मानता, तो उसे चित्त-क्षोभ नहीं होता। स्पष्ट है, चित्त की ज्ञातभूमि के भी पृथक्-पृथक् विभाग हैं, जिनमें उपदेश करनेवाली भूमि एक है और क्रिया करनेवाली दूसरी है। किन्तु, एक विचित्र बात यह है कि ऐसी परिस्थिति में भी दोनों भावनाएँ आपस में मिलती रहती हैं, और उन्हें पूर्णतया अलग करना असम्भव है। एक संवेग की दूसरे संवेग से मुठभेड़ होती ही रहती है, अतः व्यक्ति उनको रूपान्तरित करने की चेष्टा में लगा रहता है, और उन दोनों प्रवृत्तियों को तर्कयुत सिद्ध करने का बीड़ा उठाता है। पूर्णतया अहिंसा असम्भव है, किन्तु जब हम उसे आदर्श समझ लेते हैं तो अल्पहिंसा को भी अहिंसा मानने लगते हैं। महाव्रत और व्रत का भेद इसी प्रकार से किया गया है—

> **ते तु जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।**
> **तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना मत्स्यबन्धकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा;**
> **सैव देशावच्छिन्ना, न तीर्थे हनिष्यामीति; सैव कालावच्छिन्ना,**
> **न चतुर्दश्यां न पुण्ये अहनि हनिष्यामीति················।**[१]

—जाति, देश, काल, समय आदि से अनवच्छिन्न 'अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यपरिग्रहाः' महाव्रत कहे जाते हैं। और, वे ही व्रत देश-काल-समयावच्छिन्न, यथा 'मत्स्यबन्धक मत्स्यों को ही मारता है, शेष प्राणियों की हिंसा नहीं करेगा'—इस प्रकार के रूप धारण करने पर व्रत की संज्ञा पाते हैं। मत्स्यबन्धक का मछली मारना पाप नहीं कहा जाता है, प्रत्युत् उसे धर्म की संज्ञा मिली है। प्रसिद्ध ज्ञानियों में धर्मव्याध भी एक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्माधर्म के युद्ध का निर्णय चित्त में हो जाता है। हम व्यापार में झूठ बोल सकते हैं, धोखा देकर चारगुना मूल्य ले सकते हैं, किन्तु ऐसा कर्म दोष नहीं माना जाता। प्राण-हानि, द्रव्य-हानि, मान-हानि, विवाह आदि के विषय में हम

१—योग : साधनपाद, ३१

असत्याचरण कर सकते हैं। इन उक्तियों का रहस्य क्या है? वास्तव में, ये उक्तियाँ दो विरोधी भावनाओं को समन्वित करने के प्रयत्नों के प्रतिफल-मात्र हैं। इनमें तर्क का विशेष बल है। हम तर्क से सिद्ध करते हैं कि 'व्यापार में झूठ बोलना अनिवार्य है; क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्यत्र तो हम झूठ से बचते ही हैं, अतः व्यापार में झूठ बोलना धर्म ही है, अधर्म नहीं।' इस प्रकार के तर्कों द्वारा निर्णय कर देने पर भी, अर्थात् 'दिल में छुरी हाथ में तसबीह' लेने पर भी सभी व्यक्तियों में भावना-समर की समाप्ति सदा के लिए नहीं हो पाती। ऐसा क्यों है? इसके दो कारण हैं—

(१) वास्तव में, व्यक्ति विरोधी प्रवृत्तियों को अलग करने में पूर्णतया समर्थ नहीं हो पाता है। ऐसा हो सकता है कि कोई व्यक्ति अपने कर्त्तव्य पर दृष्टि रखकर अपनी इच्छाओं की चिन्ता में बहने के लिए समय-विभाग कर ले। कोई व्यक्ति दिन-भर राजकार्यों में व्यग्र रहकर रात-भर प्रिया के वियोग में रो-रोकर आँसुओं की झड़ी लगा सकता है। किन्तु, ऐसी स्थिति सार्वभौम नहीं है। सभी व्यक्तियों का ऐसा भाग्य नहीं है कि वे इस प्रकार समय-विभाजन में समर्थ हो सकें। चाहे कितना भी प्रयत्न किया जाय, विरोधी प्रवृत्तियाँ पूर्णतया पृथक्-पृथक् नहीं की जा सकतीं। विरोधी प्रवृत्तियों का वेग अधिक रहता है, जो अपना प्रभाव दिखाता रहता है। व्यक्ति में इसी से दौर्मनस्य हो जाता है और वह शान्ति से कोई भी कार्य नहीं कर सकता। दौर्मनस्य के विषय में निम्नस्थ उक्ति है—

दौर्मनस्यम् इच्छाभिघाताच्चेतसः क्षोभः।[१]

इच्छाभिघात से चित्त का जो क्षोभ होता है, वही दौर्मनस्य है। व्यक्ति उस क्षोभ से बचना चाहता है, किन्तु दोनों विरोधी भावनाओं के विभेदीकरण में असफलता के कारण इच्छाभिघात का ज्ञान हो ही जाता है और उसमें क्षोभ उत्पन्न करता है।

(२) असफलता का दूसरा कारण यह है कि व्यक्ति बहुत ही कोमल और सूक्ष्मातिसूक्ष्म संवेदनाओं एवं आवेगों को पहचाननेवाला होता है। उसमें विमर्शना एवं आलोचना की शक्ति बहुत ही तीव्र रहती है, जिसके द्वारा चित्त में रहनेवाली विरोधी भावनाओं की और उनके कारण होनेवाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्षोभ का ज्ञान होता रहता है। इसी से व्यक्ति का अन्तःकरण दूसरे उपायों की खोज में तत्पर होता है। सर्वप्रथम वह परस्पर-विरोधी इच्छाओं को अन्य भावनाओं से अलग कर देता है। किन्तु, इसी से चित्त शान्ति नहीं पाता; क्योंकि उन विरोधी भावनाओं का वेग स्वच्छन्द होकर अपने रङ्ग से अन्य ज्ञात संवेगों को रंजित करता है। अतः व्यक्ति उस संवेग को और उससे सम्बद्ध भावना को अपने ज्ञान के परोक्ष अथवा अज्ञात में ले जाने का प्रयत्न करता है। इसी को 'निरोध' अथवा 'अवदमन' कहा जाता है। 'निरोध' से ज्ञात भावनाएँ तिरोभूत होती हैं। इस क्रिया के सर्वथा विपरीत व्यक्ति को विरोधी भावनाएँ अपनानी हैं। इन दोनों की बीच में एक मार्ग और है, जिसे 'विचार' कहा जाता है।

'विचार' में व्यक्ति विरोधी भावनाओं को व्युत्थान-रूप में ही रखने की चेष्टा करता है और भला-बुरा समझाकर एक को हेय समझने लगता है। जब इस प्रकार

१—योगभाष्य

का विचार बढ़ता है, तब उन हेय प्रवृत्तियों की शक्ति घट जाती है। क्षोभ से बचने तथा शान्ति-स्थापन करने का यह सर्वोत्तम उपाय है। किन्तु, इसमें अधिक क्लेश होता है; क्योंकि प्रतिक्षण युद्ध ही युद्ध करना पड़ता है। कभी प्रमाद हुआ तो व्यक्ति हेय प्रवृत्ति के प्रवाह में बह जायगा। विचार के लिए बहुत अधिक ज्ञान और सहन-शक्ति की आवश्यकता है। व्यक्ति प्रायः इसके लिए तैयार नहीं रहता है। वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति से सदा के लिए एक भावना अथवा एक संवेग निरोध करने का प्रयत्न करता है। निरोध सर्वत्र विद्यमान रहता है। व्यक्ति का जीवन ही निरोधों से भरा है। समाज निरोध करता है, प्रभुत्व निरोध करता है, वृद्ध निरोध करते हैं, पिता-माता निरोध करते हैं और समय तथा आचारों का क्या कहना, वे तो निरोध को शाश्वत रूप देने के लिए मानो कोई यन्त्र-रचना हों। धर्म भी इस विषय में अपवाद नहीं है, वह भी घोर निरोध उत्पन्न करता है। राज-दण्ड, कुल-दण्ड, गुरु-दण्ड, दैव-दण्ड आदि के भय से व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ एवं संवेग अवदमित (निरुद्ध) होते हैं, और व्यक्ति इच्छा के विना भी दूसरी क्रियाएँ करने लगता है। कहा भी है—

विधिभिः प्रतिषेधैश्च शाश्वतैरप्यशाश्वतैः।
यथेष्टं नीयते लोको जलं निम्नोन्नतैरिव॥[1]

—अशाश्वत और शाश्वत विधियों (आज्ञाएँ—'ऐसा करो') और निषेधों (मनाही—'ऐसा मत करो') से जैसा चाहे वैसा संसार चलाया जाता है। यह वैसा ही है जैसा कि ढाल की ओर बढ़नेवाला जल। सभ्यता निरोध चाहती है। यह सबकी अनुभूति होगी कि कुछ शब्दों को अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में भी कहा जा सकता है। व्यक्ति अपने अर्थ को कुछ विशिष्ट शब्दों में नहीं कह सकता है, किन्तु उन्हीं के पर्यायों से, जो सबकी समझ में नहीं आते, अर्थात् जिन्हें कुछ चुने हुए व्यक्ति ही समझ सकते हैं, वह कह सकता है। अश्लील भाषा वही है, जो सबकी समझ में आती हो। उसी को सुन्दर, कठिन और शास्त्रीय भाषा में कहने से अश्लीलता अश्लीलता नहीं रहती।

हमारे मन में जितनी बातें उठती हैं, हम जितने स्वप्नों एवं दिवास्वप्नों को देखते हैं, सभी को प्रकट नहीं कर सकते। लगता है, कोई उनको प्रकट होने से रोकता है। यदि हम उन्हें कहते भी हैं, तो अनेक बातें घुमा-फिराकर कहते हैं, हम कुछ को छिपाते हैं। उन्हें प्रकट कराने के लिए यदि किसी ने प्रयत्न किया तो हम प्रायः यह कहते हैं—'मेरी निजी बात है', 'उपेक्षणीय है', 'ऊटपटांग बे-सिर-पैर की बात है'। इन प्रयत्नों से यही झलकता है, मानो हम उन्हें कहना नहीं चाहते। इन सभी बातों में निरोध का एकमात्र कारण है सामाजिक भय, अथवा है व्यक्ति के अहंकार पर चोट लगने की सम्भावना। निरोध से इच्छाएँ दब जाती हैं और निरुद्ध होकर अपने समान संवेगों से मिलकर व्यूह (ग्रन्थि) बनाती रहती हैं। साधारण भावव्यूह में और इस व्यूह में एक प्रकार का भेद है। साधारण व्यूह का अर्थ यह है कि कुछ बातें सम्बद्ध-रूप से चित्त में रहती हैं और समय पाकर अपने स्वरूप से ही ज्ञात होती हैं।

१—योगवासिष्ठ : निर्वाण-उत्तरार्द्ध, १३-६६

किन्तु निरुद्ध व्यूहों की बात इस प्रकार की नहीं है। वे प्रत्यक्ष रूप से ज्ञात नहीं हो सकती हैं। प्रतीत होता है कि उसे प्रत्यक्ष होने से अहंकार रोकता है। कुछ लोगों का मत है कि समाज की व्यवस्था की रक्षा करने के लिए निरोध कुछ सीमा तक आवश्यक है। इस प्रकार के मत से समाज की बनावट ही इस प्रकार की है कि उसमें अथवा उसके परिचालन में सभी लोगों को अपनी कुछ इच्छाएँ, कामनाएँ अथवा अपना कुछ स्वार्थ छोड़ देना पड़ता है। वह तो अपना स्वार्थ छोड़ दे और दूसरे उसे स्वच्छन्द भोगें, ऐसा कोई नहीं चाहता। सभी व्यक्तियों को अपने स्वार्थ का त्याग करना पड़ता ही है; क्योंकि इसी प्रकार समाज की रक्षा हो सकती है। अतएव, किसी गुट या समाज के निर्माण के पूर्व ही अपराधी को कौन-सा दण्ड देना चाहिए, इसका निर्णय हो जाता है। व्यक्ति के भीतर भी इसी प्रकार के दण्ड का भय है। वहाँ समाज का तो विचार नहीं है, किन्तु पाप और पुण्य की दृष्टि अवश्य है। यदि कोई कामना उठी और वह हमारे निर्णीत आदर्शों के विरुद्ध-सी लगी, तो वह पाप मालूम होने लगती है। यदि हमने उसे पूरा किया, तो भीतर का अन्तर्यमन देव अथवा अन्तर्वाणी हमें दण्डित करेगी। अतः हमें भय लगता है, और जहाँ तक हो सके हमारा यही प्रयत्न होता है कि कामना अथवा इच्छा का निरोध हो।

ऊपर के विवेचन से यह प्रकट होता है कि आज की सभ्यता में निरोध का अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। आज बल ही धर्म है। बली की रक्षा होती है और अबल मारा जाता है। आज मुट्ठी-भर लोगों के आराम के लिए असंख्य व्यक्ति श्रम करते हुए भी भूखों मरते हैं। निस्सन्देह यह उद्घोषित किया जा सकता है कि समाज के सभी समय अथवा रूढ़ियाँ, शिष्टों की सभी बातें, राज्य के सभी नियम आदि इस प्रच्छन्न महाद्रोह के भागी हैं। धर्म दलितों को उठने नहीं देता। 'गरीब धन्य हैं ; क्योंकि उनको स्वर्ग में धन मिलेगा', आदि वाक्य अप्रत्यक्ष रूप से धनिकों की सहायता करते हैं और व्यक्ति की मानसिक दासता के कारण बन जाते हैं। इस प्रकार अगणित व्यक्ति दुःख और यातना सह-सहकर अपनी इच्छाएँ दबाते हैं। धनिक भी अपने बड़प्पन की रक्षा के लिए जो-जो नियम बनाते हैं, उनके द्वारा वे अत्यन्त कोमल और उपभोग-परायण होकर व्यक्त अश्लीलता आदि से डरते हैं; आत्मा को छोड़कर हड्डी को पकड़ते हैं। उपकरणों की भरमार तथा उपभोग के आधिक्य के कारण तृष्णा असीम हो जाती है और फलतः उन्हें भी कामनाओं का, जो उनकी बलहीन नाड़ियों के कारण और बड़प्पन के खयाल से तृप्त नहीं हो सकती हैं, निरोध करना पड़ता है। बच्चों को भी अपनी कामनाओं और अपने औत्सुक्य का निरोध करना पड़ता है। बच्चा यह नहीं पूछ सकता है कि 'भगवान् कौन है ?', 'मैं कैसे पैदा हुआ ?', 'पत्थर भगवान् कैसे हो सकता है ?' इत्यादि। जन्म से लेकर निरोध-ही-निरोध तो दीख पड़ता है, यथा—चींटी मत मारो, झूठ मत कहो, अमुक बातें गन्दी हैं, उन्हें न कहो, उनके साथ नहीं मिलो, प्याज न खाओ, मांस न खाओ, अछूत को मत छूओ, इत्यादि। इस प्रकार से व्यक्ति में बाल्यकाल से ही इच्छाओं के निरोध का अभ्यास अथवा आदत-सी पड़ जाती है। हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उपर्युक्त

सभी क्रियाएँ अच्छी हैं। हम केवल इतना ही दिखाना चाहते हैं कि व्यक्ति के जीवन में निरोध की उद्भूति किस प्रकार से होती रहती है। निरोध के साथ-साथ निरुद्ध इच्छाओं अथवा अवदमित अभिकांक्षाओं का अप्रत्यक्ष प्रकाश भी दिखाई पड़ता है।

निरोध दो प्रकार से अभिव्यञ्जित होता है—(१) मन में उठती हुई कामना का निरोध और (२) उठती हुई अवदमित कामना का निरोध। प्रथम प्रकार में अभिव्यक्त हो जाने के उपरान्त कामना का निरोध होता है और दूसरा निरोध है—कामना को अभिव्यक्त ही नहीं होने देना। दूसरे प्रकार के निरोध को प्रतिरोध[१] कह सकते हैं। प्रतिरोध के कारण ही निरुद्ध संस्कार उठने नहीं पाते हैं।

प्रतिरोध के अच्छे उदाहरण हैं—वातव्याधि-पीडित व्यक्ति। यदि ऐसे व्यक्तियों की व्याधि का निवारण करने का प्रयत्न किया जाय, तो वे उस प्रयत्न का प्रतिरोध करते हैं। इस प्रतिरोध की अभिव्यक्ति विशेषकर एक विशिष्ट अवस्था में प्रकट होती है। 'चित्त-विश्लेषण' के अन्तिम दिनों में रोग में एक विशेष परिवर्त्तन होता है। रोगी अपनी व्याधि की बातें कहना छोड़ देता है, और वैद्य (चित्त-विश्लेषक) से विचित्र व्यवहार करने लगता है। यह व्यवहार भी एक प्रकार की वातव्याधि ही है। यह व्यवहार चिकित्सा का एक भीषण प्रतिरोध है।[२] इस व्यवहार की आड़ में व्यक्ति निरोध की रक्षा करना चाहता है। प्रतिरोध के मूल में निरोध के कारण ही पाये जाते हैं, अर्थात् जिस कारण से निरोध होता है, वही प्रतिरोध में भी पाया जाता है। प्रतिरोध और निरोध, दोनों से भिन्न-भिन्न बातें विदित होती हैं। निरोध और प्रतिरोध से व्यक्ति के अहंकार में कुछ परिवर्त्तन और निरुद्ध बातों में कुछ भेद हो जाता है, जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को होता है। हम जब किसी बात को नहीं चाहते, तभी उसे दबाने की चेष्टा करते हैं। साधारणतः इससे विस्मृति होती है। बार-बार एक विचार व्यक्ति के मन में उठता रहता है और वह बार-बार उसे भूल जाने की चेष्टा करता है। स्पष्ट है, उस भावना की स्मृति को वह सह नहीं सकता। उस भावना की स्मृति का अर्थ है, यातना और दुःख, जिससे वह बचना चाहता है। इसी से वह व्यक्ति उसे दबाने तथा भूलने की चेष्टा करता है। उस विशेष भावना अथवा बात को छोड़कर और किसी भी भावना अथवा बात को वह विना भावोद्वेग के प्रकट कर सकता है। किन्तु, यदि कोई उसी भावना के विषय में बातें छेड़ देता है, तो उस व्यक्ति की विचित्र स्थिति होती है। यदि वह बात पूर्णतया निरुद्ध नहीं हुई है, तो व्यक्ति उस बात को टाल देना चाहता है, और दूसरी बात छेड़ देता है। किन्तु, चित्त-विश्लेषक अथवा प्रेक्षक जान सकता है कि व्यक्ति के भीतर कैसा युद्ध चल रहा है। ऐसी स्थिति में रोगी की बात को छेड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमें अपने दुःख की कथा गानी चाहिए एवं अपनी दारुण यातनाओं का प्रकथन करना

१—Resistance.

२—चित्त-विश्लेषण की प्रक्रिया में प्रत्येक मानसिक रोगी के रोग में एक ऐसी दशा अवश्य प्रकट होती है, जिसे अपदेशन (Transference), संक्रमण अथवा परहस्त-समर्पण कहा जाता है। इस अवस्था में रोगी अपनी एक अतीत अवस्था की पुनरावृत्ति करता है।

चाहिए। इस प्रकार से हमारे भावोद्वेग, हमारे गद्गद कण्ठ, कातर नेत्र आदि सभी उस व्यक्ति के निरोधों को कुछ मात्रा में जगा देंगे। रोगी का मुँह कुम्हला-सा जाता है, उसके नेत्रों में आँसू भरने लगते हैं और उसकी दृष्टि जड हो जाती है। स्पष्ट है, हमने उसके मन की बात छेड़ दी। जिस बात को रोगी भूलना चाहता था, हमने उसी की याद उसे दिला दी। मानसिक रोगी अपनी बातों से छिपने के लिए तथा अपनी दुःखद स्मृतियों को भूल-से जाने के लिए अनेक प्रकार की क्रियाएँ प्रकट करता है—

(१) वह अपने को दिन-भर किसी-न-किसी कार्य में मस्त रखता है, जिससे उस बात की स्मृति ही न आवे। हमें कई ऐसे बच्चे दिखाई पड़ सकते हैं, जो दिन-भर और रात को भी देर तक पढ़ने में अथवा कोई कार्य हाथ में लेने में उत्सुकता दिखाते हैं। ऐसे बच्चों में प्रायः कुछेक इस प्रकार के होते हैं, जो अपने बुरे आचरणों को तथा दुःखद स्मृतियों को भूलना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति, जो कार्य के न रहने पर सदा गृह-छिद्रों के विषय में सोचते-सोचते कृशीभूत होते रहते हैं, वे ही किसी राष्ट्रीय आन्दोलन में बड़ी प्रसन्नता के साथ काम करते हैं। यह भी निरोध करने का एक मार्ग है।

(२) प्रायः जिनके मन में भयंकर दुःख रहता है, वे हँसी-मजाक द्वारा अपने दुःख को भूलने की चेष्टा करते हैं। दुःखी व्यक्ति हास-परिहास के तल में अपने आवेग को प्रकट होने से बचाये रखते हैं।

(३) जिन बातों को हम भूलना चाहते हैं या जिनका हम निरोध करना चाहते हैं, अथवा जिनका निरोध करने में हम सफल हो जाते हैं, उन बातों को दूसरों में देखना हम प्रायः सहन नहीं करते। इस प्रकार दुस्सह बातों की सर्वथा विपरीत बातों पर हम बहुत जोर देने लगते हैं। कुछ व्यक्ति निन्द्य सम्बन्ध रखते हैं। पर-स्त्री पर मोहित होते हैं, किन्तु समाज के कारण उन्हें सफलता नहीं मिलती, इतना ही नहीं, उनके आदर्श भी उस प्रकार के सम्बन्ध के विरुद्ध हैं। ऐसी स्थिति में ऐसे व्यक्ति इस प्रकार की स्मृति को भूल जाना चाहते हैं। वे निरोध करने में सफल तो होते हैं, किन्तु साथ-साथ उनपर एकपत्नीव्रत की धुन सवार हो जाती है। ऐसे व्यक्तियों में नीति की रट लग जाती है। वे अत्यंत कामुक एवं अत्यंत विरागी प्रकट होने लगते हैं। ऐसे ही व्यक्ति ब्रह्मचर्य की महिमा को सर्वोत्तम मानने लगते हैं। कुछ व्यक्ति बचपन में चोरी करते हैं, किन्तु बड़े होने के बाद वे ठीक इसके विपरीत स्वभाववाले होते हैं और अपरिग्रह पर अपनी सारी शक्ति के साथ जोर देते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति एक कौड़ी को चुकाने के लिए मासों तक ऋणदाता को खोजते-फिरते हैं और उसके न मिलने पर अत्यन्त दुःखित होते हैं तथा अपने को पापी समझते हैं। जो लोभी है, अन्न छोड़ नहीं सकता, वह कहता है—'तपो नानशनात् परम्', अर्थात् अनशन से बढ़कर कोई तप नहीं। समाज में सभी ने अनुभव किया होगा कि विधवाएँ व्यभिचार की जितनी निन्दा करती हैं, अथवा उसके प्रति जितनी जुगुप्सा दिखाती हैं, उतनी निन्दा

और जुगुप्सा सधवाएँ नहीं दिखातीं। विरोध अथवा समर्थन की अतिमात्रा से हम समझ सकते हैं कि व्यक्ति के भीतर अन्तर्निगूढ निरोध और संघर्ष घोर रूप से विद्यमान हैं।

निरोध के कारण व्यक्ति का व्यवहार अथवा उसका अहंकार कैसा रूप धारण करता है, हमने देख लिया। अब हम निरुद्ध संस्कार की स्थिति के विषय में प्रकाश डालेंगे। प्रश्न होता है—क्या निरोध के फलस्वरूप संस्कार-शक्ति मर जाती है? यदि नहीं, तो निरोध के उपरान्त संस्कार-भूमि की क्या दशा होती है? वास्तव में, निरोध के कारण भावावेग मरता नहीं। शक्ति कभी मर नहीं सकती, और वह शक्ति है भावावेग अथवा संवेग। संवेग मूल-प्रवृत्ति से संलग्न है, अतः उसका नाश हो जाने की बात ही नहीं उठ सकती, वह किसी-न-किसी प्रकार अपने को व्यक्त करता ही है। अतः जो शक्ति निरुद्ध होती है, वह प्राकृतिक है। हम सहज कर्मों का प्रतिरोध और निरोध करते हैं। निरोध के विषय प्रायः मिथुन-भावनाएँ हैं। साधारण जीवन में अनिवार्य संवेगों और भावनाओं का भी निरोध होता है। ऐसे संवेग जो जीवन के लिए परम उपयोगी होते हैं, उनका भी निरोध करने के लिए लोग प्रयत्नशील हो जाते हैं। कई लोग मिथुन-कर्म को अप्राकृतिक और अनैतिक समझते हैं।[१] जब-जब उनमें मिथुन-भावनाएँ उठती हैं, वे अपने को निर्हेतुक ही दुर्विनीत और बुरा समझते हैं और अन्त में दुःख के भागी होते हैं। किन्तु, ऐसे लोग अपनी कामुकता के संवेग का निरोध पूर्णतया नहीं कर सकते; क्योंकि यह सम्भव नहीं है। बड़े-से-बड़े महात्मा भी किसी प्रमत्त क्षण में अपने भीतर मन्मथ की उद्दंडता का अनुभव करते ही हैं। वे अपने आहार अथवा वातावरण की निन्दा करते हैं, किन्तु, वास्तव में, वे इस बात को नहीं मानते हैं कि मिथुन-प्रवृत्ति सहज-प्रवृत्ति है, जो विना तृप्ति के शान्त नहीं होती। अतः उनको निर्हेतुक बाधा होती है। पराशर बूढ़े ऋषि थे, किन्तु ऐसे वृद्ध तपस्वी भी मत्स्यगंधा को देखकर अपनेको नहीं सँभाल सके और कामोत्तप्त हो उठे। स्पष्ट है, कितने वर्षों की कठिन तपश्चर्या भी सहज प्रकृति का निरोध पूर्णतया नहीं कर सकती। योगवासिष्ठ का कहना है—

> ताडशोऽपि बहुज्ञोऽपि जीवन्मुक्तोऽप्यसौ मुनिः।
> निरिच्छोऽपि निरागोऽपि न किंचिदुपमोप्यलम्।
> स बाह्याभ्यन्तरं नित्यमाकाशविशदोऽपि च।
> नारदोऽपि कथं ब्रह्मन् मदनस्खलितोऽभवत्॥
> सर्वस्या एव राजर्षे भूतजातेर्जगत्त्रये।
> देवादेरपि देहोऽयं द्वयात्मैव स्वभावतः।
> अज्ञमस्त्वथ तज्ज्ञं वा यावत्स्वान्तं शरीरकम्॥[२]

—हे ब्रह्मन्! वैसे ऋषि नारद, जो बहुज्ञ, जीवन्मुक्त, निरिच्छ (इच्छा-हीन), विरागी (कहे जाते) हैं, जो भीतर एवं बाहर से आकाश के समान निर्मल, नित्य और विशद हैं, वे किस प्रकार मदनस्खलित एवं काम-वश हो गये?

१—ऐसे लोगों में प्रसिद्ध रूसी साहित्यकार एवं महात्मा गान्धी के प्रेरक लीयो टॉल्स्टॉय भी थे। उनके ऐसे विचार 'क्रुट्ज़र सोनाता' नामक कहानी से व्यक्त हो जाते हैं।

२—योगवासिष्ठ : निर्वाण, पूर्वार्द्ध, ८५, १०५, १०८

ऐ राजर्षि ! तीनों लोकों में जितने भी प्राणी हैं (चाहे वे देवता हों या मनुष्य), स्वभाव से ही उन सबकी यह देह द्वयात्मक है। जब तक शरीर रहता है, तब तक शरीर-धर्म स्वभाव से ही अनिवार्य है। प्राकृतिक वासना का दमन अथवा निग्रह निरोध से नहीं होता है। गीता में आया है—'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति'। अर्थात् 'प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं (प्रकृति के अनुसार चलते हैं); निग्रह क्या करेगा ?' अतः सहज अथवा मूलप्रवृत्तियों का निरोध करने का प्रयत्न व्यर्थ है। उन्हें किसी भी प्रकार के अवदमन अथवा निरोध से नहीं जीता जा सकता है। प्रायः सभी ऋषियों का जीवन इसी बात की सत्यता का समर्थन करता है। ऋषियों की तपश्चर्या, रम्भा आदि अप्सराओं से तप में अन्तराय, अनुस्यूत शाप, तपोनाश आदि सभी बातें इसी का निरूपण करती हैं कि सहज-वासनाओं का नाश और पूर्णतया निरोध नहीं हो सकता है। लोग मूल-प्रवृत्तियों का निरोध करने का प्रयत्न करके वृथा-क्लेश के भागी बनते हैं। सहज-वासनाओं में प्रायः लोग मिथुन-वासनाओं को ही निरोध का लक्ष्य बनाते हैं, भूख, प्यास आदि को नहीं। समाज कुछ प्रवृत्तियों को भयावह समझता है, उन्हीं पर उसके कोप की बिजली टूट पड़ती है और उनपर निषेध की अथवा निन्दा की छाप लग जाती है। व्यक्ति इस प्रकार की सामाजिक आज्ञाओं एवं 'समयों' (रूढ़ियों) के सामने सिर झुकाता है। यदि भूख की पीड़ा भी इतनी तीव्र हो जाय कि उसकी तृप्ति के लिए व्यक्ति लूट-पाट करने लगे, तो समाज उसके लिए भी दण्ड देगा। बचपन से ही बच्चों में गरीबी की महत्ता भरी जाती है और धर्माचार्यों ने इस विषय में उद्घोष भी किया है, किन्तु प्राकृतिक वासना-वेग समाज को तीव्र क्षुधा की अग्नि में जला देता है।

सामाजिक आचारों द्वारा काम का निरोध प्रबल रूप से किया जाता है। भूख आदि वासनाएँ तो अनवरत तृप्त होती रहती हैं, किन्तु काम की तृप्ति में दूसरों की सम्मति अपेक्षित है। काम-वासना संसार के सभी प्रकार के नियमों, शिष्टाचारों, धर्मा-धर्म आदि के पचड़ों से घिरी हुई है। इसी कारण काम-प्रवृत्ति का निरोध बड़े यत्न से किया जाता है। समाज भी यह जानता है कि काम-प्रवृत्ति का निरोध पूर्णतया नहीं हो सकता। समाज कायिक क्रिया में वासना को परिणत नहीं होने देता है, वह प्रायः मानसिक विचार की ओर भी निषेध की उँगली नहीं उठाता। इसी से प्लेटो (अफलातून) कहते हैं—'वही अच्छे मनुष्य हैं, जो बुरे मनुष्य की करनी के विषय में सोचते हैं।'[१] भले मनुष्य सोचकर ही रह जाते हैं। अतः सारे क्षोभ का ग्रास वे ही बनते हैं। जो सामाजिक दृष्टि से जितनी ही उच्च श्रेणी का होता है, उसका उत्तरदायित्व भी उतना ही उच्च होता है और उसी पर उसका उतना सम्मान भी निर्भर करता है। जो सम्मान का इच्छुक होता है, उसे उत्तरदायित्व का वहन भी करना पड़ता है।

यदि सहज-वासनाओं को प्रकट नहीं होने दिया जाय, यदि उनको विषयों से हटा दिया, तो वे निरुद्ध तो हो जाती हैं, किन्तु उनका नाश नहीं होता है। गीता में आया है—'विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं……' अर्थात् निराहारी

१—"Good men are those who think what bad men do."

देही के विषय तो निकल जाते हैं, किन्तु रस रह जाता है। यदि अनुकूल परिस्थिति में विषय सामने पुनः आ जाय तो रस पुनः व्युत्थित हो जाता है। जीवन्मुक्त में रस भी नहीं रहता, ऐसा कहना ठीक नहीं है। उनमें संस्कार-मात्र रह जाते हैं। जीवन्मुक्त को संसार के ज्ञान के साथ-साथ ब्रह्म का भी ज्ञान रहता है। कहा भी है—

> न संसृतौ ब्रह्म भाति न ब्रह्मणि च संसृतिः।
> जीवन्मुक्तौ द्वयं भाति पर्यायेणेति वर्ण्यते॥

—अर्थात् संसार की दृष्टि के रहते हुए ब्रह्म का भान नहीं होता है और ब्रह्म के भासमान होते समय संसार का ज्ञान नहीं रहता है। जीवन्मुक्त में दोनों का भान क्रम से हुआ करता है।

अतः निरोध से शक्ति का और भावावेग, अर्थात् संवेग का नाश नहीं हो सकता; क्योंकि वह शक्ति जो है। निरुद्ध होने पर संवेग शान्त नहीं हो जाता। उसका गम्य स्थान बाह्य संसार है, अर्थात् उसकी प्रवृत्ति बहिर्मुख है। भावावेग उत्तेजना के कारण होता है। उत्तेजना बाह्य जगत् से प्राप्त होती है, यहाँ तक कि जो उत्तेजनाएँ अन्तरंग से सुख आदि रूप में होती हैं, उनका गम्य स्थान भी बाह्य संसार ही है; क्योंकि उसी के विषयों पर उनकी तृप्ति निर्भर है। अतः संवेग बहिर्मुख रहता है और ऐसी ही परिस्थिति में निरोध होने लगता है। व्यक्ति का अहंकार ही निरोध करता है। अहंकार प्रतिहारी है। वह उन्हीं संवेगों और भावनाओं को प्रकट होने देता है जो बाह्य संसार के अनुकूल रहती हैं। अतः अहंकार के प्रतिकूल कामनाओं आदि का निरोध होता है। किन्तु, संवेगयुत होने के कारण वे फिर-फिर व्युत्थित होने की चेष्टा करती रहती हैं। अवदमित कामनाएँ अथवा निरुद्ध संवेग यदि प्राप्तकाम या सफल होना चाहते हैं, तो उन्हें प्रतिहारी अर्थात् अहंकार की आँख बचाकर ही प्रकट होना पड़ेगा। इसीलिए, वे अन्य रूप ग्रहण करते हैं और विपर्यस्त रूप धारण कर निकल पड़ते हैं। विपर्यास निरुद्ध संवेग की शक्ति अथवा निरोध की मात्रा पर निर्भर करता है। विपर्यस्त रूप में संवेगों अथवा असफल कामनाओं को व्यक्ति पहचान नहीं सकता और न वह यही जान सकता कि वे किस सहज-प्रवृत्ति से उत्पन्न हुई हैं। ऐसा है उनका वेग। इस प्रकार से विपर्यस्त होने पर संवेगों में कुछ रूप-परिवर्त्तन होते हैं। हमने यह पहले ही संवेगों के विषय में चर्चा करते हुए देख लिया है कि निरोध के कारण कौन-कौन-से परिवर्त्तन होते हैं। अब हमें यहाँ यही देखना अपेक्षित है कि निरोध से व्यक्ति के आचार-विचार तथा क्रियाओं में क्या अन्तर होते हैं।

निरोध के कारण निरुद्ध भावावेग अपने को (१) स्वप्नों (२) दिवास्वप्नों (जागते-सपनों), (३) अनुदिन की त्रुटियों, (४) लाक्षणिक क्रियाओं आदि में परिणत कर लेता है। इन सब मानसिक एवं दैहिक प्रक्रियाओं में सबसे प्रमुख स्थान विस्मृति का है। यह विस्मृति दो प्रकार से प्रकट होती है, जिन्हें (१) अति विस्मृति[1] और (२) केवल विस्मृति की संज्ञा दी जाती है। इससे यही विदित होता है कि ज्ञाताज्ञात तथा अज्ञात

१—Amnesia

के और ज्ञाताज्ञात तथा ज्ञात के बीच में प्रतिहारी (अहंकार) है। हम अपने बचपन की घटनाओं का स्मरण नहीं कर सकते हैं। चाहे हम कितना भी प्रयत्न करें, बचपन की घटनाएँ स्मृति-क्षेत्र में उतर नहीं पातीं; क्योंकि वे सभी अज्ञात का विषय बन चुकी होती हैं। इसी विस्मृति को हम अतिविस्मृति की संज्ञा देते हैं। किन्तु, दूसरे प्रकार की स्मृति प्रकट हो सकती है। किन्तु, कुछ प्रयत्न के उपरान्त ही इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विस्मृति का कारण निरोध है और निरोध करनेवाला प्रतिहारी ज्ञाताज्ञात और अज्ञात के बीच में अधिक तीव्र रूप से और ज्ञाताज्ञात तथा ज्ञात के बीच में कुछ कम तीव्रता से निरोध करता है। निरोध से विस्मृति किस प्रकार होती है, इसे स्पष्ट करने के लिए हम डा० फ्रायड के एक रोगी का उदाहरण लेते हैं। एक भद्र पुरुष अपनी अशिक्षिता स्त्री से प्रेम नहीं करता था। एक दिन उसकी स्त्री ने उसे भेंट-स्वरूप एक पुस्तक दी। पति ने वह भेंट कहीं रख दी और भूल गया। कालान्तर में बहुत प्रयत्न करने पर भी उसे वह पुस्तक न मिली। वास्तव में, इस विस्मृति के मूल में पति की पत्नी के प्रति अनासक्ति थी। कुछ लोग ऐसा कह सकते हैं कि पति को उस पुस्तक के विषय में ध्यान ही नहीं था। किन्तु, बात ऐसी नहीं है। वास्तव में बात यही थी कि पति को उस स्त्री पर जो अप्रियता अथवा अनासक्ति थी, उसी के कारण उस पुस्तक की बात निरुद्ध हो गई थी। किन्तु पति की मानसिक स्थिति कुछ काल के उपरान्त परिवर्त्तित हो गई। एक बार जब उसकी माता बहुत बीमार थी और उसकी स्त्री ने उसकी अच्छी सेवा की तो वह अति प्रसन्न हो उठा। घर आने पर उसने यों ही एक आलमारी खोली तो देखा कि वह पुस्तक वहीं पर है। कारण स्पष्ट है। अनिच्छा ने उसकी बात को निरुद्ध किया था और इच्छा ने अर्थात् प्रेम ने उसको व्युत्थित कर दिया।[१]

निरोध से हम जिन भावनाओं को दूर करना चाहते हैं, उनसे कदापि नहीं बच सकते। किसी-न-किसी रूप में वे अपना प्रभाव अवश्य दिखाते हैं। कभी कभी हम बहुत-से ऐसे कार्य कर बैठते हैं, जिन्हें हम अपनी अभिज्ञता में नहीं कर सकते। निरोध के कई दुष्परिणाम हैं। उससे चित्त की प्रसन्नता नष्ट होती है। जिन भावनाओं से हम लड़ना चाहते हैं उनसे पराजय मिल जाती है। बच्चों को हम जिस काम को करने के लिए मना करते हैं, वे उसे बलवती इच्छा से कर ही डालते हैं। एक कहानी है—एक डाक्टर ने किसी रोगी को दवा दी और कहा 'इसका सेवन करते समय बन्दर की स्मृति नहीं आने देना।' रोगी जब-जब दवा पीने का प्रयत्न करता, बन्दर की स्मृति आ ही जाती थी और वह दवा पी नहीं सका। डाक्टर ने रोगी से पूछा—'क्या दवा का सेवन किया?' रोगी ने उत्तर दिया—'यदि आप यह नहीं कहते कि बन्दर का स्मरण नहीं आने देना, तो ग्रहण कर लिया होता, किन्तु क्या करूँ, आपके कथन से बार-बार बन्दर की स्मृति आती रही और मैं दवा न पी सका।' निषेध अथवा मनाही से बात की महत्ता बढ़ जाती है। राष्ट्र अपनी सत्ता की रक्षा के लिए दमन करते हैं, किन्तु जैसे-जैसे दमन बढ़ता जाता है, विप्लव फैलता जाता है और क्रान्तिकारी दमन का एवं

१—*S. Freud : Psychopathology of Everyday Life; P. 145.*

निरोध का प्रसन्नता से स्वागत करते हैं। जिस बात की मनाही होती है, उसी को करने का औत्सुक्य होता है। 'परकीया' का रस रसोत्तम है।

व्यक्ति के चित्त में भी यही बात होती है। यदि कोई इच्छा 'ज्ञात-भूमि' में निरुद्ध हुई और फलतः निष्क्रिय हुई, तो 'अज्ञात' में वही सक्रिय होती है। यदि वह ज्ञात के लिए दुःखद है तो अज्ञात के लिए सुखद है, इसी से वह निरुद्ध होकर बल पाती रहती है और समय पाकर व्यक्ति के चित्त की शान्ति को भङ्ग करती रहती है। अतः शान्ति के लिए सबसे श्रेष्ठ उपाय है—किसी बात का निरोध न करना और भावनाओं को प्रकट करने का प्रयत्न करना। प्लेटो का भी कहना है कि क्रोध का निरोध करना गलत है; क्योंकि इससे वह अग्नि बन जाता है और मानसिक अशान्ति उत्पन्न करता है। विधवाएँ समाज के डर से अपनी काम-वासना का निरोध करती हैं, किन्तु उसका विपर्यस्त रूप अन्य मार्गों से प्रकट होता है। निरोध के कारण सधवाओं में अपने को अति अलंकृत करने की भावना बढ़ जाती है। निरोध के वश होकर ही लोग दूसरों के कदाचार एवं कुनीति की बातों में रस लेने लगते हैं। बहुत-से व्यक्ति विवाह नहीं करते, किन्तु मानसिक व्यभिचार आदि के वश में हो जाते हैं। अविवाहित स्त्रियाँ, विशेषतः ईसाई नारियाँ कुत्तों और बिल्लियों को अधिक प्रेम करने लगती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ लोग व्यर्थ ही दुःख भोगते हैं। आश्चर्य है, समाज का निर्माण व्यक्ति के श्रेय के लिए होता है, किन्तु वही अहेतुक दुःखों का कारण भी बनता है। व्यक्ति अपने सुख के मार्ग में स्वयं अवरोध बन खड़ा हो जाता है। इस समस्या को अच्छी प्रकार से सुलझाने के लिए एक ही उपाय श्रेयस्कर है, और वह है विचार। विचार से दमन की आवश्यकता नहीं पड़ती। संयम के लिए विचार उत्तम साधन है। उससे व्यक्ति की नैतिक दृष्टि पटु होती है। तर्क, विवेक एवं विचार के समय विरोधी समक्ष रहता है, जिससे चित्त में प्रशान्ति रहती है। विचार के द्वारा व्यक्ति भावनाओं से युद्ध करते समय अपने को तटस्थ रख लेता है और प्रेक्षक-मात्र रहता है। अतः अपनी शक्ति को विकसित करने के लिए विचार उत्तम मार्ग है। निरोध से शान्ति नहीं मिलती और उससे विचार भी संकुचित हो जाता है। निरोध आत्महत्या है। उसके प्रभाव में व्यक्ति धोखे में रहता है, अर्थात् अपनी कमी वह जानता नहीं है तथा गुणों की पहचान नहीं कर पाता। जब व्यक्ति अपने स्वभाव को स्वयं नहीं जान पाता, तो यही उसके जीवन का नैशतम अज्ञात कहलाता है। अज्ञान पाप है, और ज्ञान पुण्य है। 'आस्कर वाइल्ड' ने भी निरोध के बारे में अपना मत स्पष्ट प्रकट किया है जिससे निरोध से होनेवाली हानि पर प्रकाश पड़ता है—

"पहले जब मैं कारागृह में बन्द किया गया, कुछ लोगों ने मुझे अपने को अर्थात् 'मैं क्या था' उसे भूल जाने की सलाह दी। वह सलाह मेरा सत्यानाश करनेवाली थी। मैं क्या हूँ, इसके परिज्ञान द्वारा ही मुझे सन्तोष हुआ। अब कुछ लोग मुझे सलाह देने लगे हैं कि मैं बन्धन-मुक्ति के बाद अपने कारावास को सर्वथा भूल जाने की चेष्टा करूँ। किन्तु, यह भी उतना ही सर्वनाशकारी है। उसका अर्थ यह

होगा कि मैं एक असह्य अपमान की भावना से प्रतिक्षण विकल रहूँ और सूर्य तथा चन्द्र की निरुपम सुन्दरता, ऋतुओं के उत्सव, उषाकाल का मधुर संगीत, दीर्घ निशाओं का जागरण एवं नीरवता, पत्तियों के बीच की रिमझिम, हरियाली को रुपहला बनाती चमकनेवाली ओस-बूँदें—ये सभी, जो मेरे लिए तथा अन्य के लिए उद्दिष्ट हैं,—मेरे लिए कलंकित हो जायँ और अपनी शमदायिनी शक्ति तथा मोहिनी शक्ति को खो दें।

अपनी अनुभूति के लिए पश्चात्ताप करना अपने विकास को अवरुद्ध करना है। अपनी ही अनुभूति को अस्वीकृत करना अपने ही जीवन के अधरों में असत्य रखना है। ऐसा करना अपनी आत्मा की हत्या करने से कम नहीं है।"[१]

१—"When first I was put into prison, some people advised me to try and forget who I was. It was ruinous advice. It is only by realising what I am that I have found comfort of any kind. Now I am advised by others to try on my release to forget that I have ever been in prison at all. I know that would be equally fatal. It would mean that I would always be haunted by an intolerable sense of disgrace and that those things that are meant for me as much as for anybody else—the beauty of the sun and moon, the pageant of the seasons, the music of the day-break and silence of great nights, the rain falling through the leaves or the dew creeping over the grass and making it silver—would all be tainted for me and lose their healing power and their power of communicating joy.

"To regret one's own experience is to arrest one's own development. To deny one's own experience is to put a lie into the lips of one's own life. It is no less than a denial of the soul."

—*Oscar Wilde : De Profundis; p. 37.*

सातवाँ अध्याय

प्रत्यग्गमन, आरोप और तादात्म्य

हमें गत अध्याय के अनुशीलन से विदित है कि भीतर से वासना-वेग बाहर की ओर प्रवृत्त होता है। वस्तुस्थिति की प्रतिकूलता उसे दबा डालती है अथवा उसका निरोध करती है। इस प्रकार के अवदमन अथवा निरोध में दो धाराएँ रहती हैं; जिनमें एक प्रकाशोन्मुख और दूसरी निरोधात्मक है। इन धाराओं की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के कारण रूप-विरूप से विस्मृति, स्वप्न, जागते सपने, किसी बात की अतिमात्रा आदि की अभिव्यक्ति होती है। शक्ति निरुद्ध हुई नहीं कि उसके फलस्वरूप विभ्रम आदि अभिव्यञ्जित हो उठे। किन्तु, हमने अभी तक यह नहीं बताया कि निरुद्ध शक्ति-प्रवाह की अन्तर्मुख प्रवृत्ति किस प्रकार से होती है ? इस अध्याय में हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि निरोध से शक्ति की बहिर्मुख प्रवृत्ति में किस प्रकार का अन्तर हो जाता है और वह किस प्रकार से पुनः प्रकट होने पाती है।

प्रत्यग्गमन (प्रतीपगमन अथवा प्रत्यावर्त्तन) अन्तर्मुख प्रवृत्ति का नाम है। निरोध के कारण जब व्युत्थान की दशा में किसी भी प्रवृत्ति का मार्ग रुक जाता है, तो वह पीछे लौट पड़ती है। उसमें रहनेवाली शक्ति नदी के समान घूमकर पहले की खाइयों में बहने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार के गमन को प्रत्यग्गमन कहते हैं। योगभाष्य के साधनपाद २४ के अनुसार प्रत्यग्गमन का अर्थ है, 'प्रतीपं विपरीतं अंचति प्राप्नोति इति प्रत्यक्' अर्थात् विपरीत दशा को प्राप्त होती है, अतएव प्रत्यक् कहा जाता है। प्रत्यग्गमन में कौन-सा वैपरीत्य है ? इस प्रश्न के उत्तर की जानकारी के लिए पाठकों को सर्वप्रथम चित्त-वृत्ति के स्वरूप पर ध्यान देना चाहिए। दार्शनिकों के मतानुसार विकास-क्रम अन्तरंग से बहिरंग की ओर होता है। प्रकृति से महान्, उससे अहंकार, उससे मन आदि इन्द्रियाँ एवं तन्मात्रा आदि का विकास होता है। विकास का तात्पर्य क्या है ? विकास एक संकुचित अथवा अनभिव्यक्त बात की अभिव्यंजना का नाम है। इसमें प्रवृत्ति बहिर्मुख की ओर है। अन्तर्मुखीन प्रवृत्ति को निवृत्ति के नाम से पुकारा जाता है। प्रवृत्ति ही सभी वस्तुओं का साधारण गमन है। निवृत्ति एवं संकोच के मूल में अवरोध पाया जाता है। प्राण-शक्ति सदा अभिव्यंज्य है। इसी प्रकार चित्त-वृत्तियाँ भी बहिर्मुख गतिवाली होती हैं। संवेदना के चित्त में प्रवेश करते ही चित्तवृत्ति का प्रारम्भ होता है। संवेदना के साथ चित्त-यन्त्र में कुछ विशृङ्खल शक्ति प्रवेश करती है। चित्त-यन्त्र द्वारा उस शक्ति का नियमन होता है और क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। अतः चित्त-वृत्ति का साधारण क्रम है संवित्स्पंद, मनःस्पंद तथा ऐन्द्रिय स्पंद तथा ज्ञान, भाव, इच्छा एवं क्रिया का उत्पादन। ज्ञान किसी वस्तु का होता है, उसके उपरान्त तद्विषयक कुछ भावजन्य इच्छा होने लगती है। किन्तु, कभी-कभी बाह्य परिस्थिति के अनुकूल न होने

से चित्त-वृत्ति पूर्ण नहीं हो पाती। कुछ लोगों में वस्तु के ज्ञान से ही चित्त-वृत्ति सीमित होती है, किसी में भावात्मक गति की भी उद्भूति हो जाती है और कुछ सीमा तक चित्त-वृत्ति क्रियात्मक भी हो उठती है। मान लीजिए, कोई घर जल रहा है और वहाँ पर बहुत-से व्यक्ति उपस्थित हैं। उस भीषण अग्निकाण्ड से दर्शकों में विभिन्न प्रक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं—कोई उस अग्नि का ताण्डव-नृत्य देखकर रह जाता है और कहता है, 'क्या किया जाय, बेचारे का मकान जल गया'! कोई इससे एक कदम आगे बढ़ते हैं और चिल्लाने लगते हैं—'भाई रे! बेचारे का घर जल रहा है, अरे पानी लाओ, आग में कूदो, बुझाओ रे, बुझाओ! इस ओर! इस ओर!!' उनकी आँखों से आँसू भी निकलने लगते हैं। लगता है, वे अपनी भावात्मक चित्त-वृत्ति से आग बुझाना चाहते हैं। वहाँ पर कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं, जो अपने प्राणों पर खेलते हुए धधकती हुई अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं और धुआँ आदि से आवृत भीषण अग्नि-काण्ड में जलती हुई वस्तुएँ, विह्वल और चकित बच्चों एवं स्त्रियों को खींचकर बाहर ले आते हैं। श्रीमती एनी बेसेण्ट ने अपनी आत्म-कथा में एक अति सुन्दर वार्त्ता उद्धृत की है—'किसी को वह काम करना चाहिए, किन्तु मैं ही वह क्यों रहूँ?' ऐसा अनवरत दुर्बल मनवाले व्यक्ति ही उच्चारित कर सकते हैं। किन्तु, मानव का कोई सच्चा सेवक उत्कण्ठित हो भय-संकीर्ण कार्य करने को उद्यत हो बोल उठेगा—'किसी को वह कार्य करना है और वह व्यक्ति मैं ही क्यों न रहूँ?' इन्हीं दो वाक्यों में सदियों का नैतिक विकास छिपा है।[१]

इस उदाहरण में पहले प्रकार के लोगों में चित्त-वृत्ति ज्ञान तक ही सीमित रही, दूसरे प्रकार के लोगों में वह केवल भावात्मक पहलू तक पहुँचकर रह गई, किन्तु साहसिक लोगों में वह क्रिया-रूप में भी परिणत हुई। वास्तव में, तीनों गतियों, अर्थात् ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक गतियों से चित्त-वृत्ति पूर्ण कही जा सकती है। किन्तु, इनमें प्रत्यग्गमन का प्रकार नहीं दिखाई देता है। यदि चित्त-वृत्ति क्रियान्वित होते समय अवरोधित हो जाय, तो उसकी शक्ति प्रत्यग्गमित होती है। इसे एक उदाहरण से समझिए। माता देखती है कि उसके बच्चे को बाघ खाने आ रहा है। वह बाघ से अपने शिशु की रक्षा करना चाहती है। किन्तु, उसके साथी बाघ के डर से उसे जाने नहीं देते हैं और उसे दूर खींचकर ले जाते हैं। ऐसी स्थिति में वह माता पागल हो जा सकती है और ऐसी ही दशा में क्रियान्वित होनेवाली शक्ति का प्रत्यग्गमन आदि होते हैं। क्रियोन्मुख होनेवाली संवित्-शक्ति और उसके मार्ग के कण्टक की प्रतिरोध-शक्ति पर प्रत्यग्गमन की अभिव्यक्ति निर्भर करती है। ऐसी स्थिति में शक्ति प्रत्यग्गमित होकर प्रायः पूर्व मार्ग का ग्रहण करती है और अपने को प्रकट कर पाती है।

१—"Some one ought to do it, but why should I?' is the ever reached phrase of weak kneed amiability. 'Some one ought to do, so why not I?' is the cry of some earnest servant of man, eagerly forward springing to face some perilous duty. Between these two sentences lie whole centuries of moral evolution."

—*Autobiography of Mrs. Annie Beasant, p. 23.*

प्रत्यग्गमन के अच्छे उदाहरण हैं स्वप्न, दिवास्वप्न (जागते सपने), विभ्रम आदि। स्वप्न आदि में चित्त-वृत्ति की सामान्यता नहीं पाई जाती। ज्ञान, भाव, क्रिया की अपेक्षा प्रायः ज्ञान, भाव, ज्ञान ही हुआ करते हैं, अर्थात् शक्ति भाव के उपरान्त बहिर्मुख होने की अपेक्षा पीछे लौट पड़ती है और ज्ञान की अवस्था पर पहुँच जाती है। स्वप्न आदि मानसिक स्थितियों में वेग प्रायः शारीरिक कार्य के रूप में बहिर्गत नहीं होता। मन-ही-मन निर्विषयक अर्थात् वस्तु-शून्य ज्ञान होने लगता है, विकल्प-ज्ञान होता है अथवा अर्थमात्र का भान होता है। स्वप्न में हम पहाड़ देखते हैं, किन्तु पहाड़ का ज्ञान वस्तुशून्य है। चित्त में पहाड़ नहीं रहता है, किन्तु उसका चित्र अथवा प्रतिरूप अवश्य रहता है। बात यह है कि हमने पहाड़ देखा था और उसके ज्ञान के उपरान्त उसका संस्कार चित्त पर रह गया था। कोई इच्छा क्रियान्वित होते समय निरुद्ध की जाती है तो उसका वेग प्रत्यग्गमित होता है और स्वप्न में पहाड़ के संस्कार को जगा देता है और तभी विषय के नहीं रहने पर भी उसका चित्र दिखाई पड़ता है। स्मृति भी प्रत्यग्गमन का ही फल है। हम अपने प्रयत्न से वस्तु-प्रत्यक्ष के संस्कारों में अपनी संकल्प-शक्ति को बहने देते हैं और स्मृति-पटल में उन्हें जीवित रखते हैं। हम स्वप्न-साम्राज्य को एक प्रकार की स्मृति ही कह सकते हैं, किन्तु वह अनुभूत विषयों की कल्पित स्मृति है। अतएव, वाचस्पति स्वप्नों की स्मृति को 'भावितः स्मर्तव्याः—भावितः:कल्पिताः' कहते हैं।

प्रत्यग्गमन के कारण व्यक्ति अपने को पूर्व-स्थितियों में पाता है। स्वप्न का प्रत्यग्गमन जीव के सभी अतीत संस्कारों का ज्ञान कराता है। कुछ लोगों का कहना है कि हम प्रतीपगमन अथवा प्रत्यग्गमन से कदाचित् पूर्वजन्म-स्मृति भी कर सकते हैं; क्योंकि 'चित्त-विश्लेषण' में और प्रत्याहार में एक प्रकार का प्रत्यग्गमन ही होता है। प्रत्यग्गमन होने में जो पहली बात देखी जाती है, वह है बाह्य प्रवृत्तियों को रोक लेना। चित्त-विश्लेषण में और प्रत्याहार में भी इन प्रवृत्तियों को रोका जाता है। एक तो सभी प्रकार की व्यग्र चेष्टाएँ रोकी जाती हैं और व्यक्ति को आसनस्थ किया जाता है। शरीर की सभी स्नायुएँ और पेशियाँ शिथिल की जाती हैं, जिससे कि मन अपनी इच्छा के अनुसार काम कर सके। इस प्रकार सभी प्रकार की बाह्य संवेदनाएँ, जहाँ तक सम्भव हो सकता है, रोक ली जाती हैं। विशेष कर योगी अपनी इन्द्रियों को बंद करके उन्हें इन्द्रियार्थ से हटा लेता है। ऐसी स्थिति में मन अपने संस्कारों के हाथों खेलने लगता है, और उसकी कामनाएँ अथवा वासनाएँ अभितप्त होने लगती हैं। ऐसी मनःस्थिति में संस्कार क्रिया-रूप में परिणत होने के लिए उद्विग्न हो उठते हैं। अब योगी की परीक्षा का समय आता है और वह उनको क्रियान्वित नहीं होने देता। सारे संस्कार-वेग अपने को चित्र, विभ्रम, वाणी आदि के रूप में अभिव्यंजित करने लगते हैं, अर्थात् तब आरोप का आश्रय-ग्रहण देखा जाता है। इस प्रकार के प्रत्याहार से पूर्व-जन्मों की स्मृति भी प्रकट हो सकती है। प्रत्यग्गमन के आश्रय से सांसारिक संस्कार उठ खड़े होते हैं, अर्थात् अभिव्यंजित होने लगते हैं, ऐसा चित्त-विश्लेषण से पता चलता है। चित्त-विश्लेषण की दशा में एक युवक को इस संस्कार का स्मरण हुआ

कि उसकी आठ महीने की अवस्था में जो अन्न-प्राशन[1] का संस्कार हुआ था, उसकी थाली में उसकी बहन ने खाया था। युवक के घर पत्र लिखा गया और इस बात की सत्यता जानने की कोशिश की गई। आश्चर्य है, बात ठीक निकली। उसकी बहन ने लिखा कि जब छोटे भाई का अन्न-प्राशन-संस्कार हुआ और उसने अपने भाई के साथ उसी थाली में खाया, उस समय वह दस वर्ष की थी। जब इहलोक के सब संस्कार ज्ञात हो सकते हैं तो प्राग्भवीय अर्थात् पूर्वजन्म के संस्कार क्यों नहीं स्मरण में आ सकते? रहस्यवादियों का कहना है कि प्रदेष्टा स्वप्नों में पूर्वजन्मों के विषयों को भी देख सकता है। स्वप्नों में उद्भावित ऐसे संस्कार व्यक्ति के जीवन में अवश्य महत्त्व रखते थे। किन्तु ऐसा मानने में कि व्यक्ति में भ्रूणावस्था के पूर्व की स्मृतियाँ हो सकती हैं, वे अतिशयोक्ति करते हैं।[2] यदि बच्चा चित्त-विश्लेषण में अपने जन्म का (मातृगर्भ से निकलते समय जो चतुर्दिक् रक्त-ही-रक्त दिखाई पड़ता है, उसका) दर्शन कर सकता है, तो प्रत्याहार की दशा में व्यक्ति अपने पूर्वजन्मों के सभी संस्कारों को देख सकता है, ऐसा योगदर्शन का एक सूत्र है—

संस्कार-साक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्।[3]

—अर्थात् संस्कारों के साक्षात्कार से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। प्रत्याहार से इन्द्रियों की परमवश्यता प्राप्त होने पर, प्रत्यग्गमन द्वारा सभी संस्कार उद्भूत होते रहते हैं, किन्तु प्रायः योगी उनको जान नहीं पाते हैं; क्योंकि वे दूसरी बातों का ध्यान किया करते हैं। ऐसा ही परम योगी भगवान् बुद्ध ने भी कहा है। यदि योगी किसी अन्य बात का ध्यान न करें, केवल अपने संस्कारों के साक्षात्कार में ही तत्पर रहें, तो संस्कार व्युत्थित होते जायँगे, ऐसा योग-वचन है। इस प्रकार संस्कार में जो वेग रहता है, वह बहिर्मुख हो जाता है। बात यह है कि प्रत्याहार के पूर्व, बाह्य संवेदनाओं की तीव्रता से वे संस्कार-वेग तिरोभूत किये गये थे, अब वे किसी निरोध-शक्ति के न रहने से व्युत्थित हो जाते हैं। योगी उनको क्रिया-रूप में परिणत नहीं करता है, अतः एक संस्कार का वेग प्रत्यग्गमित होकर दूसरे को जगाता है और इसी क्रम से जाग्रत करते-करते एक समय ऐसा आता है कि सभी संस्कार ज्ञात हो जाते हैं। उन संस्कारों के साक्षात्कार से व्यक्ति अपने को कल्पना-प्रपंच में पाता है। उन्हीं संस्कारों के साथ देश, काल एवं निमित्त का ज्ञान पुनः हो जाता है। विश्लेषण द्वारा एक मात्रा

१—'अन्न-प्राशन' एक प्रकार का हिन्दू-संस्कार है। बच्चों को जब सर्वप्रथम भोजन कराया जाता है, तो वह एक धार्मिक संस्कार के रूप में ग्रहण किया जाता है। अन्न-प्राशन-संस्कार की गणना सोलह संस्कारों में होती है।

२—'The occultists are right in assuming that memories of things in dreams go back to a previous life of the dreamer, and were then of importance, only they project the pre-existence further back than to the intra-uterine existence.'

—*Otto Rank: 'The Trauma of Birth'; foot-note on p. 80.*

३—पातंजल योग : ३-१८

तक यही अनुभव होता है। इससे व्यक्ति अपनी अतीत घटनाओं की पुनरावृत्ति अनजान में ही करने लगता है, अस्तु। हमने ऊपर जिस सूत्र की चर्चा की है उसके भाष्य में भी यही बातें प्रकट की गई हैं—

द्वये खल्वमी संस्काराः, स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपाः,
विपाकहेतवो धर्माधर्मरूपाः, ते पूर्वभवाऽभिसंस्कृताः

परिणाम-चेष्टा-निरोध-शक्ति-जीवन-धर्मवदपरिदृष्टाश्चित्तधर्माः, तेषु संयमः संस्कार-साक्षात्क्रियायै समर्थः, न च देशकालनिमित्तानुभवैर्विना तेषामस्ति साक्षात्करणं, तदित्थं संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः। परत्राऽप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात्परजातिसंवेदनम्। अत्रेदमाख्यानं श्रूयते भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणात् दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभवत्। जैगीषव्य उवाच दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन यथा नरकतिर्यग्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन यत्किंचिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि।

—अर्थात् संस्कार दो प्रकार के हैं—स्मृति को और क्लेशों को (अज्ञान, अहंकार, राग-द्वेष और अभिनिवेश) उत्पन्न करनेवाले वासना-रूप संस्कार, और विपाक को उत्पन्न करनेवाले धर्माधर्म रूपी संस्कार। ये संस्कार पूर्वजन्म के होते हैं। इस जन्म में जो कुछ अभिसंस्कृत होते हैं वे परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन और धर्म के समान अपरिदृष्ट अर्थात् अज्ञात चित्त-धर्म हैं। उनमें संयम, अर्थात् संस्कारों के साक्षात्कार के लिए समर्थ होना, तथा देश-काल-निमित्त आदि के अनुभव के बिना उनका साक्षात्कार नहीं होता। इस प्रकार के संस्कार-साक्षात्कार से पूर्वजन्म का ज्ञान उत्पन्न होता है। दूसरों में भी उनके संस्कारों को जानने से उनके पूर्वजन्मों का ज्ञान हो जाता है।

यहाँ पर एक आख्यान सुना जाता है। भगवान् जैगीषव्य को संस्कार-साक्षात्करण से दस महासर्गों में अपने जन्म और परिणाम का क्रम विदित हुआ। उससे उनको विवेकजन्य ज्ञान उत्पन्न हुआ। जैगीषव्य ने कहा, 'जन्म से अनभिभूत बुद्धि-शक्ति से दस महासर्गों में मैंने नारकीय और पाशविक योनियों में होनेवाले दुःखों का अनुभव किया। देवताओं में और मनुष्यों में फिर-फिर पैदा होकर जो कुछ मैंने अनुभव किया वह सब दुःख ही दुःख मालूम हुआ।"

इसी प्रकार की अनुभूतियों का वर्णन हमें बुद्ध भगवान् की वाणी में भी मिलता है। प्रत्यग्गमित चैत्तशक्ति पूर्वजन्मों का ज्ञान कराती है, ऐसा भारतीयों का अनुभव है। किन्तु, पाश्चात्य देशवासी पूर्वजन्म में विश्वास नहीं करते। किन्तु, उनके मत के अनुसार भी एक प्रकार का प्राग्भव है, जिसका ज्ञान स्वप्नों में होता है। विश्लेषण द्वारा उसका ज्ञान हो सकता है कि नहीं, इस विषय में डॉ० फ्रायड आदि मौन हैं। उनके परिशीलन से उन्हें विपाक और क्लेश को उत्पन्न करनेवाले संस्कारों का साक्षात्कार नहीं हो सका, अतः वे भवीय संस्कारों तक ही पहुँचते हैं। किन्तु, प्राग्भवीय संस्कारों का भी कुछ मात्रा में अनुभव हो सकता है, ऐसा उनका मत है। चित्त-विश्लेषण के अनुसार अज्ञात वासना-भूमि है, ऐसा हमने गत अध्यायों में देख लिया है। वासनाओं में कुछ भवीय

एवं प्राग्भवीय होती हैं। भवीय वासनाओं को डॉ० फ्रायड वासना का नाम नहीं देते हैं, वे उन्हें केवल संस्कार-मात्र समझते हैं। यह ठीक ही है। कई योनियों में एक ही प्रकार के जो संस्कार होते हैं, वे प्राग्भवीय हैं। किन्तु, प्राग्भवीय भी कभी ज्ञात ही रहे होंगे, नहीं तो वे ज्ञात कैसे हो सकते हैं? डॉ० फ्रायड लिखते हैं—

'हमें यह एक नवीन आविष्कार के समान मालूम पड़ता है कि वही बात ज्ञात हो सकती है जो कभी एक ज्ञात अनुभूति बन चुकी हो। किन्तु, वह (भावावेगों के अतिरिक्त) जो अन्तरंग से निकलकर व्युत्थित और ज्ञात होने का प्रयत्न करती है, उसे अपने को बाह्य अनुभूति में परिवर्त्तित करने का अवश्य प्रत्यन करना चाहिए।'[१] एक स्थान पर डॉ० फ्रायड पुनः लिखते हैं—

'यदि हम इसे मान लें कि वासनाएँ (मूल-प्रवृत्तियाँ) अथवा उनके कुछ अंश, स्वतः अनेक भाँति की बाह्य उत्तेजनाओं के फल हैं जो प्राग्भव में प्राणी के स्वरूप के कुछ परिवर्त्तनों के कारण होते हैं, तो किसी प्रकार की बाधा नहीं होगी।'[२]

वासनाएँ (मूल-प्रवृत्तियाँ) प्राग्भवीय हैं। वे पहले कभी-न-कभी संवेदनाओं के रूप में ही रही होंगी और आज वे प्राणी को जन्म से संक्रान्त हैं, अथवा पितृ-वीर्य के साथ प्रदत्त हैं। पितृ-वीर्य शरीर-रचना के और मानसिक शक्तियों को संक्रामित करनेवाला माध्यम है। उसी के कारण शिशु में प्राग्भवीय संस्कार आ जाते हैं और उसके अज्ञान का बड़ा अंश बनकर अन्ततोगत्वा उसकी सारी क्रियाओं को अपने रंग से अनुरंजित करता रहता है। सभी प्राग्भवीय वासनाएँ प्रत्येक व्यक्ति में समान ही रहती हैं, किन्तु उनके क्रम और विकास की मात्रा परिस्थिति के अनुकूल व्यक्ति-व्यक्ति में परिवर्त्तित होती रहती है। हम इस विवेचन के अनुसार प्राग्भवीय वासनाओं की तुलना भारतीय 'प्रारब्ध कर्म' से कर सकते हैं। किन्तु, भारतीय 'प्रारब्ध-कर्म' तथा पाश्चात्य के संक्रामित प्राग्भवीय वासनाओं में कुछ अन्तर है।

भारतीय सिद्धान्त के अनुसार कर्म तीन प्रकार के मानते हैं—(१) संचित (२) प्रारब्ध और (३) क्रियमाण। एक जन्म में व्यक्ति जितने कर्म करता है उनके संस्कार मन में रहते हैं। उस संस्कार-समूह में जो सबसे बलवान् रहता है, वह अपने सजातीय संस्कारों से मिलकर व्यक्ति के दूसरे जन्म का कारण होता है। इसी को पारिभाषिक शब्दों में इस प्रकार से कह सकते हैं—प्राक्तन कर्म का प्रबल संस्कार सजातीय कर्म-समूह से मिलकर

१—It daws upon us like a new discovery that only something which has once been a perception can become conscious and that anything arising from within (apart from feelings) that seeks to become conscious must try to transform itself into external perception.

—*S. Freud : The Ego and the Id, p. 21.*

२—Of course, there is nothing to prevent over assuming that the instincts themselves are, at least in part precipitates of different forms of external stimulation, which in the course of phylogensis have effected modifications in the organism.

—*S. Freud : Collected Papers, Vol. IV, p. 64.*

व्यक्ति के भव को आरब्ध कर देता है अथवा आरब्ध या प्रारब्ध कर्म बन जाता है। जो शेष कर्म-समूह विपक्क नहीं होता है, वह संचित कर्म के रूप में रह जाता है, जिसका भव में तात्कालिक प्रभाव नहीं रहता। भव के अनन्तर व्यक्ति जो काम फिर करेगा, वह क्रियमाण कर्म कहा जाता है। इन तीनों प्रकार के कर्मों में कर्त्ता एक ही जीव है जो उनका फल पाता है। अतएव दुःख भोगना या दुःख न भोगना जीव के हाथ में है। कर्म-फल ही जीवन और मरण का कारण है; मृत्यु-देवता मारता है, यह बात भ्रामक है।

किन्तु, डॉ० फ्रायड किसी संचित कर्म को नहीं मानते हैं; क्योंकि उनके परिशीलन ने उन्हें इस बात की ओर संकेत नहीं किया। उनके मत से उपर्युक्त तीनों प्रकार के कर्मों को भोगनेवाला कोई जीव नहीं है। यदि देखा जाय तो भारतीय एवं डॉ० फ्रायड के सिद्धान्तों में सहमति यहीं तक है कि प्राग्भवीय और भवीय संस्कार व्यक्ति में रहते हैं, भारतीय मत के अनुसार ये कर्म व्यक्ति-भेद से परिवर्त्तित होते रहते हैं। सभी कर्मों को हम स्मृति-हेतु, क्लेश-हेतु और विपाक-हेतु संस्कार-रूप से तीन भागों में बाँट सकते हैं। स्मृति को उत्पन्न करनेवाले संस्कार ज्ञानज ही रहते हैं।[१] पाश्चात्य विद्वानों के मत में प्राग्भव-संस्कारों को संक्रामित करनेवाला जीव का अन्तःकरणयुक्त सूक्ष्म शरीर नहीं, प्रत्युत, माता-पिता के जीवांश हैं।[२] दूसरी बात यह है कि भारतीय विद्वानों के विपरीत उनके मत के अनुसार किसी व्यक्ति के प्राग्भवीय संस्कार उसकी क्रियाओं से न होकर जाति की अनुभूतियों से होते हैं। इस भेद का मर्म प्राण की उत्पत्ति में है। जबतक पाश्चात्य विद्वान् प्राण के अवतरण को नहीं समझा सकेंगे, तबतक वे यह भी नहीं समझा सकते कि प्राणी के जीव का आवागमन है कि नहीं; अस्तु।[३] हम यहाँ पर विषय के वैचित्र्य के आवेग में मूल विषय से बहुत दूर की बातें सोचने लग गये। भारतीय सिद्धान्त के अनुसार प्राग्भव ठीक है अथवा पश्चिमी विद्वानों के मत के अनुसार, हम इसकी विशद चर्चा यहाँ नहीं करेंगे; क्योंकि इससे विषयान्तर उपस्थित हो जायगा। चाहे जो हो, दोनों की इस विषय में सहमति है कि संस्कार-साक्षात्करण से पूर्व के संस्कारों का ज्ञान हो सकता है। इसका साधन है बहिर्मुख शक्तियों को रोकना, जिससे वे प्रत्यग्गमित होती हैं और अनुद्भूत संस्कारों का ज्ञान कराती हैं।

प्रत्यग्गमित शक्ति बचपन की स्मृतियों से मिल जाती है और उन्हीं द्वारा प्रकट होने का प्रयत्न करती है। जब निरोध के कारण शक्ति प्रत्यग्गमित होती है, तब वह ज्ञात की प्रभुता से ज्ञाताज्ञात का धन बन जाती है। ज्ञाताज्ञात अवसर देखकर उसे प्रकट करने का प्रयत्न करता रहता है। वह उसे बहिर्मुख होनेवाली संवेदनाओं के ज्ञान-संस्कारों से मिलाता है और फिर उनके चित्रों (प्रतीकों) को प्रत्यक्ष अनुभूति के रूप में

१—'ज्ञानजा हि संस्काराः स्मृतेर्हेतवः'।—देखिए, वाचस्पतिमिश्र-विरचित योगभाष्य की विशारदी टीका।

२—'Jenes'

३—आधुनिक जीव-विज्ञान अभी आनुवंशिकता एवं वातावरण (Heredity and Environment) के महत्त्व के पचड़े में पड़ा हुआ है। आनुवंशिकता के साथ माता-पिता के जीवन की कमाई अर्थात् उनके अर्जित गुण संक्रमित होते हैं, इस बात पर विकासवाद का सिद्धान्त (Theory of Evolution) प्रकाश डालता है।

प्रकट करता है, जो विचार, विभ्रम आदि की संज्ञा पाते हैं, ये ही आरोपित विषय हैं। वे कल्पित विषय भी हो सकते हैं, किन्तु हैं वे, वास्तव में, आरोपित ही। आरोप[१] क्या है? इस प्रश्न की चर्चा से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

डॉ० फ्रायड के मतानुसार 'आरोप' शब्द का अर्थ है आन्तरङ्गिक शक्ति का बहिष्करण। इसके अनुसार सभी क्रियाएँ, सभी ज्ञान, सभी विचार, विभ्रम आदि आरोप हैं। शरीर का ज्ञान और अहन्ता का ज्ञान भी आरोप है। किन्तु, डॉ० फ्रायड 'आरोप' शब्द को विशेष अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। वे उन्हीं बातों की बहिष्करण-क्रिया को आरोप कहते हैं, जो निरोध के कारण अन्तः में स्थित होकर व्यक्ति को पीडित करती है। उदाहरणार्थ, मान लिया कि किसी के चित्त में एक विशेष व्यक्ति के प्रति कामासक्ति है, जो समाज के नियमों के ज्ञात विचारों के अनुसार निन्द्य है। वह व्यक्ति सदा इसका ज्ञान नहीं रखना चाहता कि उसके चित्त में कोई ऐसी भावना है। जब उस भावना की स्मृति ही उसे दुःख पहुँचाती है, तो उस परिस्थिति में वह उस स्त्री को कामुकी ठहराने की चेष्टा करता है। इसी प्रकार की चैत्त-क्रिया को 'आरोप' कहते हैं। उस व्यक्ति ने अपने भीतर रहनेवाली काम-भावना को अनजाने ही दूसरे पर आरोपित कर दिया।

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर अब विभ्रम आदि की बात समझ में आ सकती है। विभ्रम आदि के पर्यवेक्षण से पता चलेगा कि उनके मूल-भूत संस्कार निरुद्ध हैं और इसीलिए उनकी शक्ति प्रत्यग्गमित हुई और संस्कारों से मिलकर ज्ञाताज्ञात की प्रेरणा से विभ्रम का रूप धारण कर लिया। कवि, चित्रकार आदि सभी कलावेत्ता इसी प्रकार से अपनी वांछाओं को कविता, चित्र आदि में आरोपित करते हैं। वे कल्पना से अपने लिए नवीन जगत् का निर्माण कर लेते हैं, जिसमें वे निषेध के बिना अपनी निरुद्ध इच्छाओं की तृप्ति कर सकते हैं। जब चित्त के वासनावेग नहीं घटते और दूसरे कारणों से वे शक्ति द्वारा प्रकट नहीं किये जा सकते, तब वह प्रत्यग्गमित शक्ति कल्पना के रूप में प्रकट होती है। ऐसी कल्पनाएँ समाज में मान्य होती हैं; क्योंकि वे वासनाओं के रूप में बिना अभिव्यक्ति के दूसरे लोगों के भावाकुल मन में उथल-पुथल मचाती रहती हैं। अतः कला के विकास में व्यक्ति अपनी ही इच्छाओं की तृप्ति पाता है, जिससे उसे सम्मान भी मिलने लगता है। इसका और विशद वर्णन हम पुनः शुभनियुक्ति नामक अध्याय में करेंगे। यहाँ पर इतना ही कहना अपेक्षित है कि कला आदि की उद्भूति आरोप से होती है।

आरोप चित्त-साम्य की स्थापना में अत्यधिक सहायता करता है। यह बताना सरल नहीं है कि जीव की उत्पत्ति कब हुई तथा उसकी शान्ति का नाश कब हुआ। हम कल्पना कर सकते हैं कि कदाचित् किसी शान्त उदास द्रव्य की शान्ति के वैषम्य से जीव की उत्पत्ति हुई है, और जीव फिर उसी शान्ति को पाने की अनवरत चेष्टा करता रहता है। बाह्य-जगत् शान्ति के स्थापन में एक बड़ा अवरोध है। जबतक अशान्ति है, तभी तक जीव है और संसार है। शरीर जबतक है तबतक शान्ति पूर्णतया प्राप्त नहीं

१—Projection

होती है। कहा भी है—'स शरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।' शरीर तथा बाह्य संवेदनाएँ संसार-पर्यन्त हैं। यद्यपि शरीर के रहते हुए पूर्ण शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, तथापि जीव सदा असाध्य को साध्य बनाने की चेष्टा करता रहता है। हम कह सकते हैं कि समतानन्द के लिए चित्त-यन्त्र अनेक युक्तियों का आश्रय लेता है। इन युक्तियों में 'आरोप' प्रधान है। 'आरोप' 'अतस्मिंस्तद्बुद्धि' है। जो वस्तु अथवा गुण वास्तव में हैं नहीं, उनका भान होना ही आरोप है। वेदान्त-शास्त्र में आरोप के प्रसिद्ध उदाहरण हैं—सर्प-रज्जु का भ्रम, शुक्तिका-रुप्य का भान, मृगतृष्णा-जल का दर्शन आदि। रस्सी साँप नहीं है, तो भी उसमें साँप का भ्रम हो जाता है। इस उदाहरण में, व्यक्ति ने 'रज्जु' में 'सर्प' का आरोप किया। एक स्त्री ने स्वप्न देखा कि कोई परपुरुष उसका पीछा कर रहा है। वास्तव में, स्वप्न का परपुरुष उस स्त्री का रिश्तेदार था, स्त्री के मन में कोई बुरी नीयत नहीं थी, फिर भी स्वप्न में उसने उसी व्यक्ति को अपना पीछा करते हुए देखा। यहाँ भी आरोप हो सकता है। कदाचित् उस स्त्री के मन में अतृप्त काम-पिपासा थी जो उसके आदर्शों से लड़ रही थी और इस प्रकार वह अपनी ही कामेच्छा दूसरे व्यक्ति पर आरोपित कर रही थी। एक वृद्धा स्त्री थी, जो विधवा थी। प्रतिदिन वह कभी-कभी चिल्लाने लगती थी, 'अरे, देखो, देखो, उस लड़के के बिस्तर पर कोई स्त्री है। अरे देखो, वह लेटी है। लेटी है।' वह लड़का उसका पौत्र था। वास्तव में, उसके बिस्तर पर कोई स्त्री नहीं रहती थी। लोग वृद्धा को सच्ची बात बताते थे, किन्तु वह विश्वास नहीं करती थी और प्रतिदिन वह उसी प्रकार चिल्लाती रही। बात यह थी कि वह छोटी अवस्था में ही विधवा हो गई थी और फलतः उसे जीवन-भर अपनी कामेच्छा दबानी पड़ी। जबतक शरीर में बल था तबतक उसके संकल्प-बल ने चित्त की आभासिक शान्ति की रक्षा की, किन्तु वृद्धावस्था ने अपने साथ शिथिलता उत्पन्न कर दी और वृद्धा का मन निषिद्ध इच्छा और आदर्शों का युद्ध-स्थल हो गया। इस प्रकार उस वृद्धा की निषिद्ध इच्छा आरोपित हो गई। एक अन्य उदाहरण भी लीजिए—रहीम को पुलिस ऑफिसर के पास पेश होना था। उससे तीन दिन पूर्व रहीम के प्रेम-व्यवहार में दखल देनेवाला बल्लू मरा हुआ पाया गया था। मृत बल्लू के चिबुक में फरसा घुस गया था। लाश पाने के थोड़े ही समय पहले रहीम एक पुलिस के पास व्याकुलता के साथ दौड़ा आया और अपने को उसके हाथों में गिराकर चिल्ला उठा—'भाई छाती से लगाओ, मुझे छाती से लगाओ।' कुछ देर बाद उसने एक पुलिस से कहा—'बल्लू के चिबुक में जो फरसा घुसा है, वह तुम्हारा है, किन्तु तुम किसी से यह न कहना कि वह तुम्हारा है।'[१] वास्तव में रहीम ने ही बल्लू को मारा था और फरसा भी उसी का था,

१—"One morning three days before Rahim was due to report himself, Ballu, the interfering shop-keeper, was found dead with an axe embeded in his jaw. A few hours previous to that discovery Rahim had turned to the police out-post in a state of nervous collapse and had thrown himself into the arms of another constable and exclaimed, 'Hold me close to your breast.'

"Later he said to a constable, 'The axe which is stuck in Ballu's jaw is yours, but do not say it is yours'. The Chief Justice and Mr. Justice,

किन्तु अपने अपराध को अनजाने उसने दूसरे पर आरोपित किया और कहा कि फरसा पुलिस का था। वास्तव में, उसे यह कहना चाहिए था, 'फरसा मेरा है, किसी से न कहना', किन्तु उसने ठीक इसके विपरीत कहा।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में आरोप के विषय दूसरे व्यक्ति हैं। आरोपणीय विषय हैं अपनी निरुद्ध इच्छाएँ, जिन्हें व्यक्ति अपनाना नहीं चाहता। आरोपण-क्रिया का ज्ञान नहीं रहता है। वृद्धा समझाई गई और उसे सच्ची बात बताई गई, किन्तु वह चिल्लाती ही रहती थी—'स्त्री उसके बिस्तर पर लेटी है।' रहीम जानता था कि यह उसी का कार्य है और उसी ने हत्या की है, किन्तु उसने यही कहा कि यह जघन्य कृत्य दूसरे का है, किसी अन्य ने हत्या की है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आरोपणीय इच्छाओं का स्वामित्व व्यक्ति नहीं सहन कर सकता, अतएव उनका निरोध करता है और अन्ततोगत्वा उसके ज्ञात ज्ञान द्वारा उसकी इच्छाएँ अन्य व्यक्तियों पर आरोपित की जाती हैं। एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है—'गुंजा फल स्वयं अपने नीचे की कालिमा नहीं जानता है, किन्तु दूसरों की कालिमा बताने में अग्रसर रहता है।' बुरा बुरा देखता है। जो व्यक्ति दूसरे के अवगुणों अथवा दोषों की जितनी निन्दा करता है, उसमें वे ही दोष उतनी ही तीव्र मात्रा में रहते हैं। हम केवल इसलिए दूसरों की अकर्मण्यता से असहिष्णु होते हैं कि हम अपनी सच्ची अकर्मण्यता को स्वीकार नहीं करना चाहते हैं। हम आलस्य, जडता, सुस्ती से अधीर होते हैं, इसका एकमात्र कारण यह है कि उन अवस्थाओं के प्रति हमारे भीतर एक अव्यक्त आकर्षण रहता है। हम दूसरों की धर्मान्धता, नीचता, चिड़चिड़ाहट की जो तीव्र निन्दा करते हैं, इसका कारण यह है कि हम स्वयं प्रच्छन्न रूप से धर्मान्ध, नीच और चिड़चिड़े हैं। दूसरी ओर, हमारे भीतर अत्यधिक क्षमा का भाव तभी आता है जब हम अपनी दुर्बलताओं को जानते हैं और उन्हें क्षमा करना चाहते हैं। व्यक्ति अपने भावों का आरोप सदैव करता रहता है। व्यक्ति विषय से सम्पर्क नहीं करता, प्रत्युत वह अपने से ही करता है। इसी को महाकवि शेक्सपीयर ने 'हेमलेट' नामक नाटक के एक पात्र के मुख से कहलवाया है। यह बात उस नाटक के गर्भाङ्क की है। यह बात ऐसी रानी के मुख से कहलवाई गई है, जो सचमुच, अभिनय कर रही है, अर्थात् जो अपने चित्त की वास्तविकता छिपाकर अभिनय-मात्र कर रही है। द्वितीय विवाह पर असह्य घृणा तो प्रकट की जा रही है, किन्तु चित्त में कुछ और ही है। पढ़िए—

> **पुनर्विवाह सभी होते हैं नीच स्वार्थ के हेतु,**
> **उनसे कभी नहीं फहराते प्रेम-नगर के केतु...;**
> **यदि मैं विधवा बनूँ कभी औ' कर लूँ पुनर्विवाह,**
> **मिले न मुझको अन्न भूमि से, गगन न दे सुख-दाह;**

King of the Allahabad High court confirmed the sentence of death passed on constable Rahim Khan by the Sessions Judge of Jhansi."

—*From The Pioneer. Nov. 7. 1929.*

मिले न मुझको रात्रि-दिवस से नींद और विश्राम,
धँस जाऊँ नैराश्य-पंक में विफल मनोरथ-काम;
कारागृह का सुखमय आश्रय होवे मेरा गेह,
हो जाये विपरीत लास्य-मुख सूखे उर का स्नेह;
यहाँ तड़पती रहूँ निरन्तर, जाने पर परलोक,
लड़ूँ निराशा से अनुदिन मैं और न हूँ निश्शोक;

—अर्थात् द्वितीय विवाह नीच स्वार्थ के कारण हुआ करते हैं। उनमें प्रेम का अमृत-स्पर्श नहीं है। यदि विधवा होकर फिर दूसरे की स्त्री रहूँ, तो पृथ्वी मुझे अन्न न दे, आकाश मेरे लिए ज्योति न दे, अहोरात्र न मुझे विश्राम मिले, न नींद; मेरी सभी आशाएँ और मनोरथ विफल हो जायँ; मैं घोर निराशा के पंक में धँस जाऊँ, कारागृह की बेड़ियाँ मुझे सांत्वना देनेवाले सहचर हों। जिसकी पूर्त्ति मैं चाहूँगी, उसके विपरीत फल मुझे मिले, सभी कामनाएँ निष्फल हो जायँ। इहलोक और परलोक में घोर यातना और युद्ध मेरा पीछा करें।[१] इन भीषण प्रतिज्ञाओं की असली बात महाकवि को विदित थी। वे रानी के मुँह से कहलवाते हैं—'मेरी सम्मति में यह स्त्री अतिमात्रा में विरोध दिखा रही है।'[२] इस उदाहरण से स्पष्ट है कि किसी बात की अतिमात्रा व्यक्ति में उसी बात के घोर निरोध का द्योतक है।

आरोपित रूप सदा सच्चा ही हो, ऐसी बात नहीं है। यदि कोई व्यक्ति बुरा काम करके भूल जाय, अर्थात् उस बात की स्मृति को दबा दे, तो फिर उसे चैन नहीं। उसको सदा एक आवाज सुनाई पड़ती रहती है, 'तुमने ठीक नहीं किया।' पागलखाने में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कोई पागल किसी को पीटने आता है। किन्तु, जिसको वह पीट रहा है उसका स्वरूप दिखाई नहीं पड़ता। वह जहाँ-जहाँ जाता है; पीछे-पीछे, मानो किसी की आहट सुनाई पड़ती है। इससे व्यक्ति को असह्य यातना होती है। ऐसी दशा में वह अपनी हत्या भी कर सकता है। कई लोग इस प्रकार की आवाज सुना करते हैं। कुछ लोग आकस्मिक ढंग से यह शिकायत करने लगते हैं कि उनको दूसरे लोग बरबाद कर रहे हैं। शराबी लोगों में यह बात प्रायः पाई जाती है।

१—"The instances that second marriage move
Are base respects of thrift, but none of love...
Nor earth to me give food, nor heaven light.
Sport and repose lock from me day and night,
To desperation turn, my trust and hope,
An anchor's cheer in prison be my scope,
Each opposite that blanks the face of joy
Meet what I would have well, and it destroy,
Both here and hence pursue me lasting strife,
If, once a widow, ever I be wife"—

२—"The lady doth protest too much, me thinks".

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक श्री हार्ट कहते हैं कि उनके कुछ रोगियों में, जो शराबी थे, यह शिकायत करते पाये गये कि उनकी स्त्रियाँ घर को उजाड़ रही हैं। शराब पीती हैं, बाल-बच्चे भूखों मरते हैं, किन्तु उन्हें कोई चिन्ता नहीं है। व्यभिचारी पुरुषों को अपनी स्त्रियों पर बहुत शंका रहती है। जो व्यक्ति अपनी घर-गृहस्थी का प्रबन्ध ठीक नहीं कर पाता है, वह प्रायः अपनी स्त्री की अकर्मपटुता की निन्दा करता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं। व्यक्ति में और समाज में इस तथ्य का बड़ा महत्त्व है। आरोप के द्वारा व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व से दूर रहना चाहता है। व्यक्ति अपने पापों को किसी शैतान के सिर पर मढ़ देना चाहता है। 'हे भगवन्, मैंने पाप नहीं किया। मेरे सिर पर शैतान सवार है, उसी ने यह पाप कराया। मुझे क्षमा करो।' इसी रीति से कुछ भक्त अपने ईश्वर से प्रार्थना करते रहते हैं। शैतान पाप का मालिक बन जाता है और नरक उसका साम्राज्य बनता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह अभिव्यक्त होता है कि व्यक्ति अपनी दुःखद इच्छाओं का ही आरोप किया करता है, किन्तु ऐसी बात नहीं है; क्योंकि सुख का भी आरोप देखने में आता है। सुख की मात्रा जब अधिक होती है तब वह असहनीय हो उठता है और चित्त का साम्य नष्ट हो जाता है। अतः व्यक्ति अपने सुख का भी आरोप करता है।

समाज का रहस्य आरोप में है। समाज की सभ्यता और ज्ञान के मूल में व्यक्तियों की आरोपित इच्छाएँ हैं। जब काल-क्रम से समाज के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं, तो वे इच्छाएँ फिर आरोप छोड़कर दूसरा रूप धारण करती हैं और समाज अपनी उन इच्छाओं को परिमार्जित रूप में फिर आरोपित करता है। समाज की आकांक्षाएँ, वास्तव में, उसमें रहनेवाले बहुसंख्यक लोगों की आकांक्षाएँ हैं। महाकवि गेटे लिखते हैं—

'युगधर्म व्यक्तियों का ही धर्म है। व्यक्तियों के धर्म में प्रायः काल विपर्यस्त अथवा वक्रीकृत रूप में दर्पणगत हो जाते हैं।'[१]

भक्तों को सुखातिशय में सारा विश्व सुखमय दिखाई पड़ता है। लैला की सुन्दरता मजनू की आँखों से ही परखी जा सकती है। जितनी सत्य 'बुरा बुरा देखता है' नामक कहावत है, उतनी ही सत्य कहावत 'अच्छा अच्छा देखता है' भी है।[२]

१—"And what the spirit of the times men call,
I merely thier own spirit after all,
Where in distorted oft, the times are glassed"—

—*Faust, 21.*

२—श्रीमद्भागवत में आरोप का अच्छा उदाहरण मिलता है। कंस के रंग-स्थल में जब श्रीकृष्ण प्रवेश करते हैं, तब उनमें वहाँ के सभी व्यक्ति अपनी इच्छाओं के बृंहित रूप ही देखते हैं। देखिए—

"मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥"

—स्कंध १०, पूर्वार्द्ध, अ० ४३, श्लो० १७

इस प्रकार से आरोप सर्वत्र हुआ करता है। विषयों से जो शक्ति प्रत्यग्गमित होती है, उसी को चित्त-यन्त्र एक विपर्यस्त रूप देकर बहिष्कृत कर देता है और अन्य विषय से संलग्न कर देता है। वह अन्य विषय वास्तविक अथवा कल्पित हो सकता है। आरोप में व्यक्ति की प्रधानता घट जाती है। आरोप के विषय को प्रायः व्यक्ति अपने से अधिक महत्त्वशाली समझता है। जब अधिक शक्ति अच्छी लगने लगती है, तब व्यक्ति उसे आदर्श मानने लगता है। यदि सुखातिशय को ही व्यक्ति ने आरोपित करके एक कल्पित स्वर्ग का निर्माण किया, तो वह उसी महत्त्व को पराकाष्ठा का महत्त्व समझने लगता है और उसके सामने अपने को तुच्छ समझता है। आरोप द्वारा शैतान की कल्पना में भी शैतान, आरोप करनेवाले व्यक्ति से बलवान् ही होता है और इस प्रकार बुराई की पराकाष्ठा तक वह पहुँच जाता है। स्पष्ट है, शैतान व्यक्ति में पाई जानेवाली निन्द्य प्रवृत्तियों का आरोपित रूप है और भगवान् उसके अच्छे गुणों का तथा सुखातिशय का आरोपित रूप है। अतः एक आरोप-विषय अनभीष्ट, दूसरा अभीष्ट हो जाता है। जो अभीष्ट होता है उसके गुण दिन-प्रतिदिन उत्कर्ष पाते रहते हैं और उसके सामने व्यक्ति संकुचित हो जाता है और उसी के प्रेम में निमग्न हो जाता है। इसका मर्म प्रेम के व्यवहार में विदित हो सकता है। मान लीजिए, दो प्रेमी व्यक्ति हैं, जिनमें एक है प्रेमी और दूसरा उसकी प्रिया। प्रेम तभी सफल होता है जब दोनों की कमी और आवश्यकता एक दूसरे से पूर्ण हों। प्रेमी समान गुणवाले व्यक्ति से प्रेम नहीं करना चाहता; हाँ, वह उसे कदाचित् अपने समान देख सकता है। यदि प्रेमी में पुरुष-भाव, कठोरता, रौद्रभाव आदि अधिक हों और कोमलता, पेशलता, शान्त-भाव की कमी हो, वह अपनी कमी को दूसरे व्यक्ति के गुणों से पूर्ण करना चाहता है और फलतः उस व्यक्ति से प्रेम करने लगता है। यदि स्त्री में कोमलता और शान्त-भाव उतनी ही अधिक मात्रा में रहे, जितनी अधिक मात्रा में पुरुष में कर्कशता और रौद्र-भाव है, तो दोनों में घनिष्ठ प्रेम होता है। प्रेमलता के लहलहाने के लिए दो परस्पर भिन्न व्यक्ति चाहिए, जिससे एक-दूसरे की अपूर्णता दूसरे से पूर्ण हो जाय। तभी दोनों में अधिक प्रेम होता है, और उनसे अच्छी सन्तान की उत्पत्ति हो सकती है। सम्भवतः, इसी कारण से वैवाहिक बन्धन समीप बन्धुओं में मना है। कहा जाता है कि सात पीढ़ियाँ इधर और सात उधर विवाह के बन्धन में न संयुक्त हों, तो उत्तम है। नवीनता और भिन्नता अपेक्षित है। एक पक्ष की अपूर्णता दूसरे पक्ष की पूर्णता की अपेक्षा रखती ही है। ऐसी ही स्थिति में प्रेमी अथवा प्रिया विवाह-बन्धन को आदर्श समझने लगती हैं।[1] व्यक्ति में जो स्वीय प्रेम अर्थात् अपने ऊपर जो प्रेम होता है, उसका वह उत्सर्ग कर देता है। अपने प्रेम के लिए अर्थात् प्रिया-प्राप्ति में व्यक्ति अपनी महत्ता खो देना चाहता है। प्रिया भी एक दिन अपना उत्सर्ग कर बैठती है और अपने प्रिय के इशारों के सामने नाचने लगती है। भक्ति में इसका अच्छा उदाहरण मिलता है। भक्त अपने स्वीय प्रेम (स्वीय काम-शक्ति) को अपनी भक्ति (प्रेम) के विषय में लगा देता है।

१—"The lover sees Helen's beauty in the brow of Egypt."

—लैला की सुन्दरता मजनू की आँखों से ही ज्ञात होगी।

वह आराध्य देव के सामने स्वयं तुच्छ होने लगता है। वह कहने लगता है कि हे देव ! मैं जो कुछ करता हूँ, वह सभी तुम्हारे लिए है। मैं राधा हूँ तुम कृष्ण हो। तुम्हारे विना मैं रह नहीं सकता हूँ। उठते-बैठते मुझे तुम्हारी ही रट लगी रहती है। तुम्हें जो कुछ प्रिय है, वह मुझे प्रिय है। तुम्हारे भक्त मेरे लिए पूज्य हैं। भगवन् !

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥[1]

—अर्थात् जो प्रीति अविवेकियों के विषय-जाल में दृढ रहती है; भगवन्, वैसी ही मेरी प्रीति तुम्हारे प्रति हो। भक्तों की ऐसी दशा हो जाती है कि उनके आदर्श देव का नाम उनके लिए अति पवित्र हो जाता है। उनके आराध्यदेव जो-जो रूप-रंग धारण करते हैं, उनमें उन्हें बहुमान-भाव उत्पन्न होता है। नृसिंह पुराण में आया है—

'पक्षपातेन तन्नाम्नि मृगे पद्मे च तादृशि।
बभार मेघे तद्वर्णे बहुमानमतिं नृपः ॥[2]

—अर्थात् उनके नाम में जो पक्षपात था उससे उस नाम को धारण करनेवाले और उनके समान रहनेवाले मृग में, पद्म में और उसी वर्णवाले मेघ में राजा को बहुमान की मति उत्पन्न हुई। भक्त अपने आदर्शदेव के लिए सब कुछ करता है। इस विषय में उपमन्यु का उदाहरण बहुत विख्यात है—

अपि कीटः पतंगो वा भवेयं शंकराज्ञया।
न तु शक्र त्वया दत्तं त्रैलोक्यमपि कामये ॥[3]

—अर्थात् शंकर की आज्ञा से मैं कीट भी हो जाऊँगा। पतंग बनने में मुझे किसी प्रकार का संकोच नहीं रहेगा। हे शक्र, मैं तुम्हारा दिया त्रैलोक्य भी नहीं चाहता हूँ। इस प्रकार के आदर्शकरण का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति अपनेको भगवदर्पण कर लेता है और उसकी स्थिति गीता के अनुसार यह होती है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥[4]

—'तुम सभी धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त करूँगा', अर्थात् भक्त अपने सभी धर्मों और अधर्मों को भगवदर्पण करता है, दुःख का त्याग करता है और विश्वास करने लगता है कि इष्टदेव उसकी रक्षा करेगा।

भगवान् की कल्पना भी एक प्रकार का आरोप और आदर्शकरण ही है। जितने उत्तम गुणों की कल्पना की जा सकती है, उन सभी का वह भांडार है। वह वही है, जिसमें संघ की दृष्टि में अत्युत्तम नीति है। वह आदर्श है और है पुरुषोत्तम। भगवान्

१—विष्णुपुराण : १, २, १७

२—नृसिंहपुराण : २

३—महाभारत : अनुशासन-पर्व, अध्याय १४

४—श्रीमद्भगवद्गीता : अध्याय १८, श्लोक ६६

एक नहीं है, वह अनेक है।[1] अनेक होते हुए वह एक है। व्यक्ति की इच्छाओं के भेद से भगवान् भिन्न होता है। भगवान् की भावना निरन्तर बदलती रहती है। ईश्वर के अनेक वर्णन हैं। ईसाइयों का भगवान् परमपिता है जो सभी को पुत्रवत् प्रेम करता है। मुसलमानों का भी, पिता ही कहा जाता है। गोपिकाओं का वह प्रिय है; प्राकृतजनों की वह प्रचंड शक्ति है जो रक्त-मांस और मनुष्य-वलि चाहती है; तन्त्रवादियों का शंकर और शक्ति है; वह किसी की माता है तो किसी का पिता। किन्तु, उपर्युक्त सभी भावनाओं में समानता पाई जाती है, जो निम्नांकित रूप से व्याख्यायित हैं—

(१) हमसे भिन्न कोई प्रचण्ड शक्ति है, जिनकी प्रभुता के कारण ही समस्त संसार संचालित है।

(२) वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी है।

(३) उसकी प्रसन्नता प्रत्येक व्यक्ति का साध्य है। उसके अनुकूल रहने पर ही व्यक्ति का कल्याण हो सकता है।

(४) उसे दण्ड देने की शक्ति है, किन्तु वह हमारी रक्षा करता है।

(५) उसे तुष्ट करने के लिए जो साधना की जाती हैं, वह प्रार्थना ही तो है, जिसका उद्देश्य अपने को उस शक्ति से तादात्म्य स्थापित करना है।

सभी प्रकार के भक्तों में एक बात समान रूप से पाई जाती है, जिसकी पहली स्थिति है अशान्ति। भक्त अपने को निस्सहाय समझते हैं और अपने में किसी अपूर्णता का आभास पाते हैं, जिसकी पूर्त्ति दूसरे पर अवलम्बित रहती है। दूसरी स्थिति है विश्वास। भक्त का यह विश्वास रहता है कि उसके अतिरिक्त जो शक्तियाँ हैं, उनसे अशान्ति की स्थिति दूर की जा सकती हैं। भगवान् के विषय का चिन्तन लौकिक अथवा भवीय है। जन्म के समय उसका ज्ञान नहीं रहता। बच्चों के मन में कोई भगवान् नहीं है। प्रारम्भ में बच्चा अपने लिए आप ही भगवान् है। बच्चों के जगत् में अपने से भिन्न सर्वशक्तिमान् अन्य कोई नहीं होता। बच्चा समझता है कि उसके शब्दों का महत्त्व अत्यधिक है। वह शाप देता है, 'तू मर जा'। जबतक बच्चा पर-निर्भरता का आस्वाद भरपूर नहीं पा लेता, तबतक उसमें भगवान् के अंकुर नहीं जमते। भगवत्कल्पना का क्रम-विकास चमत्कार से भरा है, जिसका ज्ञान बच्चों के जीवन के अध्ययन से प्राप्त हो

१—"त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥—गीता : १७–२
यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजंते तामसा जनाः ॥—गीता : १७–४
यांति देवव्रता देवान् पितृन् यांति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्याः यांति मद्याजिनोऽपि माम् ॥"—गीता : ९–२५

—अर्थात् श्रद्धा त्रिविध है। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। सात्त्विक लोग देवताओं की पूजा करते हैं, राजसी लोग यक्ष और राक्षसों की पूजा करते हैं और तामस जन, प्रेत और भूतों का यजन करते हैं। देवव्रत लोग देवताओं को, पितृपूजक पितरों को, भूतयाजक भूतों को और मेरी पूजा करनेवाले मुझे पायेंगे।

सकता है। हमने पहले ही कह दिया है कि बच्चे में वस्तुदृष्टि का निर्माण क्रमशः होता है। जो अनजाने विना उसकी इच्छा के उसपर अपना अधिकार जमा सके, वही उसके लिए वास्तविक जँचता है। बचपन में सर्वप्रथम माता, पिता, दाई आदि ही बच्चे को शक्तिमान् दिखाई देते हैं; क्योंकि उन्हीं की इच्छाओं पर उसकी प्रीति और तृप्ति निर्भर करती है। उनकी अनिच्छा से बच्चे की इच्छाएँ तृप्त नहीं हो सकतीं। इसी बाह्य-शक्ति से क्रमानुसार भगवान् की कल्पना उत्पन्न होती है। आरम्भ में माता, पिता आदि की शक्ति अपनी शक्ति से अधिक मालूम होती है, अतः बच्चा अपनी सर्वशक्तिमत्ता को उनपर आरोपित करता है और उन्हें सर्वशक्तिमान् समझता है। धीरे-धीरे बच्चे में वस्तु-दृष्टि, विषयदृष्टि विकसित होती जाती है। उसे भान होने लगता है कि माता-पिता भी सर्वशक्तिमान् नहीं हैं; क्योंकि उन्हें भी समाज के अनुकूल चलना पड़ता है और वे भी परतन्त्र हैं। अतः क्रमानुसार समाज माता-पिता से अधिक शक्तिमान् लगने लगता है। किन्तु, समाज के नियन्ता और चलानेवाले भी तो होते हैं, अतः समाज से अधिक शक्तिमान् कुछ अन्य लोग जँचने लगते हैं। नेता या राजा समाज को चलानेवाले होते हैं, अतः व्यक्ति उन्हीं को सर्वशक्तिमान् समझने लगता है। जब उनमें भी सर्वशक्तिमत्ता का व्यभिचार मालूम होने लगता है, तब बच्चे को सर्वशक्तिमत्ता आश्रयहीन-सी जँचने लगती है। 'सर्वशक्तिमत्ता प्रिय है', ऐसी अनुभूति बच्चे को होने लगती है, अतः वह उसकी भावना को छोड़ नहीं सकता। जितने दृश्य विषय हैं, सभी में उसे उसका अभाव मालूम पड़ता है। अतः, वह सर्वशक्तिमान् दैवी शक्तियों में विश्वास करने लगता है। जब एक बार सर्वशक्तिमान् ईश्वर की भावना रूढ हो जाती है, तो उसके कल्पित रूप में परिवर्त्तन होने लगता है। बढ़ती हुई बुद्धि के साथ-साथ ईश्वर की महत्ता बढ़ती जाती है। पहले अनेक शक्तियों का बोध होता है, किन्तु कालान्तर में एक ही सर्वशक्ति का भान होता है। मनुष्य का स्वभाव एकता की खोज करता है। पहले भय और दुःख देनेवाले भूतों की सृष्टि होती है और कालान्तर में उनसे बचानेवाले ईश्वर की। अन्त में ईश्वर उदासीन बन जाता है, अर्थात् विवेकी में उसका कोई स्थान ही नहीं रहता है।

मन्दबुद्धि भिन्नता देखता है, किन्तु प्रखरबुद्धि एकता पाता है। पशु भिन्नता और मानव एकता देखता है। विकास का मर्म है भिन्नता से एकता का स्थापन। अनेक वस्तुएँ गोचर होती हैं और वैषयिक दृष्टि उनकी भिन्नता पर बल देती है। किन्तु, आध्यात्मिक दृष्टि एकता खोजने लगती है। भिन्न वस्तुजाल घटते-घटते पञ्च महाभूतों में अवसित होते हैं। उनको सूक्ष्म करते-करते तन्मात्राएँ, अहंकार, बुद्धि, प्रकृति आदि की बारी आती है। गुलाब, चमेली, मल्लिका आदि फूल दिखाई पड़ते हैं, किन्तु सभी में पुष्पत्व की प्रतीति क्रम से होती है और उसके उपरान्त वृक्षत्व की, तथा तदनन्तर द्रव्यत्व की अनुभूति होती है। इसी क्रम से चित्त एकता की ओर बढ़ता है। भगवान् की सृष्टि इसी एकता की खोज में एक सोपान है। सर्वप्रथम भगवान् सौदागर का रूप धारण करता है। वह ऐसा महान् पुरुष है, जो प्रसन्न होता है और अप्रसन्न भी। वह मन्दिर में नारियल फोड़ने से, काबा में काले पत्थर पर दाढ़ी

फटकाने से, क्रॉस के सामने सिर झुकाने से तुष्ट होता है। कुछ संस्कारों से वह बहुत प्रसन्न होता है और स्वर्ग देता है। स्वर्ग में व्यक्ति की सारी अपूर्ण इच्छाएँ तृप्त हो सकती हैं। भारतीयों के स्वर्ग में नन्दनवन, कल्पतरु,[१] अप्सराएँ, अमृतत्व, चिरयौवन प्राप्त होते हैं; अरबवालों के स्वर्ग में अति संख्या में खजूर के पेड़, पानी, परियाँ आदि। ये सभी वस्तुएँ अन्त में, सुख के लिए ही तो हैं! और, धर्म की कल्पना ने अबतक जो अतिशय सुख की सृष्टि की है वह, अन्त में, फिर उसी वैषयिक भौतिक सुख का ही द्योतक है। हमारे भगवान् हमारी इच्छाओं की पूर्ति करनेवाले हैं। दार्शनिक जेम्स कहते हैं—

'जिन देवताओं की हमें आवश्यकता है, उन्हीं देवताओं में हम विश्वास करते हैं। भगवान् जो हमसे चाहते हैं वे, वास्तव में, हमारी इच्छाओं की उपबृंहित इच्छाएँ हैं। जो हम दूसरों से चाहते हैं और अपने से चाहते हैं वही भगवान् भी हमसे अधिक मात्रा में चाहता है।'[२] भगवान् साधुओं का परित्राण करता है और दुर्जनों का संहार करता है। भगवान् हमारी गायों, बाछियों आदि की रक्षा करनेवाला है। मुसलमानों का भगवान् काफिरों के कत्ल से प्रसन्न होता है। हिन्दुओं का ईश्वर कुछ उदात्त है। वह किसी की हत्या से तृप्त नहीं होता है। वह सभी की रक्षा से तृप्त होता है। जो सुन्दरता का उपासक है, उसका भगवान् शक्ति का सुन्दर अंश है। जो शान्ति और सुख-भोग चाहता है, उसका ईश्वर शिव है और विष्णु। जो युद्ध चाहता है, उसका ईश्वर रुद्र है। बलार्थी इन्द्र की पूजा करता है।[३]

प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ईश्वर की कल्पना करने लगता है और उसी की सेवा में तत्पर रहता है। इस प्रकार से आदर्शकृत ईश्वर और भक्त में जो सम्बन्ध होता है, वह अनेक प्रकार का हो सकता है। वही सम्बन्ध भक्ति कहा जाता है। भक्ति और प्रेम में भेद नहीं है। भक्ति कितने प्रकार की होती है और उसमें तथा प्रेम में क्या सम्बन्ध है, इसका विवेचन हम आगे के अध्याय में करेंगे। यहाँ पर इतना ही अभिप्रेत है कि प्रेमी प्रिया को, अथवा प्रिया प्रिय को, और

१—आनन्द देता है, अतः नन्दनवन की संज्ञा मिली है। कल्पतरु—कल्पनातरु अर्थात् इच्छाओं अथवा कामनाओं की पूर्त्ति करनेवाला कहा जाता है। देखिए—

'मनःप्रीतिकरः स्वर्गो नरकस्तद्विपर्ययः।
नरकस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तम॥'

—अर्थात् जो मन को प्रिय हो, वही स्वर्ग है; उसका जो विपरीत हो, अर्थात् दुःख देनेवाला हो, वह नरक है। पुण्य स्वर्ग और पाप नरक है। —विष्णुपुराण : अंश २, अध्याय ६

२—'The Gods we standby are the Gods we need and can use, the Gods whose demands on us are re-inforcements of our demands on ourselves and on one another.'

—*William James : 'The Varieties of Religious Experience', p. 331.*

३—इस सम्बन्ध में डॉ० फ्रायड-रचित *'The Future of An Illusion'* नामक ग्रन्थ पढ़ने योग्य है।

भक्त ईश्वर को अपना आदर्श समझते हैं तथा उसीके अनुसार व्यवहार करते हैं। यह व्यवहार दो प्रकार का है—(१) अपने को तुच्छ समझते-समझते अन्त में अपने अस्तित्व का बोध ही भूल जाना और (२) अपने को बढ़ाते-बढ़ाते भगवान् से तादात्म्य स्थापित करना। इन दोनों व्यवहारों को संकोच-मार्ग एवं विकास-मार्ग की संज्ञा दी जाती है। इसका विवेचन निम्नलिखित है—

(१) संकोच-मार्ग—

इसमें भक्त अपने चक्र को संकुचित करते जाते हैं और जो-जो उनके अनुकूल नहीं जँचते, उनका त्याग कर देते हैं। इस प्रकार भक्त संकोच-मार्ग द्वारा अपनी अहंता का लोप-सा चाहते हैं। वे भगवद्दृष्टि में अपने को तुच्छ समझते हैं। वे कहा करते हैं—

पापोऽहं पापकर्माऽहं पापात्मा पापसंभवः।

—अर्थात् मैं पापी हूँ, पापकर्मा हूँ, पापात्मा हूँ, पाप से उत्पन्न हुआ हूँ।

(२) विकास-मार्ग—

इसके अनेक प्रकार हैं। व्यक्ति आरम्भ में समझने लग जाता है कि वह भी भगवान् का अंश है, किन्तु तुच्छ अंश। विकास-मार्ग के अनुसार भगवान् भक्त को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधन बनाता है। इस अवस्था में जो कुछ अनुकूल और प्रतिकूल संवेदनाएँ पाई जाती हैं, भक्त की दृष्टि में, वे सभी उचित ही जँचती हैं। मार्क्स अरीलियस ने कहा है—

"ऐ विश्व, जो कुछ तुम्हारे अनुकूल है, वह मेरे लिए भी अनुकूल है। जो तुम्हारे लिए समयोचित होता होगा, वह मेरे लिए न शीघ्र, न विलम्बमान होगा। ऐ प्रकृति, तुम्हारी ऋतुएँ जो फल देंगी, वे ही मेरे लिए फलीभूत होंगे। प्रकृति, सभी तुम्हीं से निकले हैं, तुम्हीं में अवस्थित हैं और तुम्हीं में लीन होते हैं। यदि देवता मेरी अथवा मेरे बाल-बच्चों की चिंता नहीं करते हैं, तो उसके लिए भी कारण है। यदि वह मुझे मार भी दे, तोभी मैं उनपर भरोसा रखूँगा।"[१]

"यही अटूट विश्वास था जिसके कारण भीष्म पितामह ने चक्र-गदाधारी कृष्ण से प्रार्थना की, 'आओ आओ, जगन्निवास, मुझे मारो और पार्थ की

१—"Everything harmonizes with me which is harmonized to thee, O Universe! Nothing for me is too early nor too late, which is in due time for thee. Everything is fruit to me which thy seasons bring, O Nature, from thee are all things, in thee are all things, to thee all things return."

—*William James: 'The Varieties of Religious Experience', p. 44.*

"If Gods care not for me nor my children, here is a reason for it; Though he slay me, yet will I trust him."

—*Vide, p. 26—The circumscription of the topic.*

डाकिनी कहकर भर्त्सना दे सकते हैं। जिसकी मृत्यु के लिए हम कल तक तड़पते थे, जिसके लहू के लिए कल तक हम पिपासित थे, उसकी मृत्यु के उपरान्त हम उसी को दैवी प्रतिभा से सम्पन्न, शहीद, उद्धारक आदि की उपाधियाँ प्रदान कर सकते हैं। इस विवेचन से स्पष्ट विदित होता है कि आदर्शीकरण का एक अन्य प्रकार भी होता है। आदर्शीकरण में जो शक्ति अभिव्यक्त होती है, वह उभयमुखी है। कभी तो वह विषय के उत्कर्ष को बढ़ाने के लिए अहंकार की ममता से दूर हटकर बहिर्मुख होती है और कभी थोड़े से अवरोध से वह शक्ति फिर अन्तर्मुख अथवा प्रत्यग्गमित हो सकती है। इससे एक ही विषय के प्रति जो द्वेष या प्रेम तथा प्रेम या द्वेष होता है, उसका मर्म विदित हो जाता है। ऐसी अनुभूति सभी व्यक्तियों को, अपने अनुदिन की घटनाओं से, होती है। समाज जिस व्यक्ति को धर्मविध्वंसक समझकर चिता पर जलाता है, अथवा उसे बहिष्कृत करता है, उसी को उसके मरण के उपरान्त शहीद कहकर उसका स्मृति-चिह्न स्थापित करता है। ईसामसीह और अन्य प्रवर्त्तक फाँसी पर लटकाये गये, किन्तु फल क्या हुआ? संसार में उनका मान बढ़ा, उनका मत फैला और वे संसार के इतिहास के अमरचरित बन गये। स्पष्ट है, व्यक्ति के प्रति पहले जो भीषण द्वेष रहता है, वह भीषण आकर्षण बन जाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उस व्यक्ति के प्रति पहले आकर्षण नहीं था। किन्तु, वह विरोधी आकर्षण था और था वह प्रच्छन्न। अन्य तथ्यों से वह ढँक-सा गया था। शिशुपाल, हिरण्यकशिपु, रावण आदि की भक्ति इसी प्रकार की थी।[1] सभी विरोधों एवं द्वेष के तल में बहुमान राग पाया जाता है; क्योंकि द्वेष के पूर्व राग सिद्ध है। उस राग का वृक्ष शहीद के त्याग से पल्लवित हो उठता है और विरोध की स्मृति पानी-हवा बनकर उसे पल्लवित और पुष्पित कर देती है। बहुत-से पुत्र अपने पिता को जीवन-भर विरोधी समझते हैं, किन्तु वे ही अपने पिता के मरण के उपरान्त बड़ी श्रद्धा से उनका श्राद्ध करते हैं। स्पष्ट है, पहले का द्वेष अब राग बन बैठा। सभी शहीद धर्म के लिए मरे।[2] इश्क के दर का जीना शूली है। जो शूली पर चढ़ता है उसी की चिता से त्याग एवं प्रेम की विश्वमोहिनी सुगन्धि निकलती है जो दिग्दिगन्त को विमोहित कर देती है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि व्यक्ति के इस प्रकार के उभयमुखी व्यवहार का कारण क्या है। बात यह है कि चित्त में तत्सम्बन्धी विषय के प्रति पहले से ही दो व्यूह (ग्रन्थियाँ) पाये जाते हैं, जिनमें एक तो व्यक्ति के अनुकूल होता है और दूसरा प्रतिकूल। प्रतिकूल भावना प्रबल होती है, अतः अनुकूल का निरोध करती है। इस प्रकार चित्त में प्रतिकूल भावना का ही राज्य होने लगता है। जब व्यक्ति मरकर शहीद हो जाता है तो उसकी अनुपस्थिति

१—'गोप्यः कामाद् भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धात् वृष्णयो यूयं सख्याद् भक्त्या वयं विभोः॥'

—अर्थात् गोपियों ने काम से, कंस ने सख्य से, शिशुपाल आदि ने द्वेष से, वृष्णियों ने सम्बन्ध से, तुमलोगों ने सख्य से और हमने भक्ति से (कृष्ण को पाया)।

२—'चढ़ा मंसूर शूली पर, पुकारा इश्कबाजों को।
यह उनके दर का जीना है, चढ़ आवे जिसका दिल चाहे।'—अकबर

में द्वेष का व्यूह अर्थात् प्रतिकूल व्यूह शिथिल पड़ जाता है। मरण के उपरान्त निरुद्ध बातें जाग उठती हैं और उस व्यक्ति को आदर्श बना देती हैं। आदर्श के साथ श्रद्धा चलती है, अतः शहीद की मृत्यु के उपरान्त जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह पूर्व-द्वेष का प्रायश्चित्त-मात्र है। एक बार किसी को आदर्श मानने के बाद व्यक्ति अपनी भिन्नता को उससे दूर करने की चेष्टा करता है। भक्त अपना सर्वस्व भगवान् को अर्पित कर उनका अत्यन्त प्रीतिपात्र बनता है। एक-एक वस्तु के त्याग के साथ वह भगवान् के समीप आने लगता है और क्रमशः दासभाव से सखाभाव, सखाभाव से स्त्रीभाव पाता है। भक्ति का क्रम विचित्र है। उसमें कई सोपान हैं, यथा—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्च्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यध्य तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥[१]

—'श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पाद-सेवा, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन, इस प्रकार से भक्ति नौ प्रकार की है। इन साधनों, अर्थात् नवधा भक्ति से व्यक्ति की अनेक दशाएँ होती हैं; यथा—(१) सम्मान, (२) बहुमान, (३) प्रीति, (४) विरह, (५) इतर विचिकित्सा, (६) महिमाख्याति, (७) तदर्थ प्राणस्थान, (८) तदीयता, (९) सर्वतद्भाविता। इन सबमें आत्म-निवेदन और आत्म-समर्पण सर्वश्रेष्ठ हैं। जब आत्म-समर्पण पूर्ण होता है तब भक्त अपने को और आराध्यदेव को भिन्न नहीं पाता है। भक्ति का मूल-मन्त्र इसी अद्वयावस्था की स्थापना है। भक्त की यह अनुभूति उच्चकोटि की समझी जाती है। कहा भी है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रोहि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥

—अर्थात्, हे देव, हम दोनों में भेद नहीं है, तथापि मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे नहीं हो। लहर समुद्र की है, समुद्र लहर का नहीं।[२] अतएव, भक्ति-साहित्य में उच्चकोटि की भक्ति गोपी-भक्ति समझी जाती है। जार के प्रति जारिणी का भक्ति-अनुराग प्रेम की

१—भक्तिरत्नावली : तृतीय विरचन, ३, ५, २३, २४

२—"The Ego and the You have ceased to exist between us, I am not I, you are not you, also you are not I; I am at the same time I and you, you are at the same time you and I. I am confused whether you are I or I you."

—यह एक सूफी का वचन है, जिसे श्री ओटो रैंक ने अपनी पुस्तक 'The Trauma of Birth' के पृष्ठ १७७ पर उद्धृत किया है। इस वचन का हिन्दी-रूपान्तर निम्नलिखित है—

हम दोनों के बीच में 'अहं' और 'त्वं' दोनों नहीं हैं। मैं, मैं नहीं हूँ; तू, तू नहीं है; तू 'मैं' भी नहीं है; मैं, मैं और तू दोनों हूँ; तू, तू और मैं दोनों है। मुझे भ्रम हो रहा है कि तू मैं है या मैं तू हूँ। ईशोपनिषद् में भी यही आया है—

'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'—अर्थात् आदित्यमण्डल में रहनेवाला पुरुष कौन है? वह मैं ही हूँ।

पराकाष्ठा का एवं भक्ति का एक सबल उदाहरण है। गोपियाँ अपने को कृष्ण से एकात्म समझती हैं।[१] इस एकात्मता का मर्म हमें चित्त-यन्त्र की एक विशेष क्रिया का पता देता है, जिसे हम 'तादात्म्य' कहते हैं। तादात्म्य का अर्थ है, वही हो जाना। जिसको व्यक्ति आदर्श समझता है, वह उसी के समान अर्थात् वही होना चाहता है। आदर्शकरण में आदर्श की अपेक्षा व्यक्ति की महत्ता खो-सी जाती है, किन्तु तादात्म्य में व्यक्ति अपने अहंकार के त्याग से उस खोई हुई महत्ता को पुनः प्राप्त कर लेता है। अपने आदर्श के उत्कर्ष में व्यक्ति अपने को उपबृंहित समझता है। ऐसी स्थिति में विभेद चला जाता है।

तादात्म्य का आरम्भ बचपन में हो जाता है। शिशु अपने को अपने पिता, माता आदि से एकात्म समझते हैं। बच्चा अपने पिता के ही समान व्यवहार करता है। वह पिता ही बनना चाहता है। पिता के समान चलने का प्रयत्न करता है। पिता के अनुकरण में कोट-पतलून पहनकर पिता का अभिनय करने लगता है। तादात्म्य भी उभयमुखी है। अधिक प्रेम अत्यन्त द्वेष में भी परिणत हो सकता है। इसका कारण यही है कि संवेग का स्वभाव ही उभयमुखी है। क्रिया से प्रतिक्रिया होगी और आकर्षण से विकर्षण। यह अनवरत घूमनेवाला चक्र है। इसी के मूल में तादात्म्य का रहस्य छिपा है। किन्तु, तादात्म्य होता कैसे है ?

तादात्म्य के पूर्व विषयी और विषय में भेद रहता है। विषयी की आँखों में विषय की महत्ता अत्यधिक रहती है। तादात्म्य की स्थिति में क्रिया विषयी में होती है, किन्तु विषयी अपने को विषय के नाम से पुकारने लग जाता है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कोई भक्त है, जो शिव की पूजा करता है। जैसे-जैसे शिव पर प्रेम बढ़ता जाता है, उसे अपने आदर्शदेव का वियोग असह्य होने लगता है। भक्त अपने इष्टदेव को अपने साथ रखना चाहता है। सूरदास ने कहा है—

बाँह छुड़ाए जात हो निबल जानि के मोहिं।
हिरदै सों जब जाइहौ मर्द बदौंगो तोहिं॥[२]

सामीप्य की इच्छा में भक्त लीन रहता है और क्रमशः उसी का ध्यान करते-करते वह तदाकार हो जाता है। यदि शिव की भिन्न कल्पना छोड़नी है, तो भक्त उसे छोड़ देगा, किन्तु ऐसा करने के पूर्व उसको वह चित्तस्थ कर लेता है। वह कहता है—'यदि माता को छोड़ना है तो छोड़ दूँगा, किन्तु मैं पहले उसे अपने चित्त में ही रखूँगा, वही बन जाऊँगा और तब उसे छोड़ने से मुझे दुःख नहीं होगा।' ऐसी प्रतिज्ञा से भक्त अपने को मातृमय बना लेता है। ऐसा करने

१—एकात्म्य की विविध अवस्थाएँ हैं, जैसे, सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य। कुछ लोग गोलोकवासी बनने की इच्छा रखते हैं, कुछ लोग उससे एक कदम आगे बढ़ते हैं और अपनी प्रिय वस्तु के पास रहकर उसकी मधुरिमा का पान करना चाहते हैं। भक्तों की परमावधि यहीं तक है। सायुज्य सम्पूर्ण तादात्म्य है। उसमें भगवान् और भक्त की भावना ही नहीं रहती। कात्यायनी नाम का एक व्रत है। उसमें स्त्रियाँ कृष्ण का वेष धारण कर तद्रूप होने की चेष्टा करती हैं।

२—सूर-सुधा : भूमिका, पृष्ठ ६

से विभेद का ज्ञान चला जाता है और व्यक्ति अपने को ही माता अथवा इष्टदेव या प्रियतम समझ लेता है।) एक लड़के की बात है। उसकी बिल्ली मर गई। उसे बड़ा दुःख हुआ। दुःख-विध्वंस कैसे हो? लड़का विगलित हो उठा। अन्त में वह लड़का बोल उठा, 'मैं बिल्ली हूँ। यह कहकर वह स्वयं 'म्याऊँ-म्याऊँ' करने लगा। वह खाने के लिए थाली के सामने नहीं बैठता था। चार वर्ष की एक लड़की अपने पिता से कहती है, 'आप क्यों रोते हैं, पिताजी? माँ मर गई, तो क्या? मैं माता बनूँगी।' 'नानी, तुम्हें मैं इतना प्रेम करता हूँ, इतना प्रेम कि मैं तुमसे विवाह कर लूँगा।' ये सभी उदाहरण सभी छोटे बच्चों की तादात्म्य-स्थिति के उदाहरण हैं। यह देखने में आता है कि बालिकाएँ खिलौनों से खेलते समय अपने को माता-पिता समझ बैठती हैं और उन खिलौनों के साथ मातृ-पितृवत् व्यवहार करने लगती हैं।

युवावस्था में तादात्म्य तीव्र रूप धारण करता है। प्रत्येक युवक ने, जिसमें यौवन का रक्त बहता रहा है, कई बार महत्त्वाकांक्षा के सुमनोज्ञ रथ पर चढ़कर भ्रमण किया होगा। जब हम राणा प्रताप, शिवाजी, पुत्ता, विश्वासराव आदि की वीररस-पूर्ण रण-गाथाएँ सुनते हैं, तो क्षण-भर के लिए हमारी वैयक्तिक सत्ता नष्ट हो जाती है और हम तद्रूप हो जाते हैं। लगता है, उनकी सारी वीरता और उमंग हमारी ही है। 'अभिमन्यु-वध' पढ़ते समय, वास्तव में, हमें अनुभव होने लगता है कि हम ही अभिमन्यु हैं और दसो महारथी हमपर घोर अन्याय कर रहे हैं। उस समय हमारी नस-नस में अभिमन्युपन भर जाता है। अभिनय करते समय अभिनेता का प्रयत्न यही रहता है कि वह दर्शक को तन्मय कर दे। अभिनेता का प्रधान उद्देश्य ही है नाटक के दृश्य एवं परिस्थिति के अनुकूल भावों एवं संवेगों का अभिनय कर दर्शकों को तद्रूप बना देना। जबतक दर्शक पात्र के साथ एक ही भाव के सूत्र में पिरो न उठें और जबतक वे पात्रों के साथ एकाकार न स्थापित कर लें, तबतक अभिनेता के प्रयत्न सफल नहीं कहे जा सकते। एक बार बंगाल में 'नीलदर्पण' का अभिनय हो रहा था। प्रसिद्ध अभिनेता जालिम पात्र का अभिनय कर रहा था। दृश्य था एक अबला पर आक्रमण। अपने हाव-भाव अथवा आंगिक अभिव्यञ्जन द्वारा अभिनेता ने दर्शक-मण्डली से परिस्थिति के अनुकूल तादात्म्य स्थापित कर लिया। दर्शकों में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी उपस्थित थे। उन्होंने उस अबला के साथ अपने को एकात्म समझा और अपना जूता उठाकर जालिम के ऊपर फेंक दिया। क्या था, अभिनेता ने जूते को सिर पर चढ़ाया और झुककर प्रणाम किया। स्पष्ट है, अभिनेता ने अपने पात्र का सम्यक् निर्वाह किया। उसके अभिनय ने विद्यासागर-जैसे विद्वान् को भी वास्तविकता का बोध करवाया और उन्हें धोखे में डाल दिया। विद्यासागर भूल गये कि वे नाटक देख रहे हैं। इस उदाहरण से विदित होता है कि जबतक वैयक्तिक ज्ञान प्रेक्षकों में बचा रहता है, तबतक अभिनेता अपनी अभिनय-निपुणता में पारङ्गत नहीं कहा जा सकता। इसी तादात्म्य के रूपान्तर कला-कौशल, राष्ट्रीयता, विश्व-बन्धुत्व आदि में पाये जाते हैं। कवि अपनी कविता में मस्त हो जाता है। कविता लिखते समय वह वही हो जाता है। जिस पात्र की सृष्टि करता है उससे उसका तादात्म्य स्थापित रहता है, और इसी

तादात्म्य पर कवि की सफलता निर्भर करती है। कविता की रचना के उपरान्त कवि पुनः वैसा नहीं लिख सकता; क्योंकि उसकी हृत्तन्त्री से जो स्वर फूटता है, वह एक ही बार और अनायास ही। इसीलिए, लोग कहते हैं कि किसी कविता को जितने अच्छे ढंग से आलोचक अथवा विमर्शक समझा सकते हैं, उस ढंग से उस कविता का स्रष्टा स्वयं कवि नहीं समझा सकता। कवि को कोई स्वर्गीय प्रेरणा उस रूप में उसके हृदय-स्रोत को बहाने के लिए विवश करती है, जिसे अन्तःप्रेरणा कहा जाता है। अन्तः-प्रेरणा के सामने कवि मुग्ध हो सिर झुकाता है, और वह जिस प्रकार उसकी लेखनी को चलाती है उसी प्रकार कवि का हाथ चलने लगता है। वह उस समय बाह्य संसार को नहीं जानता है। वह केवल अपने भाव-प्रपञ्च में ही तन्मय रहता है। उसके लिए जगत् के सारे द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं। अपने विषय के साथ वह तदात्म हो जाता है।

राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए संग्राम करते समय नेता अपने को आन्दोलन एवं जागृति के साथ एक समझते हैं। वे आन्दोलन के साथ परिणय-सूत्र में बँध जाते हैं।[१] यहाँ 'परिणय' शब्द का प्रयोग इसलिए हुआ है कि आध्यात्मिक अद्वयानन्द को पाने का तात्कालिक भौतिक साधन प्रणय ही है, जिससे 'त्रिपुटी' का नाश हो जाता है। आन्दोलनों में भाग लेनेवाले लोग एक-दूसरे को भाई समझते हैं, सभी में एक तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। 'हम सब एक मातृभूमि की सन्तान हैं, उसी का रक्त हममें बह रहा है, उसकी पीडा मेरी पीडा है, उसके कल्याण में मेरा कल्याण है, और उसके भय में मेरा भय; क्योंकि वही मैं हूँ।' ऐसी है तादात्म्य की भूमि। राष्ट्रीयता में तादात्म्य का केन्द्र राष्ट्र है। जो लोग उसकें लिए त्याग करते हैं, वे एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं।

समाज तथा धार्मिक संप्रदायों में भी ऐसे ही तादात्म्य-सम्बन्ध बने रहते हैं। संस्थाओं में लोग एक ही उद्देश्य को केन्द्र बनाकर आपस में एक-दूसरे के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। धार्मिक संप्रदाय में गुरु तथा भगवान् के कारण और समाज तथा आन्दोलनों में गणपति, सभापति, नेता, राजा, अध्यक्ष आदि के कारण अनुयायियों में तादात्म्य-सम्बन्ध निरूढ होता है। नेता की दृष्टि में सभी बराबर अथवा एक हैं, गुरु की दृष्टि में सभी शिष्य समान हैं आदि। इस कारण से अनुयायी अथवा छात्र आदि आपस के भेदों को भूल जाते हैं और उनमें तादात्म्य की उत्पत्ति होती है।

अनुदिन के व्यवहार में तादात्म्य दया-दान के रूप में अथवा जाति-सम्बन्ध, कुटुम्ब-सम्बन्ध आदि के रूप में प्रकट होता है। 'पुत्रभार्यादिषु, सकलेषु विकलेषु वा अहमेव सकलो विकलो वेति।' यही अपनापन जाति, समाज, राष्ट्र आदि के मूल में है। सभी में तादात्म्य-सम्बन्ध कुछ-न-कुछ स्वार्थ को केन्द्र बनाकर प्रकट होता है और निरूढ होने के अनन्तर उससे सञ्चालित व्यवहार में उस स्वार्थ का ज्ञान पद-पद पर अनुभूत नहीं होता। स्वार्थ का पहला चक्र, अर्थात् अपना अत्यन्त

१—They are wedded to the movement.

निकटवर्त्ती चक्र है, कुटुम्ब। उसका केन्द्र स्त्री है अथवा काम की तृप्ति है। अतः जो उसी के चतुर्दिक् बढ़ते हैं, वे सब उसी के अङ्ग बन जाते हैं। अपने घरवालों के मान अथवा अपमान से हम अपना ही मान अथवा अपमान मान बैठते हैं; क्योंकि हम अपने को घरवालों के साथ एकरूप अथवा एकाकार मानते हैं। स्त्री अर्द्धांङ्गिनी है, अतः एक अर्धभाग को जो अनुभूति होगी, वह दूसरे अर्द्धभाग को अवश्य होगी। इस विषय में हम अपनी जाति का उदाहरण भी ले सकते हैं। यदि हमारी जाति को कोई अपमानित करे, तो हम सह नहीं सकते। व्यक्ति जातीयता को केन्द्र बनाकर, जाति के प्रत्येक व्यक्ति के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। जब मैं दुःखी लोगों से सहानुभूति रखता हूँ और उनकी पीडा से मेरी भावात्मक चित्तवृत्ति हिल उठती है, तो मैं गलकर उनकी आँखों से बहने लगता हूँ। मैं दूसरे की पीडा को नहीं सह सकता, इस विषय में मुझमें दूसरे के प्रति जो दया का भाव जगता है, वह वास्तव में, अपने ऊपर ही मेरी दया है। इस प्रकार से स्वार्थ के चक्र की विशालता के साथ-साथ तादात्म्य का चक्र भी विशाल होता जाता है। एक दिन वह बृहत् चक्र बढ़ते-बढ़ते केन्द्रीभूत 'मैं' के साथ समरेखा पर हो जाता है। उस स्थिति में सारा अग-जग 'मैं' ही हो जाता है। निर्झरिणी के कलरव में, प्रभात की सुनहली किरणों में, कानन की नीरवता में, जन-समूह के चीत्कार में, राजा के औद्धत्य और दर्प में, रंक की दुःख-गाथा में, विहंगम-सन्तान के अस्पष्ट मंजुल काकली-कलकल-निनाद में मैं अपने को ही पाता हूँ। सभी मैं हूँ। सारी वस्तुएँ मेरी हैं। देव 'मैं' ही है। मैं देव हूँ। अखण्ड अद्वयानन्द में भेद-ज्वालाएँ निर्वापित हो जाती हैं और अन्तःशीतलता शारदी ज्योत्स्ना के रूप में सर्वत्र छिटकने लगती है। यही तादात्म्य अस्थिर भौतिक विषयों से निकलकर हमें, अन्त में, आध्यात्मिक शक्ति से साक्षात्कार कराता है। यही मोक्ष की कुंजी है। इसी से हम अपने को तथा अपने सत्य, शिव एवं सुन्दर रूप को पा सकेंगे। ईशावास्योपनिषद् में आया है—

> यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति
> सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।
> यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः
> तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥[१]

१—ईशावास्योपनिषद् : ६, ७

आठवाँ अध्याय

शुभ-नियुक्ति

गत अध्यायों में हमने देखा है कि काम-शक्ति निरोधित होने पर सर्वप्रथम प्रत्यग्गमित होती है। इस प्रकार की प्रत्यग्गमित शक्ति समय पाकर दूसरे रूपों से प्रकट होती है। काम-शक्ति किन परिवर्त्तनों के वश में हो जाती है और उन परिवर्त्तनों के अनुकूल विषयी और विषय में क्या भिन्नताएँ आ जाती हैं, आदि प्रश्नों पर हमने गत अध्यायों में विशद रूप से प्रकाश डाला है। इन परिवर्त्तनों एवं भिन्नताओं में तादात्म्य और आदर्शकरण की विशिष्ट प्रधानता है। इनमें हमने चित्त-यन्त्र तथा शक्ति के लिए जो महत्त्व की बात देखी है, वह यह है कि निरोध समाज की परिस्थिति की प्रतिकूलता के कारण होता है और जब काम-शक्ति रूपान्तरित हो जाती है और तादात्म्य-सम्बन्ध एवं आदर्शकरण में प्रकट होती है तब वह समाज की आँखों में उत्तम और मान्य हो जाती है। पहले वह शक्ति अपने स्वरूप के कारण समाज के लिए अनभीष्ट थी, किन्तु परिवर्त्तित रूप में अर्थात् तादात्म्य-सम्बन्ध एवं आदर्श-स्थापक-शक्ति के रूप में वही अभीष्ट और वांछनीय मान ली गई। पहले निरोध का प्रयोग किया गया, किन्तु कालान्तर में उसी का दूसरे रूप में आह्वान किया गया। पहले वह शक्ति समाज के लिए अशुभ समझी जाती थी, किन्तु परिवर्त्तित रूप में वह शुभ मानी गई। पहले जो कुनीति की प्रेरक शक्ति थी, वही अब सुनीति की स्थापना करनेवाली हो गई, दूसरे शब्दों में पहले जो शक्ति अनुपयोगी थी, अब वही उपयोगी सिद्ध हो गई। इस प्रकार से जब किसी शक्ति के आरम्भिक प्रकृत स्वरूप को निरुद्ध करें, अर्थात् उसके सहज प्रवाह से उसे हटाकर समाज की दृष्टि में श्रेष्ठतर एवं उपयोगी प्रवृत्तियों से संयुक्त करें, तो इस क्रिया को शोधन, शुभीकरण अथवा ऊद्‌र्ध्वायान कहा जाता है। इस प्रकार, जिस सहज प्रवृत्ति की शुभ-नियुक्ति अथवा ऊद्‌र्ध्वायान होता है उसके तीन रूप प्रकट होते हैं—(१) मूल-प्रवृत्ति का सहज प्रवाह, (२) निरोध एवं (३) शुभीकरण अथवा ऊद्‌र्ध्वायान। प्रथमतः मूल-प्रवृत्ति सहज प्रवाह में अपनी तृप्ति चाहती है और समाज की चिन्ता नहीं करती, जिसके कारण व्यक्ति सामाजिकता के नाते दुःख पाता है। इसके उपरान्त सामाजिकता के सन्तोष के लिए, व्यक्ति अपनी सहज प्रवृत्ति के प्रवाह से उद्भूत दुःख को दूर करने के लिए उस प्रवृत्ति का निरोध करता है। अन्तिम स्थिति है उद्‌र्ध्वायान अथवा शोधन की, जिसमें व्यक्ति निरोधित प्रवृत्ति को रूपान्तरित करता है और समाज की दृष्टि में जो शुभ है उसी के अनुरूप उस प्रवृत्ति को संयुक्त करता है। ऐसा करने से व्यक्ति में उदात्त एवं उत्कृष्ट भावनाएँ जगती हैं और मूल-प्रवृत्तियों का वाष्पीकरण हो जाता है।

अतः अशुभ प्रवृत्ति को शुभ में नियुक्त करने को ही शुभ-नियुक्ति कहते हैं, जिसे हम शुभीकरण, शोधन अथवा उद्ध्वायान के नाम से पुकारते हैं। उदाहरण के लिए, लड़ने की प्रवृत्ति को लीजिए। लड़ना अपने स्वरूप से समाज की दृष्टि में निन्द्य है। दूसरे को दुःख देना पाप है। अतः युद्ध-प्रवृत्ति निरुद्ध होती है। किन्तु, उसी प्रवृत्ति के बहिर्मुख होने के लिए दूसरा मार्ग दिखाया जाता है। समाज की रक्षा के लिए अथवा राष्ट्र के लिए लड़ना चाहिए। यह धर्म है। धर्म की रक्षा में प्राण देना उत्तम है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, 'ऐ अर्जुन! धर्म के लिए लड़ो। युद्ध में मारे जाओगे, तो वीर गति पाओगे, अर्थात् स्वर्ग का भोग करोगे। जीतोगे, तो पृथ्वी के राज्य का भोग करोगे।'[१]

इसी को 'शुभ-नियुक्ति' कहते हैं। एक प्रवृत्ति को अशुभ से हटाकर शुभ में नियुक्त करते हैं। शुभ-नियुक्ति और आदर्शकरण में ऊपर-ऊपर देखने से कोई भेद नहीं मालूम पड़ता, किन्तु ध्यान से देखने पर विदित होगा कि दोनों में अन्तर है। शुभ-नियुक्ति में प्रवृत्ति को उसके प्राकृतिक गम्यस्थान से हटाने पर बल दिया जाता है। शुभ-नियुक्ति का सम्बन्ध जितना उसके विषय से नहीं है, उतना तद्गत शक्ति से है। मान लीजिए, किसी को काम उत्पन्न हुआ, और वह भी निषिद्ध व्यक्ति के ऊपर। काम को उस गम्यस्थान से हटाना ही शुभ-नियुक्ति का प्रधान अंग है। इसके उपरान्त वह दूसरे विषय पर अवश्य लगाया जाता है। काम-शक्ति के बहाव के नियन्त्रण को शुभ-नियुक्ति में प्रधान स्थान दिया जाता है। आदर्शकरण में विषय प्रधान है, अर्थात् विषय को उदात्त बनाना अथवा आदर्श समझना। ऊद्ध्वायान की शक्ति प्रवाह से सम्बन्ध रखती है, किन्तु आदर्शकरण विषय से। शुभ-नियुक्ति अथवा प्रवृत्ति के उत्कर्षण में आदर्शकरण से सफलता प्राप्त हो सकती है, किन्तु शुभ-नियुक्ति को अथवा ऊद्ध्वायान के लिए, वस्तुतः अपनी सत्ता के लिए उस प्रकार की सहायता अपेक्षित नहीं है। प्रेम का शुभ-नियुक्त विषय कवि-कल्पित गान-लहरी का आनन्द है, अथवा इष्टदेव की दैव मूर्त्ति है, यह शुभ-नियुक्ति के होने में महत्त्व नहीं रखता है। यहाँ काम अपने गम्यस्थान, अर्थात् संभोग-वांछा से दूसरी ओर बहाया गया, यही मुख्य है। एक बार अपने गम्यस्थान से दूसरी ओर घुमाये जाने पर उसके उस मार्ग की सफलता विषय के आदर्श स्वभाव पर अवश्य निर्भर करती है। यदि किसी ने अपने लिए एक बड़ा आदर्श चुन लिया, तो उसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति में आदि वासनावेग की शुभ-नियुक्ति अथवा उसकी काम-शक्ति का उद्ध्वायान भले प्रकार हो गया है।

१—'अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥—गीता : अ० २, श्लोक ३३
'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥'—गीता : अ० २, श्लोक ३७

—हे अर्जुन, यदि तुम इस धर्म-युद्ध में नहीं लड़ोगे, तो तुम स्वधर्म और कीर्त्ति दोनों से दूर हो जाओगे और पाप के भागी बनोगे। यदि तुम युद्ध में मारे जाओगे, तो स्वर्ग मिलेगा। यदि विजयी हुए, तो पृथ्वी का भोग करोगे। उठो, कौन्तेय! युद्ध के लिए निश्चितमन होकर उठो।

व्यक्ति के अच्छे और उदात्त आदर्श हो सकते हैं, किन्तु यह भी सम्भव है कि वह उन्हें, अपनी प्रवृत्तियों के प्राकृतिक मार्ग को शुभ-नियुक्त करने में असफलता के कारण, नहीं भी पा सकता। उदात्त आदर्श के मानने से व्यक्ति का चैत्त युद्ध तीव्रतर हो जाता है। व्यक्ति अपनी वासनाओं का कठोर निरोध करने की चेष्टा करता है, किन्तु यदि उसमें सफल नहीं हुआ तो वह वातव्याधि से पीड़ित हो सकता है।

शुभ-नियुक्ति से जिस शुभ की उन्नति होती है, उसका स्वभाव क्या है? शुभ-नियुक्ति तो अशुभ वासनाओं को ही शुभ में नियुक्त करती है। समाज में वही अशुभ कहा जाता है जो व्यक्ति की उन्नति में बाधा पहुँचाता है। सभ्य समाज उन्नत समझा जाता है। सभ्यता शुभ है और असभ्यता अशुभ। असभ्यता का तात्पर्य ही है सहज प्रवृत्तियों के प्राकृतिक स्वरूप की तृप्ति। अतः सभ्यता इसके ठीक विपरीत होगी। अर्थात्, वासनाओं के स्वाभाविक स्वरूप को तृप्त न होने देना, प्रत्युत उनका परिमार्जन करना तथा उनकी शक्ति को दूसरे अधिक उपयोगी मार्गों में नियुक्त करना। सभ्यता का यही लक्षण शुभ कहा जाता है। शुभ दो प्रकार का है—(१) अभ्युदय और (२) निःश्रेयस्।[१]

(१) अभ्युदय—अभ्युदय सांसारिक है। इसमें बिना किसी संघर्ष के अर्थ और काम की तृप्ति करना है। अर्थ भी काम के लिए है, और इन दोनों के सम्पादन में किसी प्रकार के संघर्ष न हों, तो उत्तम है। इन दोनों की तृप्ति समाज की शान्ति पर निर्भर करती है, अतः सभी शक्तियों को उसी महान् शुभ में और शुभ के लिए नियुक्त करना पड़ता है। अभ्युदय की प्राप्ति में व्यक्ति की अलग सत्ता नहीं होती। व्यक्ति समाज की एक इकाई अथवा अंश है, अतः व्यक्ति का अभ्युदय-सम्बन्धी शुभ, समाज के अभ्युदय-सम्बन्धी शुभ की अपेक्षा रखता है। अतः समाज की उन्नति पर ही व्यक्ति की शक्तियों का अभ्युदय अवलम्बित है। अतः समाजोन्नति के उपकरणों के सम्पादन में ही व्यक्ति अपने को कृत-कृत्य समझने लगता है। चैत्त रूप से कहा जा सकता है कि व्यक्ति की सारी चैत्त शक्तियाँ अपने स्वभाव-कृत गम्यस्थानों से हटाई जाती हैं और समाज की उन्नति के साधनों की चिन्ता और उनके प्रकारों के सम्पादन-विधान में संलग्न की जाती हैं। संक्षेप में, व्यक्ति की सारी चैत्त शक्ति अथवा काम-शक्ति बहिर्मुख है, अर्थात् बाह्य विषयों से संलग्न है।

(२) निःश्रेयस्—यह अभ्युदय से एक सोपान उच्चतर है। व्यक्ति पहचानता है कि बाह्य उपकरणों से उसको वास्तविक तृप्ति और शान्ति प्राप्त नहीं होती, अतः उनको छोड़कर व्यक्ति अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख करता है। वह अपनी सभी शक्तियों को जानने का प्रयत्न करता है। उन शक्तियों का विकास किस प्रकार से किया जा सकता है? उनकी सहायता से व्यक्ति की दुःख-ज्वालाएँ किस प्रकार बुझ सकती हैं? व्यक्ति इन

१—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसः सिद्धिः स धर्मः (वैशेषिक सूत्र); जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है, वह धर्म है। धर्म से बढ़कर और क्या शुभ हो सकता है? अतएव शुभ को हमने अभ्युदय और निःश्रेयस् के भेद से दो रूपों में विभक्त किया है।—ले०

प्रश्नों का समाधान चाहता है। वह इन समस्याओं का निराकरण चाहता है और अपने बन्धनों को तोड़कर नित्य और मुक्त हो जाना चाहता है। उसकी चैत्त शक्तियाँ अन्तर्मुखी हैं। काम-शक्ति का जो विषय होता है, वह उन्हीं का अहंकार है। चैत्त रूप से व्यक्ति की काम-शक्ति अपने बाह्य विषयों को छोड़कर आत्मस्थ हो जाती है, अर्थात् अपने आरम्भिक उद्गम-स्थान अहंकार से लग जाती है। अभ्युदय प्रेय है[1], तो निःश्रेयस् श्रेय है और दोनों शुभ ही हैं। किन्तु, भौतिक दृष्टि के कारण, अविद्या के मोह में, व्यक्ति की दृष्टि जड हो गई है और वह, वस्तुतः व्यक्ति की उन्नति किससे होती है, इसे नहीं पहचानता है। श्रेय और प्रेय दोनों एक-दूसरे से इस प्रकार मिले हैं कि विवेकी ही उनका विवेचन कर पाता है और आप्तकाम अतः अकाम हो जाता है। पश्चिमी सभ्यता के पुजारी अभ्युदय पर ही अधिक ध्यान देते हैं और भारतवासी यदि पूर्णरूप से आचरण में नहीं, तो विचार में निःश्रेयस् पर अधिक ध्यान देते हैं। अतएव, अभ्युदय का लक्षण सामाजिक उन्नति पाश्चात्य देशों में और निःश्रेयस्, अर्थात् वैयक्तिकत्व के रूप में कामना का अवश्यम्भावी फल भारत में देखा जाता है।

पहले हम आभ्युदयिक शुभ की ही चर्चा करेंगे। अभ्युदय के लिए समाज पूर्वसिद्ध प्रतीत होता है। हमने गत अध्याय में कहा है कि समाज कुछ प्रवृत्तियों को निन्द्य कहता है। प्रत्येक धर्म में 'ऐसा मत करना' इसी प्रकार के अधिक नकारात्मक वाक्यों से अनेक धार्मिक तत्त्वों का उपदेश किया जाता है। प्रत्येक निषेध एक विधान की अपेक्षा रखता है। करने की इच्छा का सर्वत्र निषेध पाया जाता है, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि इसी कोटि के उदाहरण हैं। 'तुम परस्त्रीगामी नहीं बनोगे' आदि की भाँति अनेक उपदेश प्रत्येक व्यक्ति पाता है। कोई शिशु से 'ऐसा करो', 'यह करो' नहीं कहता। जहाँ विधान होता है, वहाँ भी यही होता है। विधान को नहीं करने की इच्छा होती है। दान देना चाहिए। प्रवृत्ति यही कहती है कि स्वार्थ ही ध्येय है, किन्तु समाज का विधान उलटा है, वह कहता है—'दान दो', 'सत्य बोलो' आदि। इन बातों को सिखाने की क्या आवश्यकता है ? किसी में स्वभावतः दान देने की अथवा सत्य बोलने की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती, इसका प्रबल प्रमाण है आज के समाज की स्थिति। शिशु बार-बार अपने को अचम्भे में पाता है। उसके माता-पिता उसे किसी काम को करने से मना क्यों करते हैं तथा किसी काम को करने की क्यों आज्ञा देते हैं, और जिस काम को करने की उसे चाह रहती है, उसी को मना करते हैं और जिसको करने की इच्छा नहीं है, उसी को कराने की चेष्टा करते हैं। ऐसा क्यों है ? उसे अचम्भा होता है। इन्हीं बातों से मालूम होता है कि समाज स्वाभाविक प्रवृत्तियों को रोकता है और उनमें अभिव्यक्त होनेवाली काम-शक्ति को अन्य मार्गों

१—'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्यो योगक्षेमौ वृणीते ॥'

—कठ० : अध्याय १, वल्ली २, श्लोक २

यहाँ पर प्रेय से पुत्र, पशु, वित्त आदि सांसारिक भोग-समूह है। अतः अभ्युदय को प्रेय कहने में अनौचित्य नहीं है।

में बहाना चाहता है। वह उन प्रवृत्तियों अथवा वासनाओं के वेग को अपने काम में लाने का प्रयत्न करता है। समाज किसी वस्तु को नहीं खोना चाहता है, प्रत्युत वह अल्पात्यल्प वस्तु का उपयोग करता है। जलधारा से वह विद्युत्-शक्ति उत्पन्न करता है और बहुत लाभ उठाता है। उसका प्रयत्न यही रहता है कि अल्पात्यल्प वस्तु से बहुत कम प्रयास से बड़े-से-बड़े एवं महत्त्वपूर्ण लाभ उठाये जा सकें। अतः समाज किसी मानसिक शक्ति का बिना उपयोग किये रह नहीं सकता। यदि मनुष्य को शक्तियाँ मिली हैं, तो उनका उपयोग होना ही चाहिए। समाज की दृष्टि में वही भला है जो समाज के स्वार्थ के संपादन में सहायता पहुँचाये। समाज की दृष्टि में भौतिक लाभ की अपेक्षा सैद्धान्तिक लाभ अधिक उत्तम है; क्योंकि एक सिद्धान्त के सहारे वह अनेक भौतिक लाभ पा सकता है। इसीलिए, भौतिक जगत् में अथवा मानसिक जगत् में समाज शक्तियों की उपयोगिता से लाभ उठाने का प्रयत्न करता है। इस कार्य के लिए वह व्यक्ति के आचरणों अर्थात् उसकी सारी क्रियाओं के मूल में क्या है और प्रबलतर वासनाएँ कौन-सी हैं, इसे जानने में लगा रहता है। समाज का यह प्रयत्न रहता है कि वह मूल-प्रवृत्तियों का नियन्त्रण कर, उन्हें अपने अनुकूल बना शुभ का साधन करे। समाज है क्या? वह बहिर्मुख प्रवृत्तिवाले कुछ व्यक्तियों का समूह है जो एक ही उद्देश्य से प्रधानतः प्रेरित रहता है। समाज व्यक्तियों की सभी शक्तियों को सामूहिक उन्नति अथवा शुभ में लगाने के लिए कुछ नियम बनाता है और व्यक्तियों पर उन्हें लागू करना चाहता है। इस प्रकार के नियमों से व्यक्तियों को अपनी कुछ इच्छाओं की तृप्ति में विलम्ब करना पड़ता है और कुछ इच्छाओं का निरोध करना पड़ता है। इसी कारण लोभ, स्वार्थ, काम आदि को प्रत्येक व्यक्ति अधिक मात्रा में दबाने का प्रयत्न करता है और समाज के नियम उसके इस प्रयत्न में भारी सहायता पहुँचाते हैं। इस प्रकार के निरोध से बहिरुन्मुख शक्ति चित्त-यन्त्र में रुक जाती है और व्यक्ति को वह अज्ञातरूपेण प्रोद्बल करती रहती है कि वह कोई ऐसा काम करे जिससे उसका वेग बहिर्गत हो जाय। और, एक शक्ति इस शक्ति से मिल जाती है और इसकी पुष्टि करती है। वह, वह शक्ति है जो समाज के नियमों के कारण व्यक्ति में बेकाम रह जाती है। समाज के नियमों से व्यक्ति को कुछ काम नहीं करना पड़ता है। समाज किस प्रकार बना, इस विषय में अनेक मतभेद हैं, किन्तु सभी इस बात से सहमत हैं कि व्यक्ति को समाज-निर्माण के प्रारम्भ की दशा में अपनी और भौतिक चैत्त शक्ति के अधिक भाग को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में ही लगाना पड़ता था। उसका सारा समय अपने आहार, अपनी रक्षा, अपने आनन्द, इन्हीं के संपादन में, और वह भी स्थूल रूप से, जमीन, ज़र, जन इन्हीं के संपादन में विनियुक्त होता था। उसका जीवन संघर्षमय था। वह अनवरत संग्राम था, अपने स्वत्वों के लिए, अपनी रक्षा के लिए और अपने आनन्द के लिए, जानवरों से, जंगली मनुष्यों से, अपने समान मनुष्यों से लड़ाई से भरा हुआ था। समाज के नियम उनकी इन सभी आवश्यकताओं की पूर्त्ति की रक्षा करने और उनकी तृप्ति के लिए अनुकूल परिस्थितियों को उत्पन्न करने का भार अपने ऊपर लेते हैं। इस प्रकार के

सामाजिक प्रयत्नों एवं नियमों का प्रतिफल यह हुआ कि कालान्तर में बहुत-सी भौतिक और मानसिक शक्तियाँ निरर्थक-सी हो गईं। इस प्रकार चैत्त शक्तियाँ दो सामाजिक रूपों में प्रकट हुईं—(१) एक तो वह, जो निरोध के कारण बहिर्गत न हो सकी और (२) दूसरी वह, जो समाज की रक्षा के लिए दान-स्वरूप निरर्थक पड़ गई। समाज इन दोनों चैत्त शक्तियों को यों ही रखना नहीं चाहता है। जब कोई व्यक्ति दूसरे की रक्षा करता है, तो उसके मूल में यही पाया जाता है कि रक्षित शक्ति किसी अन्य कार्य के लिए उपयोगी सिद्ध हो। यदि ऐसी बात न होती, तो कोई किसी की रक्षा ही नहीं करता। अतः समाज इस प्रकार बाह्योन्मुखी दोनों शक्तियों से लाभ उठाता है। व्यक्ति भी ऐसा ही करता है। आस्कर वाइल्ड लिखते हैं—

"जो स्वभाव से ही घृणित, क्रूर और पतन-हेतु होता है, उसी को चित्त उदात्त विचार और महत्त्वपूर्ण रागों के रूप में परिवर्त्तित कर सकता है; यही नहीं, वह इन्हीं में अपनी महान् प्रतिज्ञा के रूप को पा सकता है और प्रायः इनके द्वारा जो, वास्तव में, नाश तथा पतन के हेतु समझे जाते हैं, अपने को भलीभाँति अभिव्यक्त कर सकता है।"[१]

अब समाज के सामने एक बड़ी समस्या उपस्थित होती है और वह यह है कि उसने अपने ही नियमों के कारण चित्त के भीतर की भीषण शक्ति को बाहर निकलने के अयोग्य बना दिया। यदि समाज उस भीषण शक्ति को किसी प्रकार अच्छे मार्गों द्वारा बाहर न कर सका तो चित्त-यन्त्र फूट जायगा, अर्थात् व्यक्ति आधिवश हो जायगा। इसकी तुलना हम ब्वायलर (स्थाली) से कर सकते हैं। स्थाली में भाप भरी जाती है और जब पम्प द्वारा उसमें उसके परिमाण से अधिक भाप भर दी गई और उसके निकास का कोई मार्ग न हो तो क्या होगा? स्थाली (ब्वायलर) फूट जायगी। चित्त की भी यही दशा होगी। समाज इस बात को जानता है, किन्तु इसके विषय में जो करना चाहिए वह उसे कार्यान्वित नहीं करता। समाज की यदि सारी शक्ति नहीं, तो अधिकांश शक्ति, शरीर-रक्षा, राष्ट्र-रक्षा आदि में विनियुक्त होती है, केवल उसका अल्प अंश ही चित्त के अध्ययन में लगाया जाता है।

प्रायः अपने मनोनुकूल कार्य-सिद्धि के लिए चार उपाय काम में लाये जाते हैं—(१) साम, (२) दान, (३) दण्ड और (४) भेद। किन्तु, समाज इन चारों के क्रम-विकास पर ध्यान नहीं देता। जितना अधिक ध्यान दण्ड पर दिया जाता है, उतना साम एवं दान पर नहीं दिया जाता। अतएव, दण्डनीति की रक्षा के लिए कई लाख सेना वर्षों यों ही पड़ी रहती है। दान पुरस्कार-प्रदान के रूप में परिणत होता है। जब कोई वीर पुरुषोचित कार्य करता है तो उसे पुरस्कार दिया जाता है। पहले-पहले दान की प्रथा ने

१—"The soul can transform into noble moods of thought and passions of high import, what in itself is base, cruel and degrading; nay, more, may find in these its most august modes of assertion, and can often reveal itself most perfectly through what was intended to desecrate or destroy".

—*Oscar Wilde: De Profundis, page 37.*

लोकैषणा को बढ़ाया। समाज में कुछ स्त्रियाँ सौन्दर्य की रानी समझी जाती थीं। उनके हाथों से माला पहनना ही समाज में प्रधान सत्कार माना जाता था। कई वीर इस सत्कार के भागी बनने के लिए लालायित रहते थे। भारतवर्ष में इसका दूसरा रूप हो गया जो स्वयंवर की प्रथा के नाम से विख्यात है। स्वयंवर में कन्या कुछ नियम रखती थी, अथवा उसके पिता ही उन नियमों का निर्णय करता था। उन नियमों को पूरा करनेवाला ही उस कन्या को पा सकता था। अतः सभी युवक उन नियमों को पूरा करने का यत्न करते थे और इस प्रकार बचपन से ही युवक पुरुषोचित कार्यों के सीखने में अपनी अधिक चैत्त शक्ति लगाते थे। इसका एक प्रतिफल यह था कि स्वयंवर की प्रथा से अच्छा वर प्राप्त होता था। किन्तु, जिन लोगों ने वीर-कार्य के पुरस्कार के रूप में स्त्री-दान को प्रधानता दी, वे मानव की मानसिक रीतियों से भलीभाँति परिचित थे। इस प्रकार, हम देखते हैं कि भारतवर्ष के आदिकाल के इतिहास के विचारक सभी वासनाओं में प्रबल वासना अर्थात् मिथुन-वासना को शुभ-नियुक्त अथवा ऊर्द्ध्वायान करने का प्रयत्न करते थे। इसी से कालान्तर में सभी दानों में कन्यादान का महत्त्व अधिक समझा गया। इसी बात को केन्द्र बनाकर अन्य कई बातें अथवा प्रथाएँ बढ़ गईं। आजकल यह प्रथा विलुप्त-सी हो गई है और उसके स्थान पर अधिक असभ्य रीति से आज की स्त्र्युपासना, अनुनय, प्रसादन तथा अन्य अश्लील वैवाहिक प्रथाएँ चल पड़ी हैं। अतः लोकैषणा को बढ़ाने में दूसरे-दूसरे उपाय खोजे जा रहे हैं। हम मिथुन-शक्ति या काम-वासना को जितना दुर्बल बनाते हैं, अथवा उसे हम जितना निरोधित करते हैं, उतनी ही लोकैषणा की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। आजकल इसके लिए पदक देने की प्रथा चल पड़ी है। सम्मान देना दान में प्रमुख स्थान रखता है। सम्मान की चाह से लोग अनेक कार्य कर बैठते हैं, जिससे बची हुई और निरुद्ध काम-शक्ति शुभ मार्गों से बह जाती है।

उपर्युक्त उपायों में दान का स्थान तीसरा है, किन्तु समाज की व्यावहारिक दृष्टि में इसका प्रथम और दान का दूसरा स्थान है, ऐसा कहना अधिक उपयुक्त होगा। मूल-प्रवृत्तियों अथवा सहज-वासनाओं का सर्वथा नाश असम्भव है। समाज यह जानता है, अतः वह प्रयत्न करता है कि किसी प्रकार वे प्रवृत्तियाँ प्रकट न हों। न्याय-प्रियता समाज-प्रियता का दूसरा नाम है। 'कानून पवित्र है', इसका अर्थ यही है कि कानून निष्पक्ष होकर सभी को अपनी वासना-तृप्ति के लिए समान अनुकूलता उपस्थित करता है। 'जो सुख मुझे नहीं प्राप्त है, उसे दूसरे भी क्यों प्राप्त करें'। इसी कामना की रक्षा के लिए कानून का निर्माण होता है। इसीलिए, कानून हमारे लिए उचित तथा न्यायसंगत और प्रिय हो जाता है। हम समाज को चाहते हैं; क्योंकि हम सामाजिक जीव हैं, और हममें अन्य सहज-प्रवृत्तियों के सदृश समाज-प्रवृत्ति भी पाई जाती है। कुछ लोग समाज से विरक्त होकर एकान्त की कामना करते हैं; किन्तु वस्तुतः, एकान्त में रहने पर भी समाज की अत्यन्त उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है, हम समाज से सर्वथा पृथक् नहीं हो सकते। यदि एकान्त में मानव सहचर के रूप में नहीं मिलते, तो पशु-पक्षी साथी हो जाते हैं। किन्तु, इससे तृप्ति नहीं होती। एकाकी व्यक्ति चिल्ला उठता है—

ओ, नीरवते,
कहाँ तुम्हारी सुभग कान्ति है
ऋषियों-मुनियों की परिदर्शित ?
भीम भयानक भूमि-भाग के
इस शासन से कहीं भद्रतर
कोलाहल में जीवन-यापन ।
पड़ा हुआ मानवातीत मैं,
करनी होगी जीवन-यात्रा
एकाकी ही,
कभी न सुनता मैं वाणी का
सुन्दर गीत
चकित हो रहा अपनी वाणी के कम्पन से ।[१]

सच है, एकान्तवास से घबराहट होती ही है। केवल काम से तृप्त मनुष्यों के लिए ही एकान्तवास सम्भव है, और ऐसे मनुष्य साधारण श्रेणी के नहीं हो सकते।

अतएव, सिद्ध होता है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह चाहता है कि समाज की रक्षा हो और उसके नियमों का पालन सभी यथावत् करें। जो व्यक्ति समाज के नियमों का पालन नहीं करता, वह दोषी ठहराया जाता है, और उसे दण्ड दिया जाता है। उसके भाई-बन्धु उसे छोड़ देते हैं। इस प्रकार, समाज के नियमों के अनुसार न चलने पर व्यक्ति की उन सहज-कामनाओं की तृप्ति नहीं होती, जिनके लिए वह प्रवृत्त रहता है। समाज-बहिष्कार से बढ़कर कोई अन्य कठोर दण्ड नहीं है। इसी प्रकार के अन्य भयों के कारण लोगों की वासनाएँ अपनी तृप्ति पाने के लिए प्रवृत्त होते-होते रुक जाती हैं। कोई भगवान् के डर से, तो कोई समाज के डर से कुछ काम करने-करते रुक जाता है। यदि दण्ड का भय न हो, तो व्यक्ति रुक नहीं सकता, वह अपनी इच्छाओं की तृप्ति अवश्य करेगा। इसी से कहा गया है—

यदिदं किं जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥[२]

१—'Oh ! Solitude ! Where are the charms
That sages have seen in thy face ?
Better dwell in the midst of alarms
Than reign in this horrible place.
I am out of humanity's reach,
I must finish my journey alone,
Never hear the sweet music of speech;
I start at the sound of my own.
—*W. Cowper : 'The Solitude of Alexander Selkirk'.*

२—कठोपनिषद् : २, ६, २

—यहाँ जो कुछ संसरणशील है, वह डर से ही प्रवृत्त होता है। भय से ही वायु बहती है। सूर्य भीति से ही उगता है। भय से ही तेज, जल, पृथ्वी सभी संचालित हैं—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः॥[१]

—भय से ही अग्नि, सूर्य, वायु आदि सृष्टि की पोषक शक्तियाँ काम करती हैं—सृष्टि की नाशक शक्ति मृत्यु भी इसी भय से ही प्रेरित है।

इसी प्रकार का भय सर्वत्र देखा जाता है। जिन समाजों में कुछ-न-कुछ सुधार हुआ है, वहाँ इसी भय के नाश के लिए प्रयत्न करने पर कई पुरुषों को अपना सर्वस्व देना पड़ा है।

दान और दण्ड शुभ-नियुक्ति के सहायक और बृंहक कहे जा सकते हैं। वे अपने-आप किसी प्रवृत्ति को शुभ में नियुक्त नहीं कर सकते हैं। जिन व्यक्तियों में पहले से ही शुभ में प्रवृत्तियाँ नियुक्त होती रहती हैं या नियुक्त होना चाहती हैं, उन्हें दान और दण्ड अत्यधिक सहायता पहुँचाकर अपने संकल्प में स्थिर कर सकते हैं। इसका प्रबल प्रमाण है, व्यावहारिक जीवन। उक्ति भी है, 'रोचनार्था फलश्रुतिः', अर्थात्—फल को इसीलिए सुनाते हैं कि कार्य में प्रवृत्ति हो। व्यावहारिक जीवन में पुरस्कारों का प्रभूत महत्त्व है। बाल्यकाल से ही स्वर्ग-सुख, भगवत्प्रीति, गौरव आदि की उज्ज्वल और लोभनीय गुणगाथा गाई जाती है। आरम्भ में दण्ड को बार-बार शिक्षा का ही रूप दिया जाता है। दण्ड से मनुष्य की कुत्सित प्रवृत्तियाँ शिक्षित हो जाती हैं। किन्तु, यदि देखा जाय तो यही पता चलेगा कि समाज के सभी नियमों और शासन-विधान ने सामाजिक कुप्रवृत्तियों का नियमन करने की अपेक्षा उनको और उकसाया है। सत्य है, सभी कारागृह मिलकर भी अपराधियों की संख्या में कमी नहीं कर सकते। अपराधों की संख्या अनुदिन बढ़ती ही जा रही है। नरक-यातनाओं के विषय में भी यही लागू है। कुछ दिन पूर्व अधिकतर गृहों में नरक-यातनाओं के चित्रपट देखे जा सकते थे, किन्तु आज वे लुप्त हो गये हैं। जब उनका अस्तित्व था तब भी उससे कोई लाभ नहीं था। केवल भय से किसी प्रवृत्ति को सदा के लिए नहीं दबाया जा सकता। कुछ दिन तक वह प्रवृत्ति अवश्य निरुद्ध होगी, किन्तु समय पाकर वही प्रवृत्ति अपने सहज-स्वरूप में धीरे-धीरे प्रकट होगी ही,[२] और एक दिन वही उस कानून का और भय का तिरस्कार

१—वही : ३

२—"All the rules in the world for forming good habits will not eradicate a morbid complex which lies at the basis of a bad habit. A lady of acquaintance assiduously observed all the rules given by James for the formation of good habits, and ultimately succeeded in behaving nicely to her aunt. But when her aunt had the bad taste to die on a day fixed for a theatre-party, she could restrain her annoyance no longer: 'Its' so like Auntie, "she said". The repressed complex was obviously still there".

—*J. A. Hodfield : 'Psychology and Morals', p. 41.*

करके खुलेआम बढ़ने लगेगी। निन्दा अन्धकार में जन्म लेती है। किन्तु, समय पाकर वह बहिर्गत होती है और किसी की परवाह नहीं करती है।[१] यदि प्रकट होने से वासनाएँ रोकी जायँ तो वह निरुद्ध होकर अज्ञात में गुप्त समितियाँ बनाती हैं और व्यक्ति को क्षण भर के लिए भी शान्तचित्त नहीं रहने देतीं।

भेद भी इन्हीं दोनों, अर्थात् दान और दण्ड, में एक प्रकार से अन्तर्निहित है। अब संक्षेप में हम 'साम' नामक मार्ग का भी अवलोकन कर लें। साम सभी से कठिन, किन्तु उत्तम मार्ग है। साम के लिए भी यह आवश्यक है कि व्यक्ति की इच्छा पहले से ही शुभ की ओर रहे। कोई व्यक्ति अच्छी बात सुनने को तैयार नहीं है तो उसे क्या समझाया जा सकता है? साम का अर्थ है गुण-दोषों को समझाकर किसी व्यक्ति को शुभ मार्ग में प्रवृत्त करना। इस प्रकार से प्रवृत्त करने के लिए व्यक्ति की सम्मति अनिवार्य है। विवेकपूर्ण शब्द भी मूर्ख के लिए सारहीन हो जाते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक कवि गेटे ने कहा है—

> **अन्त में जाते सभी अपने ही मार्ग पर**
> **मानो उन्हें कभी शिक्षा मिली नहीं।**
> **प्रतिनिविष्ट व्यक्ति के कान होते बहरे :**
> **सुनाई नहीं पड़तीं विवेकपूर्ण बातें भी,**
> **कर्म से अर्जित कठोर दण्ड पाने पर,**
> **पहले-सा ही होता व्यवहार है अधिकतर;**
> **सत्पुरुष तब भी प्रयत्न करते एक बार।**[२]

कई बार कहने से मूर्ख भी कारण और तर्क के सामने सिर झुकाता है। मनुष्य मननशील होता है। वह प्रारम्भ में किसी स्वार्थ के कारण अन्धा होकर विवेकयुक्त बातें नहीं सुनता, किन्तु अन्त में, उसका मनन-रूपी धर्म प्रस्फुटित होता है, और वह अपनी वासनाओं का संयमन कर लेता है। यही दान, दण्ड और भेद के मार्ग में तथा साम-मार्ग में पाया जानेवाला अन्तर है।

१—"When infancy is newly born,
In secret she is brought to light,
But soon full grown, she waxes bold,
With brazen fronts insults the day".

—Goethe : Faust, 133.

२—"All in the end, in their own way proceed,
As though, in sooth, they never had been taught
On stubborn ears fall prudent words in vain:
Oft as the deed dive punishment hath wrought,
Self-willed as ever mortals aye remain.
Yet still the good man trieth once again".

—Goethe : Faust, 259—286.

मनुष्य के चित्त में शुभ-नियुक्ति करने की इच्छा तभी होती है जब उसमें धीरे-धीरे समाज के आचरण से शुभ के संस्कार पड़ते जायँ। अतः जब समाज का निर्माण साम-मार्ग के द्वारा होगा तभी व्यक्ति की वासनाओं की काम-शक्ति शोधित अथवा शुभ-नियुक्त हो सकती है। आजकल अधिक आवश्यकता धन-दौलत की नहीं है। सर्वत्र सच्चे वीर और उत्साही युवक अथवा वृद्धों की आवश्यकता है जो देश के कोने-कोने में मानवधर्म का प्रचार करें, जो अपने आचरणों को अपनी उक्तियों के अनुकूल बदलें। सच्चे प्रचारक मानव-धर्म का एवं मनन-धर्म का प्रचार करेंगे और ऐसे वातावरण का निर्माण करेंगे, जिसमें शैशव चित्त भी विना किसी प्रयत्न के सदाचरण और शुभ मार्ग में प्रवृत्त हो सकते हैं। मन की भावात्मक अनुभूति से ही भावात्मक राग आकृष्ट होता है। व्यक्ति उसी भावतरंगिणी के स्फटिक जल से अपनी तृषा की शान्ति करना चाहता है, जो सच्चे चित्त के भावात्मक कलकल-निनाद से प्रवाहित हो। किन्तु, वैसे व्यक्ति प्रायः नहीं मिलते, जो आदर्श गुरु हो सकें और जिनका संग ही पाठशाला हो। आदर्श गुरु शिष्य को पढ़ावें या न पढ़ावें; वे तो अपने रूप से ही शिष्य के चित्त को अपनी ओर आकृष्ट कर लेंगे और इस प्रकार शुभ मार्ग में शिष्यों का प्रवृत्त होना अतीव सुलभ हो जायगा। आश्रम-वास में शुभनियुक्ति के मार्ग के आविष्कार की कोई आवश्यकता नहीं रहती; वहाँ तो शुभ-नियुक्ति स्वतः उद्भूत हो जाती है। सत्पुरुषों की संगति में विचार-विवेक अपने-आप अंकुरित हो जाते हैं, वहाँ कहने-सुनने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। जब चतुर्दिक् एक ही प्रकार का सदाचार विकीर्ण रहता है, तो व्यक्ति हठात् वैसा ही आचरण करने लगता है, और जब चित्त में किसी विपरीत कामना का संचार होता है, तो वह अन्य व्यक्तियों से समाधान पा जाता है और अन्त में अपने चित्त को शुद्ध कर लेता है। विचार करते-करते व्यक्ति अपनी पूर्वकृत क्रियाओं का अनुताप करने लगता है। अनुताप ही पुनर्जन्म एवं नवीन जन्म का शुभोदय है। योग-साधन में विचार प्रथम सोपान है। योगवासिष्ठ का कहना है कि योग-साधन की सात भूमियाँ हैं और उनमें विचारवाली भूमि का द्वितीय स्थान है।[१]

१— "ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥"
—यो० वा० : उत्पत्ति०, सं० ११८, ५–६

योगवासिष्ठ ने जो सात भूमियाँ बताई हैं, वे—(१) शुभेच्छा, (२) विचारणा, (३) तनुमानसा, (४) सत्त्वापत्तिः (५) असंसक्ति, (६) पदार्थाभाविनी तथा (७) तुर्यगा हैं। इन्हीं को, साधना तथा ज्ञप्ति की दृष्टि से, वह (१) प्रथमाभूमिका, (२) विचारणा, (३) असंग-भावना, (४) विलापनी, (५) वासना-विलयात्मिका, (६) स्वसंवेदनरूपा और (७) परा, कहता है। इनमें विचारणाख्य का लक्षण यह है कि,

'शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥
—उत्पत्ति-प्रकरण, स० ११८; श्लोक ८

—अर्थात् शास्त्र, सज्जन-सांगत्य, वैराग्य (विषय-त्याग), अभ्यास (इसी में निरन्तर प्रयत्न से दृढ़ता प्राप्त करना) आदि से जो सदाचार की प्रवृत्ति होती है, उसे विचारणा कहते हैं। विचारणा-भूमि में शास्त्रादि-परिचय तथा वैराग्य आदि के प्रारम्भ से विचार प्रारम्भ होता है।—ले०

विचार के दो प्रकार हैं। एक के अनुसार व्यक्ति कुरीतियों के बुरे फलों का ध्यान करता है और उनसे निवृत्त हो जाता है और दूसरे प्रकार के अनुसार व्यक्ति उन कुरीतियों से विपरीत प्रवृत्तियों के सुगुणों का खयाल करके कुरीतियों से निवृत्त हो जाता है। पहले प्रकार में भावना पक्ष-भावना है और दूसरी भूमि में प्रतिपक्ष-भावना।[१] यदि व्यक्ति सोचने लगे कि राग के समान अग्नि नहीं है और वह सभी सुकर्मों का नाश करनेवाला है, अतः उससे निवृत्त होना है, तो इसी को 'पक्ष-भावना' कहते हैं। यदि वह सोचने लगता है कि विराग अच्छा है, उससे चित्त शुद्धि प्राप्त होती है और सभी दुःखों के उच्छेद करने का यही परम साधन है, तो इसी मार्ग को प्रतिपक्ष-भावना कहते हैं। इन दोनों प्रकार की विचार-शक्तियों को बढ़ाने के लिए अनुकूल परिस्थिति अथवा वातावरण चाहिए तथा समाज में एक प्रकार के पवित्र वायुमण्डल का संचार होना चाहिए। व्यक्ति पर ही समाज की उत्तमता अथवा नाश निर्भर करता है; और समाज के अनुसार व्यक्ति का स्वभाव बदलता है। अतः शुभ-नियुक्ति की सफलता के लिए तदनुरूप वातावरण की परम आवश्यकता है। समाज की उन्नति के लिए सद्गुरु, अच्छे राजा और अच्छे आचार्य चाहिए, जिनका स्वभाव और आचरण अनिन्द्य हों, नहीं तो समाज की भलाई नहीं हो सकती। हम देखते ही हैं कि आजकल ऐसे आचार्यों के अभाव से कितनी दुर्गति हो रही है। समाज कई प्रबल वेगों का निरोध तो कर देता है, किन्तु निरुद्ध शक्ति के निकलने के लिए पर्याप्त एवं उचित मार्गों का आविष्करण नहीं करता। समाज उन निरुद्ध प्रवृत्तियों के वेग को पहचानता अवश्य है। अतएव, उसने उनके बल से चित्त-यन्त्र को बचाने के लिए कुछ सुरक्षा-मार्ग संपन्न कर रखे हैं, जिनके द्वारा पर्याप्त से अधिक शक्ति कभी-कभी निकल सके। यदि वह ऐसा न करे, तो निरुद्ध वेग 'अज्ञात' रूप से प्रकट होकर व्यक्ति के अहंकार पर आघात करेगा। वही निरुद्ध वेग साधारण जनता में भूत, प्रेत, मूर्च्छा आदि का रूप ग्रहण करता है। प्रकृति की, अर्थात् सहज वासनाओं की, इसी भीषणता को देखकर समाज-निर्माताओं ने ऐसी कुछ अनुज्ञाएँ दी हैं, जिनसे विशेष रूप में इन प्रवृत्तियों की तृप्ति निन्द्य रूप में की जा सकती है। भारतवर्ष की होली, गंगायात्रा (एक तेलुगु-त्योहार) आदि तथा पाश्चात्य के कार्निवल आदि में जितनी अश्लीलताएँ बहिरंग में होती हैं, सभी क्षम्य समझी जाती हैं। वे ही दूसरे दिनों में निन्द्य और घृणित मानी जाती हैं। उन विशेष अवसरों पर सहज काम शक्ति का विविध प्रकार से अभिव्यंजन देखने में आता है, जहाँ पर स्त्रियों को असूर्यम्पश्या कहकर परदे के तले छिपाये रखते हैं, वहीं पर यह भी अनुज्ञा देखी जाती है कि तीर्थ-यात्रा आदि में इन नियमों का पालन आवश्यक नहीं है। वेश्याओं को समाज नगर-

---

१—'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।'—योगसूत्र : ७७—साधनपाद

वितर्क से बाधित होने पर प्रतिपक्ष की भावना करनी चाहिए। वितर्क हिंसादि हैं। वे कृत, कारित और अनुमोदित भेद से तीन प्रकार के होते हैं। उनके पूर्व लोभ, क्रोध तथा मोह रहते हैं। वेग की दृष्टि से ये भावनाएँ मृदु, मध्य और अधिमात्रावाली रहती हैं। इनके कारण दुःख और अज्ञान होता है। इस प्रकार से विचार करने को ही प्रतिपक्ष-भावना कहते हैं। हमने प्रतिपक्ष का दूसरे अर्थ में प्रयोग किया है और वह भी उचित प्रतीत होता है।—ले०

शोभा समझता है। पूर्वकाल में वेश्यागमन भद्र पुरुष के लक्षणों में गिना जाता था। जहाँ वेश्याओं की इज्जत की जाती है और समाज उनके हाथों से दुलहिन को आशीर्वाद दिलवाता है, वहाँ पर वेश्यागमन की प्रवृत्ति इतनी निन्द्य नहीं समझी जाती है। इस विषय में स्पष्ट है कि लोगों ने अनुज्ञा को अपना विशेष अधिकार समझकर उसका अतिचार किया है। आजकल की वैवाहिक प्रथा की भी यही दशा है। विवाह मानो अधर्म को प्रच्छन्न रखने का साधन-मात्र बन गया है। यदि हम यह कहें कि वैवाहिक सम्बन्ध वेश्यागमन से भी अधम और नीच बन गया है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। समाज जिन-जिन बातों को श्रौत और स्मार्त संस्कार कहकर पुकारता है, यदि हम उनकी परिचर्या पर ध्यान दें, तो विदित होगा कि उनकी दशा नितान्त शोचनीय है। समाज अनेक स्वाभाविक इच्छाओं का निरोध करता तो अवश्य है, किन्तु वह उनके वेगों को कुछ मार्गों से नियमबद्ध रूप से बहने की अनुज्ञा भी देता है। मांस खाने, मद्य पीने तथा मैथुन करने की ओर प्रवृत्ति होती है। हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि बाल्यकाल से ही मांस खाने की अथवा मद्य पीने की इच्छा होती है। तात्पर्य यह है कि किसी प्रकार का अवरोध न हो, तो व्यक्ति मांस-भक्षण करने से नहीं हिचकेगा और मद्यपान से घृणा नहीं करेगा। इतना ही नहीं, भूख और प्यास तथा काम के रहते हुए वह भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय आदि का भेद नहीं मानेगा।

शास्त्र में वर्णित है—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरस्तु भूतानां..........................॥[१]

—अर्थात् मांस-भक्षण, मद्य-पान तथा मैथुन में कोई दोष नहीं है। इनमें भूतजाल प्रवृत्त हों तो हों। श्रीमद्भागवत में भी आया है—

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्ति जन्तोर्नहि तत्र चोदना।[२]

—अर्थात् संसार में जन्तु सदा स्वभाव से ही मैथुन, मद्यपान और मांस-भक्षण में प्रवृत्त होता है। किन्तु, समाज ने इनको इनके स्वरूप में निन्द्य माना और इनके वेग को घटाना चाहा। इन प्रवृत्तियों को समाज रोक नहीं सका या उसने इन्हें बिलकुल रोक देना अनभीष्ट समझा। किन्तु, साथ-ही-साथ इनका सहज रूप से अभिव्यक्त होना भी समाज द्वारा ठीक नहीं समझा गया। इसी से इन प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण भी होने लगा। समाज इस प्रकार के नियन्त्रण को प्रभूत महत्त्व देने लगा। अब हम उपर्युक्त दोनों श्लोकों को निम्नलिखित रूप में पढ़ें—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरस्तु भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥ (मनुस्मृति)
लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्ति जन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषुविवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥ (भागवत)

१—मनुस्मृति: अध्याय ५, श्लोक ५६

२—श्रीमद्भागवत : स्कन्ध ११, अध्याय ५, श्लोक ११

—अर्थात् इन प्रवृत्तियों से निवृत्त होना अत्यन्त आवश्यक है। विवाह, यज्ञ आदि के समय हम इनमें प्रवृत्त हो सकते हैं, किन्तु इनसे निवृत्त होना इष्ट है। मैथुन, मद्यपान और मांस-भक्षण में प्रेरणा की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इनकी ओर व्यक्तियों का झुकाव सहज रूप से हो जाता है। सहज झुकाव होने के कारण इनका नाश नहीं किया जा सकता। इसीलिए, इनका नियमन किया गया और कहा गया कि विवाह और यज्ञ आदि में इनमें प्रवृत्त हो सकते हैं; किन्तु इनसे निवृत्त होना इष्ट है। श्राद्ध, मधुपर्क, अग्निष्टोम आदि में मांसभक्षण, अग्निष्टोम आदि सोमयागों में सोम-पान (मद्यपान), पर्व-दिनों को छोड़कर धर्म-परिणीता स्त्री के साथ ऋतुगमन आदि सभी धार्मिक नियम और शिष्टाचार इन्हीं अशुभ प्रवृत्तियों को शुभोन्मुख बनाने के लिए थे। किन्तु, इन नियमों की दशा क्या हुई ? यह पाठकों से छिपा नहीं है। कुछ समय तक इन नियमों का पालन सम्भवतः हुआ, किन्तु वातावरण के परिवर्त्तनों के साथ इनका प्रभाव न-कुछ-सा रहा। मांस-भक्षण आदि के नियन्त्रण के लिए जो नियम और विधान निर्मित हुए थे, वे ही सोमयाग आदि के द्वारा उन्हीं मांस-भक्षण आदि प्रवृत्तियों के विकास के साधन हो गये। विवाह-सम्बन्ध के विषय में भी यही बात है।

उपर्युक्त विवेचन से यही झलकता है कि नियम-विधान से कुछ नहीं होता। यदि समाज को इस प्रकार के गत्यवरोध से रक्षित होना इष्ट है तो उसके लिए पुनीत वातावरण एवं शुभ-नियुक्ति अथवा उद्ध्वर्यान के अच्छे प्रकार ही उपयुक्त हो सकते हैं। योगवासिष्ठ का कहना है—

द्विविधो वासनाव्यूहः शुभश्चैवाशुभश्च ते ॥

× × ×

अथ चेदशुभो भावः त्वां योजयति संकटे।
प्राक्तनस्तदसौ यत्नाज्जेतव्यो भवता बलात् ॥

× × ×

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना-सरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारय।

× × ×

अशुभाच्चलितं याति शुभं तस्मादपीतरत्।
जन्तोश्चित्तं तु शिशुवत्तस्माच्चालयेद् बलात् ॥
समता सांत्वनेनाशु न द्रागिति शनैः शनैः।
पौरुषेणैव यत्नेन पालयेच्चित्तबालकम् ॥[१]

१—योगवासिष्ठः मुमुक्षु-प्रकरण; सर्ग १

और भी देखिए—

पुत्रयुक्त्या गृहीतोऽसौ क्षणादायाति वश्यताम्।
युक्तिं विना दहत्येव आशीविष इवोद्धतः॥
बालवल्लालयित्वैनं युक्त्या नियमयन्ति ये।
× × ×
सम्यग्ज्ञानविलासेन मृगतृष्णाभ्रमो यथा।
शनैःशनैर्लालनीयं युक्तिभिः पावनोक्तिभिः॥
शास्त्रार्थपरिणामेन पालयेच्चित्तबालकम्। (सर्ग ५)
येषु येषु प्रदेशेषु मनो मज्जति बालवत्।
तेभ्यस्तेभ्यः समाहृत्य तद्धि तत्त्वे नियोजयेत्॥[1]

—वासना-प्रवाह शुभ तथा अशुभ मार्गों में बहता है। वासना-व्यूह दो प्रकार का है—(१) शुभ और (२) अशुभ। यदि अशुभ-भाव संकट में डालता है, तो उस प्राक्तन (पुरानी) वासना को यत्नपूर्वक जीतना चाहिए। पुरुष को चाहिए कि यत्न से वासना-प्रवाह को शुभ मार्ग में नियुक्त करे। अशुभ में आसक्त चित्त को शुभ की ओर घुमाना चाहिए; क्योंकि चित्त अशुभ से हटाये जाने पर शुभ में और शुभ से हटाये जाने पर अशुभ में लग जाता है। चित्त शिशु के समान है। उसे समझाने-बुझाने से शीघ्र समता प्राप्त होती है। शीघ्रता करें तो सारा चैत्त जीवन विनष्ट हो जाता है, अतः पुरस्कार से शिशु के चित्त को धीरे-धीरे ठीक करना चाहिए। युक्ति से निगृहीत करें तो शिशु क्षण में वशीभूत हो जाता है। और, युक्ति के विना इसका नियमन करने का यत्न करें तो आशीविष (सर्प-विष) के समान दहन करता है। चित्त को बालक को लालन-पालन करने की युक्ति के सदृश उपाय से जो नियन्त्रित करता है, वही कृतकृत्य हो जाता है। शनैः-शनैः युक्तियों से तथा पावनोक्तियों से चित्त-रूपी बालक का पालन करना चाहिए। जहाँ-जहाँ मन बालक के समान लग्न होता है, वहाँ-वहाँ से उसे संकुचित कर तत्त्व में नियुक्त करना चाहिए।

तत्त्व-प्राप्ति के लिए चार द्वारपालों की अनुज्ञा चाहिए। योगवासिष्ठ का कहना है कि,

मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्त्तिताः।
शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थः साधुसंगमः॥
एकं वा सर्वयत्नेन प्राणांस्त्यक्त्वा समाश्रयेत्।
एकस्मिन्वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं यतः॥[2]

—मोक्ष के द्वार पर चार द्वारपाल हैं, शम, विचार, सन्तोष और साधुसंगम। इनमें एक को भी वश में करने से सभी वशंगत हो जाते हैं।

सन्तोषः परमो लाभः सत्संगः परमा गतिः।
विचारः परमं ज्ञानं शमो हि परमं सुखम्॥[3]

१—वही : उपशम, सर्ग ५, अ० ३०
२—वही : मुमुक्षु प्रकरण, ११. ५९, ६१
३—वही : १६. १९

—सन्तोष परम लाभ है, सत्संग परम गति है, विचार परम ज्ञान है और शम परम सुख है।

हम इन चारों में विचार के विषय में कुछ बताना चाहते हैं। यदि हम अपनी सभी शक्तियों को जागरूक और अपनी कुरीतियों को बदलने की दृढ इच्छा रखें तो विचार सफल होगा। निरोध तो मूढों का मार्ग है। ज्ञान की तलवार से वासना-व्यूह का उच्छेद करना श्रेयस्कर है। इसी प्रकार अशुभ प्रवृत्तियों की विजय में पाप-प्रख्यापन विशेष फलदायी सिद्ध होता है और उससे विचार पुष्ट होता है।[१] प्रकथन अथवा पाप-निवेदन से चित्त का बोझ उतर जाता है, और व्यक्ति क्षोभ-मोक्ष से होनेवाली शान्ति का आस्वाद पाने लगता है। भारतवर्ष और पश्चिम के देशों में रहनेवालों में प्रकथन (पापांगीकार) का बहुत ही महत्त्व समझा जाता था। आजकल भी ईसाइयों में तथा बौद्धधर्म में प्रकथन का मुख्य स्थान है। अतएव, उनके देशों में गुरु के पास पाप-प्रख्यापन करने के लिए अलग-अलग स्थान बनाये जाते हैं। ईसाई विश्वास करते हैं कि प्रकथन से पाप क्षम्य हो जाता है। इससे भाव-रेचन हो जाता है और व्यक्ति को शान्ति मिल जाती है। गुरु के पास शिष्य अपने सब कृत्यों का जो उल्लेख करते हैं, मरण के समय जो जीवत्प्रायश्चित्त होता है, उनका मर्म यही है कि प्रकथन से निरोध अधिक मात्रा में अभिव्यक्त हो जाते हैं और व्यक्ति के चित्त को शान्ति प्राप्त हो जाती है।

१—Confession is a part of the general system of purgation and cleansing which one feels one's self in need of in order to be in right relations to one's deity. For him who confesses shames are over and realities have begun. If he has not actually got rid of it, he at least no longer smears it with a hypercritical show of virtue—he lives at least upon a basis of veracity...One would think that in more men the shell of secrecy would have had to open, the pent-in-abscess to burst and gain relief, even though the ear that heard the confession were unworthy.'

—*William James, 'The Varieties of Religious Experience'. p. 462-63.*

—इसका भावार्थ यह है कि यदि व्यक्ति अपने इष्टदेव से अच्छा सम्बन्ध रखना चाहेगा, तो उसे अपने चित्त की कालिमा दूर करने की आवश्यकता प्रतीत होगी। इस प्रकार से अपने चित्त के मालिन्य के धोने में प्रकथन अथवा पाप-निवेदन की विशेष प्रधानता है। जो प्रकथन करता है, उसके लिए असत्य का तम विच्छिन्न हो जाता है और सत्य-सूर्य का बालातप भासने लगता है। यदि उसके चित्त से पाप का आभास दूर नहीं हुआ, तो भी वह फिर कभी अपने कलंक को धर्म के परदे से आच्छन्न रखने का प्रयत्न नहीं कर सकेगा। कम-से-कम वह सचाई से रहने की चेष्टा करेगा। मालूम पड़ता है कि यदि प्रकथन श्रोता के अयोग्य भी रहे, तो भी रहस्य के आवरण को कई लोगों में फाड़ देना चाहिए। अन्तर्निगूढ व्रण का उत्पाटन करके व्यक्ति की शान्ति पहुँचानी चाहिए। मनुस्मृति में भी आया है :

'ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि॥ मनु० : ११-२२७

—पाप करनेवाला मनुष्य अपने पाप को लोगों में प्रकट करने से, पछताने से और तप तथा अध्ययन करने से पापमुक्त होता है......।—ले०

इस प्रकार की शान्ति, जिस व्यक्ति के समक्ष पाप-निवेदन किया जाता है, उससे प्रभावित होती है। यदि व्यक्ति पूज्य है, तो पाप-निवेदन से अधिक लाभ होता है। उस परिस्थिति में व्यक्ति का क्षोभ तो निकल जाता ही है, साथ-ही-साथ उस पूज्य व्यक्ति का प्रभाव भी व्यक्ति पर पड़ता है। कहा भी गया है—

युष्मद्विधास्त्रिभुवनप्रभुपूज्यरूपा
आकर्णयन्ति यमुदारधियो महान्तः।
तेनाशुभं प्रकथितेन विनाशमेति
मेघास्पदेन विभवेन यथार्कतापः॥[१]

—'आप परम पूज्य त्रिभुवन-प्रभु के समान आराध्य हैं। आप जिसके अशुभ का प्रकथन उदारचित्त होकर सुनते हैं, उनका अशुभ-प्रकथन उसी प्रकार से विनष्ट हो जाता है जिस प्रकार से मेघों के उमड़ आने पर सूर्य-ताप विनष्ट होता है।' इस प्रकार के विवेक के परिवर्द्धन के लिए शास्त्र और सत्संगति अत्यावश्यक है। उन दोनों से नियन्त्रित विचार वांछित फल को संपन्न करने में सफल रहता है। शुभमार्ग में साधु-सेवा का स्थान उच्चतम है। कहा भी है—

शुद्धया पुण्यया साधोः क्रियया साधुसेवया
मनः प्रयाति नैर्मल्यं निकषेणेव कांचनम्॥[२]

—'शुद्ध क्रिया और साधु-सेवा से निकष से सोने की भाँति मन निर्मल होता है।' गीता में भी सेवा को प्रधानता दी गई है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

—अर्थात् तत्त्व-ज्ञान के लिए सबसे पहले प्रणिपात अर्थात् गुरु-चरण-कमलों में अपने को समर्पित करना, फिर प्रश्न पूछना और उसके साथ सेवा आवश्यक है। सज्जनों की शक्ति प्रबल होती है, और चारों दिशाओं में फैलती रहती है। अतः उनके पास रहने से ही बुद्धि में सत्संस्कार पड़ जाते हैं और व्यक्ति शुभ-नियुक्त हो जाता है। योगवासिष्ठ में आया है—

न सज्जनाद्दूरतरं क्वचिद्भवे-
द्भजेत साधून्विनयक्रियान्वितः।
स्पृशन्त्ययत्नेन हि तत्समीपगं
विसारिणस्तद्गतपुष्परेणवः॥[३]

—अर्थात् कभी सज्जन से दूर नहीं रहो। साधुओं की सेवा विनीत होकर करो। सज्जनों के पास जो जाता है, उसे विना यत्न के ही उनमें रहनेवाले परागरेणु स्पर्श करते हैं।

साधु-सेवा और शास्त्र-नियन्त्रण के साथ व्यक्ति की विवेकशक्ति प्रवर्द्धित होती है, और वह व्यक्ति सभी घटनाओं को संयत करने का प्रयत्न करने लगता है। इसी के

१—योगवासिष्ठ : निर्वाण, पूर्वार्द्ध, १६. २३

२—वही : ७८, ४०

३—वही : निर्वाण, उत्तरार्द्ध, ६४, २४

फलस्वरूप उसमें तत्त्व-बुद्धि प्रस्फुटित होती है। इस प्रकार व्यक्ति वासनाओं से अनुदिन संघर्ष करता हुआ उन्हें शुभमार्ग में प्रयुक्त करने का प्रयत्न करता रहता है। आत्म-नाश तथा नरक के तीन द्वार हैं : काम, क्रोध, और लोभ। उन्हें शुभ-नियुक्त करने का विवेकपूर्ण एवं विचारयुक्त मार्ग यह है—

संगः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्त्तव्यं सन्तः संसार-भेषजम्॥

कामः सर्वात्मना हेयः स चेत्यक्तुं न शक्यते।
मुमुक्षां प्रति कर्त्तव्यः सा च तस्यापि भेषजम्॥

रागश्चेद्यदि कर्त्तव्यः क्रियतां हरिपादयोः।
द्वेषश्चेद्यदि न त्याज्यो दुरितेषु स साध्यताम्॥

अपकारिणि चेत्क्रोधः क्रोधे क्रोधं कथं न ते।
धर्मार्थकाममोक्षाणां सर्वेषां परिपन्थिनि॥[1]

—अर्थात् संग को एकदम छोड़ देना चाहिए, किंतु यदि ऐसा नहीं हो पाता, तो साधुओं की संगति करनी चाहिए; क्योंकि वह संसार-रोग की औषधि है। काम का पूर्णतया नाश करना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं हो पाता, तो मोक्ष के प्रति काम रखना चाहिए, क्योंकि वह भी हितकर है। यदि राग करना ही है, तो हरिचरणों से ही उत्तम है। द्वेष का त्याग असम्भव है, तो पापियों से द्वेष करो। यदि क्रोध अपकारी है, तो तुम्हें वैसे क्रोध पर क्रोध क्यों नहीं होता है जो सभी धर्मार्थ-काम मोक्षों का शत्रु है?

उपर्युक्त उक्तियों में विहित मोक्ष-रति, भगवद्भक्ति आदि सभी वासनाओं के शुभ-नियुक्त रूप अभिव्यक्त होते हैं। किन्तु, जिस मार्ग से अर्थात् जिस विचार-मार्ग से वे पाये गये हैं, वह ध्यान देने का विषय है। विचार किसी प्रवृत्ति को साक्षात् शुभ-नियुक्त नहीं कर सकता है, प्रत्युत वह शुभ-नियुक्ति के लिए वांछित अथवा उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करता है, जिसमें अशुभ प्रवृत्ति स्वयं शुभ में नियुक्त हो जाती है।

विचार-मार्ग व्यक्ति को निःश्रेयस् तथा अभ्युदय के मार्ग पर ले जा सकता है; जब विचार-मार्ग निःश्रेयस् की ओर जाता है, तब व्यक्ति अपनी दृष्टि को सभी विषयों से खींच लेता है और तभी उसकी काम-शक्ति शुभ-नियुक्त होती है। किन्तु, शुभ-नियुक्ति का विषय व्यक्ति के बाहर नहीं रहता, प्रत्युत वह व्यक्ति के अन्त में ही पाया जाता है। काम-शक्ति को अन्तःशक्ति अर्थात् अहंकार से मिलाने के लिए एक ही मार्ग है, जो अन्य अवरोधों को निकाल बाहर करता है। तभी काम-शक्ति अन्तर्भूत होती है। इस प्रकार, अन्तर्गत अहंकार को विषय बनाने पर ही व्यक्ति अपनी शक्ति को पूर्णतया पहचान सकता है। इसके लिए किसी नवीन वस्तु की उत्पत्ति आवश्यक नहीं है, केवल मार्ग में पड़नेवाली रुकावटों को उठा देना ही पर्याप्त है। योगभाष्य ने इसके लिए एक अच्छी तुलना दी है—

१—डा० भगवानदास : *The Science of Emotions, 3rd Ed.n. p. 319.*

यथा क्षेत्रिकः केदारादपाम्पूरणात् केदारान्तरं पिप्लावयिषुः।
समं निम्नतरं वा नाऽपः पाणिना अपकर्षति, आवरणं त्वासां भिनत्ति ॥[१]

—अर्थात् (हम) ऐसी पुष्प-वाटिका तैयार करें जिसमें प्रत्येक पुष्प स्वेच्छा से विकसित हो। जब प्रत्येक वासना की तृप्ति भोग से हो जाय, तभी विवेक दृढमूल हो सकता है। वासना-तृप्ति निःश्रेयस्-मार्ग में अत्यावश्यक है। भोग-जल से सिंचित विवेक वृक्ष अन्तराय-वायु की झोकों को सहन कर सकता है। जिस प्रकार कृषक एक खेत से दूसरे खेत में जल बहाने के लिए जल को अपने हाथ से ऊपर से नीचे नहीं बहाता है और जिस प्रकार खेतों के बीच में रहनेवाले बाँधों के तोड़ने से ही ऊपर का जल नीचे बहने लगता है, उसी प्रकार विवेकरूपी हाथ से भोग-मार्ग में रहनेवाले बाँधों को तोड़ देने से शक्ति स्वयं तृप्त होकर विषयों से लौट पड़ेगी अर्थात् विमुख हो जायगी। यह उदाहरण जितना निःश्रेयस्-मार्ग के लिए उत्तम है उतना ही भौतिक अभ्युदय के लिए भी है।

अबतक हमने मूलप्रवृत्तियों के शोधन अथवा ऊर्ध्वायान या शुभ-नियुक्ति के मानसिक साधनों के विषय में ही चर्चा की है। अन्य साधन भी हैं। भौतिक पद्धतियों से भी शुभ-नियुक्ति की जा सकती है। नाडी-व्यूहों को वश में करने से तथा प्राणायाम आदि से चित्त को हम कुछ दूर तक वश में ला सकते हैं। संयम के मार्ग में प्राणायाम का महत्त्व अभी पाश्चात्य देशों में समझा जा रहा है। हठयोगी इसी मार्ग को अधिक महत्त्व देते हैं। मन और शरीर संबद्ध हैं। अतः एक का प्रभाव दूसरे पर अवश्य ही पड़ता है। किन्तु, हठयोग से चित्त का नियमन करना अति कठिन है, क्योंकि जितना शरीर का प्रभाव मन पर नहीं पड़ता है, उससे कहीं अधिक मन का शरीर पर पड़ता है। शुभ-नियुक्ति दो प्रकार की होती है—(क) एक अनुकूल वातावरण को उत्पन्न करने से और (ख) दूसरी उसी मार्ग पर अभ्यास करते जाने से। (१) अनुकूल वातावरण के लिए सर्वप्रथम निन्द्य प्रवृत्तियों की निवृत्ति या निरोध आवश्यक है। बिना एक से निवृत्त हुए व्यक्ति दूसरा जन्म ग्रहण नहीं कर सकता। अशुभ के लिए उसे मर-सा जाना पड़ेगा, तभी शुभ के लिए वह जीवित होगा। इस नये जन्म का नाम ही है—'द्विजत्व', जिसकी उद्भूति अचानक ही नहीं हो पाती। स्थावर अवस्था से लेकर मनुष्य के स्तर और उसके भी आगे के स्तरों की अच्छेद्य विकासधारा एक महत्त्व की वस्तु है, जिसे हम अभिव्यक्ति कहते हैं। विष्णु-पुराण में इसका वर्णन इस प्रकार है—

स्थावरं विंशतेर्लक्षं जलजं नवलक्षकम्।
कूर्माश्च नवलक्षं च दशलक्षं च पक्षिणः॥
त्रिंशल्लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं च वानराः।
ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत्॥
एतेषु भ्रमणं कृत्वा द्विजत्वमुपजायते।
सर्वयोनिं परित्यज्य ब्रह्मयोनिं ततोऽभ्यगात्॥'

१—योगभाष्य : ४–३

—अर्थात् २० लाख स्थावर, ६ लाख जलज, ६ लाख कूर्म, १० लाख पक्षी, ३० लाख पशु, ४ लाख वानर की योनियों के अनन्तर जीव मनुष्य-योनि में प्रवेश करता है और क्रमशः द्विजत्व में पहुँच जाता है। द्विजों में श्रेष्ठ है ब्रह्मवित्। समस्त योनियों में भ्रमण करने के उपरान्त जीव अन्त में ब्रह्मयोनि को प्राप्त करता है।

विष्णुपुराण में जो 'द्विज' कहे गये हैं वे ही निवृत्तिमार्गस्थ जीव हैं। इस अवस्था के जीव साधारण मनुष्य की उपाधि का अतिक्रमण कर प्रकृत मानवता के उच्च स्तर पर क्रमशः उन्नीत होकर अन्त में जीवन्मुक्ति के तुंग शिखर के ऊपर अधिरूढ होते हैं। इस प्रकार के उन्नत साधकों को विष्णुपुराण ने 'ब्रह्मवित्' कहा है। ईसामसीह ने भी इस प्रकार के द्विज का जिक्र किया है—

'मैं सत्य सर्वथा सत्य चाहता हूँ कि जब तक तुम्हारा पुनर्जन्म नहीं होगा, तुम स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं पा सकते।'[१]

जेम्स ने भी लिखा है कि ईसाई लोग जिसको सुधार या उद्धार कहते हैं, उस प्रकार निवृत्त जीव का नवजन्म होता है।

'व्यक्तित्व बदल जाता है—जीव का फिर से जन्म होता है...वह नया आदमी, नया जीव है।'[२] किन्तु, यह निवृत्ति हठात् नहीं होनी चाहिए। व्यक्ति को धीरे-धीरे निवृत्त होना चाहिए और साथ-साथ उसे चाहिए कि वह अपने लिए शुभ वातावरण बना ले। जैसे, साधु-सज्जनों की संगति आदि में रहना। किसी प्रवृत्ति को अचानक रोकने से अनर्थ हो जायगा। बालवल्लालयित्वैनं मुक्तानि यमयन्ति ये'। बालक के समान लालन करते-करते प्रवृत्ति का नियमन करना चाहिए। 'लालयित्वा' इस शब्द का अर्थ लिखते हुए योगवासिष्ठ का भाष्यकार कहता है—'लालयित्वा–अल्पविषयप्रदानेन मुहुर्विषयदोषख्यापनेन च वंचयित्वा।' मान लीजिए बच्चा फल के लिए रो रहा है। उससे यदि कहा जाय, 'फल देंगे ही नहीं', तो वह घर में अशान्ति फैलायगा। उसकी इस प्रवृत्ति की शुभ-नियुक्ति का मार्ग यह है, उसे फल तो दे दें, किन्तु उसी के हाथों से उसी फल को थोड़ा-थोड़ा कर देने का प्रयत्न करें, अथवा पहले ही उसे थोड़ा-सा दे दें और साथ ही उसके दोष बतावें। प्राकृतिक वासनाओं को भी कभी-कभी तृप्त कर लें और तब तृप्ति के साथ-साथ उनके शुभ एवं अशुभ प्रश्न पर ध्यान दें। (२) शुभ-नियुक्ति का दूसरा प्रकार अभ्यास है। इसका तात्पर्य यह है कि हमने जिस मार्ग में अपने चित्त को लगाया है, हम उसी मार्ग में उसे प्रवृत्त रखने का प्रयत्न करें। ऐसी शुभ-नियुक्ति स्वतः नहीं होती है, प्रत्युत इसके लिए व्यक्ति को पग-पग पर अपनी प्रवृत्तियों से लड़ना पड़ता है। इस प्रकार की जो प्रयत्न-साध्य शुभ-नियुक्ति है, वह कभी-कभी अशुभ में भी परिणत हो सकती है; जैसा कि योगवासिष्ठ में आया है—'अशुभाचालितं याति तस्मादपीतरत्' अर्थात् वह शक्ति अशुभ से हटाने पर शुभ से नियुक्त होती है और शुभ से हटाने पर अशुभ में नियुक्त होने लगती है।

१—"Verily verily I say unto you, unless you be born again you cannot enter the Kingdom of God."

२—*William James : 'Varieties of Religious Experience.' p.p. 228, 241.*

जो शुभ-नियुक्ति स्वतः होती है उसका अधिकांश कुमारावस्था में ही हो जाता है; क्योंकि उस अवस्था में काम-शक्ति को जिस ओर चाहें, सरलतापूर्वक घुमा सकते हैं। इसी अवस्था में जीवन-संग्राम में प्रथम पदार्पण होता है। स्पष्ट है, व्यक्ति के सारे जीवन की तैयारी उसी काल से आरम्भ की जा सकती है। इस अवस्था में व्यक्ति का चित्त काम-शक्ति की प्रेरणा से बाह्योन्मुख होने लगता है और प्रत्येक दिशा में दौड़ने लगता है। इस अवस्था के चित्त को निर्विरोध बहने देना चाहिए, किन्तु इसके लिए एक पुनीत वातावरण की अनिवार्यता होती है। आदि भारत में माता-पिता अपने बच्चों को बाल्यावस्था में ही आश्रमों में छोड़ते थे, जहाँ का वातावरण ही उनकी नवीन भावनाओं तथा जागरूक शक्ति को शुभ मार्गों में प्रवृत्त कर सकता था। इसीलिए ही श्रुति का कहना है—

मातृमानपितृमानाचार्यवान् वेद।

—अर्थात् जिनके माता-पिता तथा आचार्य गुणवान् है, वही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जो शुभ-नियुक्ति स्वतः नहीं होती, वह आजन्म होती रहती है। कहने का तात्पर्य यही है कि स्वतः होनेवाली शुभ-नियुक्ति बाल्यकाल में अधिक मात्रा में हुआ करती है। जो शुभ-नियुक्ति स्वतः नहीं होती और व्यक्ति को पुरस्कार देने अथवा प्रेरित करने से होती है, उसके लिए किसी समय-विशेष का निर्देश नहीं किया जा सकता है, किन्तु स्थूलतया यह कहा जा सकता है कि उस प्रकार की शुभ-नियुक्ति के लिए यौवन ही अच्छा समय है। वार्द्धक्य एक प्रकार का शैशव है। अतः उस समय शुभ-नियुक्ति होती है कि नहीं इसे पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं। वृद्धावस्था के आते-आते यौवन-उन्माद एवं भोगों के कारण काम की उद्दण्डता घट जाती है, किन्तु काम-शक्ति नहीं नष्ट होती। अत्यन्त वृद्धावस्था में तो शुभ-नियुक्ति हो ही नहीं सकती। किन्तु, जब व्यक्ति यौवन और वार्द्धक्य के बीच में खड़ा रहता है तभी काम-शक्ति अपने विषयों को छोड़कर अन्य प्रवृत्तियाँ ग्रहण करती है। वृद्ध व्यक्तियों के लिए साधारणतः भक्ति अधिक उपयोगी है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि वृद्धावस्था धार्मिक उन्नति की अवस्था है। शुभ-नियुक्ति के उचित समय और धार्मिक भाव-विकास के विषय में दार्शनिक जेम्स अपना दूसरा मत प्रकट करते हैं।[१]

१—डॉ० फ्रायड तथा कुछ अन्य आचार्यों के मतानुसार धार्मिक उन्नति के मूल में वासनाएँ पाई जाती हैं। किन्तु, अमेरिकी दार्शनिक विलियम जेम्स इस मत का विरोध करते हुए लिखते हैं—

"Saint Francois do sales for instance, thus describes the 'orison of quietude' : ...And again : 'consider the little infants, united and joined to the breasts of their nursing mothers, you will see that from time to time they press themselves closer by little starts to which the pleasure of sucking prompts them. Even so, during its orison, the heart united to its God often times makes attempts at closer union by movements during which it presses closer upon the divine sweetness......"

—अर्थात् साधु फ्रांकाई लिखते हैं—"नवजात शिशुओं को देखो। वे अपनी माता के स्तनों से चिपककर दूध चूसने के आनन्द से प्रेरित होकर कभी-कभी माता के और समीप खिसक जाते हैं। इसी प्रकार चित्त भी भगवान् से ऐक्य पाकर कई बार उनसे और गाढ रूप से मिलने का प्रयत्न करता है, जिससे वह दैवी माधुरी का और समीप रहकर पान कर सके।"

वे धर्म के विकास को काम-शक्ति से सम्बन्धित नहीं मानते हैं। शंका के रूप में वे यह विचार प्रकट करते हैं कि धार्मिक भाव-विकास का प्रधान समय वार्द्धक्य अर्थात् यौवन और वार्द्धक्य की अभिसन्धि है। धार्मिक विकास किस प्रवृत्ति अथवा किस वासना का शुभ-नियुक्त रूप है, इसका निराकरण वे नहीं करते।

आचार्य जेम्स पुन: लिखते हैं—"The two main phenomena of religion namely melancholy and conversion, they will say, are essentially phenomena of adolescence, and therefore synchoronous with the development of sexual life. To which the retort again is easy. Even were the asserted synchrony unrestrictedly true as a fact (which it is not), it is not only the sexual life, but the entire higher mental life which awakens during adolescence. One might then as well put of the thesis that the interest in mechanics, physics, chemistry, logic, philosophy and sociology, which springs up during adolescent years along with that in poetry and religion is also a perverion of the sexual instinct. Moreover, if the argument from synchrony is to decide, what is to be done with the fact that the religious age par-excellence would seem to be old age, when the uproar of the sexual life is past ?"

—*William James, 'The Varieties of Religious Experience, p.' 11-12.*

जेम्स के तर्कों को हम संक्षेपत: इस प्रकार से बता सकते हैं—(१) भगवदैक्य के वर्णन के लिए जो उपमाएँ आदि अलंकार प्रयुक्त होते हैं, वे केवल मिथुन-जीवन से ही नहीं लिये जाते हैं, प्रत्युत वे भोजनादि के क्षेत्र से भी लिये जाते हैं। इस कारण से हम धर्म की उत्पत्ति को मैथुन-वासनात्मक नहीं समझ सकते हैं। (२) यदि कालयौगपद्य से अर्थात् कौमार्य और धर्मविषयक औत्सुक्य के एक साथ होने के कारण धर्म को मैथुन-वासनाजन्य कहें तो वह भी ठीक नहीं होगा; क्योंकि और अनेक ऐसी शक्तियाँ भी व्युत्थित होती हैं जिनका मिथुन-वासनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है, नहीं तो उन सबको भी मैथुन-विषयक बताना पड़ेगा। (३) यदि मैथुन-जीवन से धार्मिक वृत्ति की उत्पत्ति होती है, तब इस बात का क्या उत्तर है कि धार्मिक विकास का सबसे उत्तम समय बुढ़ापा है जब कि मिथुन-जीवन समाप्त-सा होता है। अब हम क्रमश: इन तर्कों का उत्तर देने की चेष्टा करते हैं—

(१) साधु फ्राँकाई का वर्णन जितना जेम्स के पक्ष के अनुकूल है, उससे भी अधिक वह डॉ० फ्रायड के मत के अनुकूल है। जेम्स ने डॉ० फ्रायड के मुख्य आविष्कार के प्रकट होने के पूर्व यह टिप्पणी लिखी थी। डॉ० फ्रायड ने मिथुन शब्द का आकर्षण के अर्थ में प्रयोग किया। इस अर्थ में उक्त साधु का वर्णन मिथुन-वासना के अन्तर्भूत हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि उक्त अलंकार में साधु का जोर दुग्धपान पर नहीं है। वह है माता के स्तनों से चिपक जाने में और बीच-बीच में उछल-उछलकर उसको और गाढ रूप से आश्लिष्ट करने में। इस क्रिया का एकमात्र कारण दुग्धपान-जन्य आनन्द अथवा मातृ-वक्ष:स्थल का सामीप्य (?) ही है। भक्त के विषय में यही आनन्द भगवदैक्य और वह भी उसके माधुर्य के पान करने के लिए ही है। ये सभी बातें मैथुनविषयक उपमा में भी अन्तर्भूत कही जा सकती हैं। अत: इसीसे जेम्स की उक्ति का समर्थन नहीं होता है। (२) डॉ० फ्रायड धर्म की उत्पत्ति और कामशक्ति-विकास के यौगपद्य से उनका कार्य-कारण-सम्बन्ध बताना नहीं चाहते, प्रत्युत उनका कहना यही है कि दोनों के लक्षण एक ही प्रकार के होते हैं। एक की अभिव्यक्ति और दूसरे की अभिव्यक्ति या तिरोभाव एक साथ हुआ करते हैं। इसीसे वे कहते हैं कि तिरोभूत भाव दूसरा रूप धारण करके निकला और वही दूसरा रूप धर्म है। (३) इससे तीसरी शंका का भी समाधान हो जाता है। वृद्धावस्था में मैथुन-शक्ति के घटने पर भी मैथुन-विषयक इच्छाएँ बनी रहती हैं। मैथुन-जीवन के नहीं रहने से मैथुन-भाव के विनाश या लोप का अनुमान करना भ्रामक है। नपुंसकों में काम अधिक देखा जाता है, यद्यपि वह शारीरिक परिस्थिति के दोषों के कारण क्रियान्वित नहीं हो पाता। इस सम्बन्ध में डॉ० फ्रायड की पुस्तक 'The future of an Illusion' नामक ग्रन्थ देखना चाहिए।—ले०

इस प्रकार से जो संकल्प-बल से शुभ-नियुक्ति होती है, वह विपरीत भी हो सकती है। तात्पर्य यह है कि शुभ-नियुक्ति के उपरान्त कभी-कभी व्यक्ति फिर सर्वथा अशुभ की ओर प्रवृत्त हो सकता है। कभी-कभी यह परिवर्त्तन आकस्मिक मालूम पड़ने लगता है। एक क्षण में व्यक्ति दूसरा ही हो जाता है। पलक भाँजने ही बुरे से अच्छा और अच्छे से बुरा हो सकता है। अति धार्मिक जनता सर्वथा अधार्मिक बन जाती है। ऐसे प्रत्यावर्त्तन से यही समझना चाहिए कि शुभ-नियुक्ति का जागरण स्वतः नहीं हुआ है, प्रत्युत वह किसी कारण से व्यक्ति के यत्न से सम्पन्न हुआ है। इन अयाचित एवं अवांछित परिस्थितियों में निरुद्ध संवेग अचानक फूट निकलते हैं। व्यास, पराशर आदि बड़े-बड़े ऋषि का प्रतीप-गमन इसके उदाहरण हैं। वे कठोर नियमों का पालन करते थे और अपने सभी संस्कारों के विनाश-हेतु तप किया करते थे। किन्तु, उनके प्रतीप-गमन से यह स्पष्ट है कि वे शुभ-नियुक्ति में पूर्णतया सफल नहीं हो सके। स्पष्ट है, निरोध से संयम नहीं हो सकता। ऐसे बड़े-बड़े ऋषि अचानक प्रलोभन में क्यों पड़ जाते हैं? उस समय उनका सारा तपोबल कहाँ चला जाता है? इस प्रकार के प्रश्न सभी के मन में उठ सकते हैं। पराशर दास-कन्या को देखकर मोहित हो गये। विश्वामित्र मेनका के दास बन गये। व्यास तोते को देखकर अपने वीर्य की रक्षा नहीं कर सके। तप और ध्यान से उनकी सारी चित्त-वृत्तियाँ प्रसुप्त तो हो गई थीं, किन्तु वे निर्वीज नहीं हो पाई थीं। गीता में आया है—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥[1]

स्पष्ट है, निराहार[2] की सभी वासनाएँ निवृत्त होती हैं, किन्तु रस रह जाता है। अतः राग रहता है। उस समय उस काम-शक्ति में इतना बल नहीं रहता है कि वह अपने लिए अनुकूल परिस्थिति की रचना कर सके। यदि किसी कारणवश आहार सामने आ जाय तो भूख से बावला मनुष्य अन्न के ग्रास के ऊपर टूट पड़ता है। यही पराशर आदि ऋषियों के पतन का कारण है। ऐसा कोई भी नहीं कह सकता है कि उन ऋषियों का वैसा आचरण उनके पतन का द्योतक नहीं था। हिन्दू-धर्म की यही महत्ता है कि उसे अपने महात्माओं की कमियों का पूर्ण परिज्ञान रहता है। किन्तु, वह लोगों को सावधान कर देता है, उस विषय में महात्माओं का अनुसरण उचित नहीं है।[3] ऋषि-महर्षि तो समर्थ कहे जाते हैं। 'समरथ के नहिं दोष गुसाईं।' पतन

१—गीता : ३ । ५९

२—मनुष्य ऊनविंशतिमुख है। अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त ये सभी जीव के मुख हैं। इनसे जीव आहार का ग्रहण करता है। इस विशाल अर्थ में आहार का अर्थ काम-शक्ति से भिन्न नहीं होता है; क्योंकि वात्स्यायन के कामसूत्र के अनुसार वह भी आत्म-संयुक्त इन्द्रियों की, मन से अधिष्ठित दशा में अपने-अपने विषयों में, अनुकूलतः प्रवृत्ति ही है।

३—"ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसं॥
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा।"

हो जाने पर समर्थ सँभल जाते हैं और अपनी दुर्बलता को जीतने का प्रयत्न करते हैं। साधारण व्यक्ति उनका अनुकरण करके पतन के गर्त्त में तो गिरेगा अवश्य; किन्तु वैषयिक आनन्द में रत होकर पुनः उठ नहीं सकेगा। अतएव, गुरुजन शिष्य को उपदेश देते समय कहते हैं।

यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नौ इतराणि॥[1]

—अर्थात् 'वत्स! हमारे सुचरितों का अनुकरण करो, दुश्चरितों का नहीं।' व्यास आदि ऋषि अपनी इस प्रकार की दुर्बलता से भलीभाँति परिचित थे और वे इसकी स्पष्ट घोषणा भी करते हैं। उदाहरणार्थ, व्यास को ही लीजिए। व्यास ने वेदान्त का सर्वोत्तम ग्रन्थ वेदान्तसूत्र रचा, किन्तु उन्हें तृप्ति नहीं हुई और भागवत भी लिख मारा। भक्ति-सम्प्रदाय के लोग इससे यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि भक्ति-मार्ग सबसे उत्तम है। किन्तु, क्षण-भर के लिए उन्हें सोचना चाहिए कि व्यास के वचनों का महत्त्व क्या है? व्यास का वचन भागवत में इस प्रकार है—

धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्नयः।
मानिता निर्व्यलीकेन गृहीतं चानुशासनम्॥
भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत॥
तथापि बत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवात्मना विभुः।
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्वसत्तमः॥[2]

नारद उवाच—

जिज्ञासितं अधीतं च यत्तद्ब्रह्म सनातनम्।
अथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थं इव प्रभो॥

व्यास उवाच—

अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं तथापि नात्मा परितुष्यते मे।
तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं पृच्छामहे त्वात्मभवात्मभूतम्॥[3]

—व्रत धारण करके मैंने वेदों का अध्ययन, गुरुजनों और अग्नियों की सेवाएँ की हैं। निष्कपट स्वभाव से मैंने गुरु-मुख से शिक्षा प्राप्त की है। भारत के व्यपदेश अर्थात् संकेत से स्त्री, शूद्र आदि के लिए वेदार्थ प्रदर्शित किया, तो भी मेरी यह दैहिक आत्मा, जीवात्मा अकृतार्थ प्रतिभात होती है। विदित होता है कि ब्रह्मवर्चस् में वह परिपूर्ण नहीं हुई।

और भी—

'ईश्वरैरपि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'

—ईश्वरों की (समर्थ पुरुषों की) बातें सच रहती हैं। उनमें भी धर्म-व्यतिक्रम देखा गया है। किन्तु, वह उनको दोषी नहीं ठहराता है। ईश्वर को भी अपने किये शुभाशुभ कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा।

१—तैत्तिरीयोपनिषद् : ११, २–३

२—श्रीमद्भागवत : १. ४. २८–३०

३—वही : १. ५. ४–५

नारद ने कहा—'भगवन्, आपने सनातन ब्रह्म की जिज्ञासा की, तथापि अपने को अकृतार्थ समझकर दुःखित होते हैं।'

व्यास ने कहा—'ये सब तो हैं, किन्तु मेरी आत्मा प्रसन्न नहीं हुई। उसका मूल कारण अव्यक्त है, अगाध है, अबोध है। आत्मनिष्ठ, आपसे उसके विषय में जिज्ञासा करता हूँ।'

यदि वेदान्त और भागवत में भेद नहीं है तो यह कहने का कोई तात्पर्य ही नहीं है कि 'मैंने वेदों के सारभूत उपनिषदों का दुग्ध वेदान्त-सूत्रों के रूप में भक्तों को पिलाया।' किन्तु 'उससे मेरी तृप्ति नहीं हुई। अतः भागवत की रचना की।' ऐसे कथन से भागवत का महत्त्व उपनिषदों से और वेदान्त-सूत्र से भी बढ़ जायगा, जो कम-से-कम युक्तिसंगत तो नहीं जँचता। वैष्णव भी वेद को, उपनिषदों को और वेदान्त-सूत्रों को पुराणों से बढ़कर प्रमाण मानते हैं। मीमांसा से यह सिद्ध है और सभी हिन्दू इसका समर्थन करते हैं। अतः मानना पड़ता है कि वैदान्तिक मार्ग का गम्भीर सत्य भी वेदव्यास को अरोचक लगा, और फिर उन्होंने तृप्ति के लिए भागवत की रचना की। इसी तृप्ति की खोज के कारण वे प्रथम गण्य ज्ञानी नहीं कहे गये। उनमें काम-शक्ति वीज-रूपेण विद्यमान थी।

जिन्होंने अद्वैत-सिद्धि की रचना की, उस मधुसूदन सरस्वती की भी यही बात है। बादरायण उनके लिए मार्गदर्शक हुए। अद्वैत का सर्वोत्तम ग्रन्थ तो उन्होंने लिखा, किन्तु बाद में भगवद्गीता पर द्वैतपरक मधुसूदनी टीका लिखकर ही वे तृप्त हुए। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि इन महान् व्यक्तियों में शुभ-नियुक्ति पूर्णरूपेण स्थापित नहीं हो सकी थी।

उपर्युक्त महान् व्यक्तियों के अतिरिक्त हमें दूसरे प्रकार के लोग मिलते हैं, जो क्षण में बनते हैं और क्षण में बिगड़ते हैं। उनका जीवन शिक्षाप्रद है। इनमें वे व्यक्ति आते हैं, जो एक समय दुर्विनीत थे, जो 'स्वयं-कृषि' तथा पुण्यपरिपाक से पुरुषश्रेष्ठ समझे गये। महर्षि वाल्मीकि आरम्भ में डाकू थे और वे अपने कुटुम्ब के उदर-पोषण के लिए किसी भी प्रकार के निषिद्ध कार्य को करने में नहीं हिचकते थे। नारद की कृपा से वे राम-नाम जप करने लगे और उसी में लीन हो गये। वाल्मीकि मन्मथ को मारकर भक्त-शिरोमणि एवं महर्षि हो गये तथा आदिरामायण की रचना की। भक्त-शिरोमणि तुलसीदास अपनी पत्नी के पीछे सारा संसार भूल बैठे थे। अन्त में वे रामचन्द्र के अनन्य भक्त हुए और हिन्दी-साहित्य में सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ रामायण के प्रणेता बने। इसका मर्म क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में हम भक्ति आदि शुभ-नियुक्त विषयों के बारे में परिशीलन करने के लिए विवश होते हैं।

धर्म तथा शुभ-नियुक्ति और भक्ति तथा शुभ-नियुक्ति में क्या सम्बन्ध है ? व्यक्ति राग से भक्ति की ओर क्योंकर घूम गये ? उन दोनों में क्या सम्बन्ध है ? इत्यादि प्रश्न उपस्थित होते हैं। धर्म और भक्ति में एक भेद है। धर्म से केवल इस बात का पता चलता है कि व्यक्ति एक ईश्वर को मानता है और उससे वह अपना किसी प्रकार से सम्बन्ध जोड़ लेता है। यह सम्बन्ध किस प्रकार का है, इसका ज्ञान भक्ति कराती है।

भक्ति धर्म का प्राण है। धर्म अस्थि है तो उसको चलानेवाली एवं प्राण भरनेवाली भावना और भाव-विशेष भक्ति है। भारतवर्ष में भक्ति-मार्ग के मुख्य शास्त्र भी हैं। नारद एवं शाण्डिल्य नामक दो आचार्यों ने विशेषतः भक्ति की मीमांसा की है। पाश्चात्य देशों में भी भक्ति का विशेष स्थान है। अतः भक्ति का अर्थ क्या है, इसे स्पष्ट करने का हम प्रयत्न करते हैं। शाण्डिल्य का कहना है कि भक्ति 'सा परानुरक्तिरीश्वरे'[१] अर्थात् 'वह आराध्य ईश्वर-विषयक परम अनुरक्ति है।' नारद इस अनुरक्ति को स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा'; अर्थात् वह सम्बन्ध परम प्रेम है, प्रेम करनेवाला है और प्रेम का आलम्बन है। आलम्बन ईश्वर है। वही परम प्रेम है, परानुरक्ति है। 'परा' अर्थात् श्रेष्ठ शब्द की टीका में स्वप्नेश्वराचार्य लिखते हैं कि 'परा' शब्द अन्य अनुरागों से व्यवच्छेद करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। कदाचित् लोग समझ सकते हैं कि यह भी राग है। राग पञ्चक्लेशों में एक है। योग-सूत्र पाँच क्लेशों में राग को भी अन्तर्गत और अविद्या-समुत्थित बताता है, यथा 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः।'[२] अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। अतएव, ईश्वर-भक्ति हेय हो सकती है; क्योंकि वह भी अज्ञान-संभूत है। अतः इसी भ्रम को दूर करने के लिए शाण्डिल्य कहते हैं—'हेयारागत्वादिति चेत् न उत्तमास्पदत्वात् संगवत्'[३]; अर्थात् राग होने के कारण वह हेय नहीं है; क्योंकि उसका आश्रय जो ईश्वर है, वह उत्तम है। इसमें ध्यान देने की बात यह है कि वे उसे राग; अर्थात् अविद्या-संभूत मानते हैं; किन्तु उत्तम आलम्बन (ईश्वर) के कारण उसके हेयत्व का निराकरण करते हैं और कहते हैं कि वह हेय नहीं है। वे 'संग' का उदाहरण देते हैं। संग से काम होता है। यदि वह सर्वथा त्याज्य नहीं है, तो उसे उत्तम पुरुष अपना सकते हैं। अतः राग और परम राग का भेद आलम्बन के भेद से होता है। भाव एक ही है, किन्तु एक रूप में वह शुभ है, दूसरे में अशुभ। प्रह्लाद का वचन भी इसी की पुष्टि करता है। वे परम पिता से प्रार्थना करते हैं—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥[४]

—अर्थात् 'पिता, विषयों में अविवेकियों को जो दृढ प्रेम होता है, वही तुम्हारे स्मरण करनेवाले मेरे चित्त से न निकले।' नारदभक्ति-सूत्र से भक्ति तथा वैषयिक काम में अधिक सम्बन्ध प्रकट होता है। देखिए—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।[५]

—अर्थात् अपने सभी कर्म उनको अर्पित करना और उनके विस्मरण से परम व्याकुलता पाना, जैसा कि गोपिकाओं में पाया जाता है—

१—शांडिल्यसूत्र : २
२—योगदर्शन : २. ३
३—शाण्डिल्यसूत्र : ४२
४—विष्णुपुराण : १. १
५—नारदभक्तिसूत्र : १६

यथा व्रजगोपिकानाम् ।[1]

जार-प्रेम भक्ति का उदाहरण समझा जाता है। जिस प्रकार सब कर्मों को करने हुए जारिणी अपने उपपति का स्मरण करती रहती है, ठीक उसी प्रकार भक्त भगवान् का स्मरण रखे, तो वही परम भक्ति समझी जाती है। भगवान् के प्रति दो ही प्रकार का प्रेम करना चाहिए, यही नारद का मत है—

त्रिरूपभंगपूर्वकं नित्यदास्यनित्यकान्ताभजनात्मकं प्रेम कार्यं प्रेमैव कार्यम् ।[2]

—अर्थात् 'नित्य दास्य और नित्यकान्ताभजनात्मक प्रेम ही करना चाहिए, प्रेम ही कार्य है।' इन्हीं दोनों अर्थात् दास्य-भाव और स्त्री-भाव को भक्त प्रधान समझते हैं। इन्हीं में अन्य सभी भक्तियाँ अन्तर्भूत या पर्यवसित होती हैं। प्रारम्भ दास्य-भाव से होता है और उच्छ्रिति स्त्री-भाव में प्राप्त होती है। नारद के मत के अनुसार भक्ति के अन्य ग्यारह प्रकार हैं। इनमें उपर्युक्त दो भी सम्मिलित हैं। देखिए—

गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तिवात्सल्यासक्ति-कान्तासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयासक्तिपरमविरहासक्तिरूपैकधाप्येकादशधा भवति ।[3]

—अर्थात् अनुराग एक होने पर भी आसक्ति के प्रकार के भेद से वह ग्यारह प्रकार का हो जाता है—(१) गुण-माहात्म्यों में आसक्ति होना, (२) भगवद्रूपपर आसक्त होना, (३) पूजा करने में अभिरति होना, (४) उनके स्मरण में आसक्त रहना, (५) दास्यभाव में आसक्ति, (६) भगवान् से सख्य भाव रखना, (७) वात्सल्य आसक्ति, (८) कान्तासक्ति, (९) आत्म-निवेदनासक्ति, (१०) तन्मयासक्ति तथा (११) परमविरहासक्ति। वास्तव में यदि देखा जाय तो इन ग्यारह प्रकारों में राग अथवा काम का ही रूप पाया जाता है, किन्तु कहीं वह एक नाम धारण करता है, कहीं दूसरा। भक्ति के उद्रेक में भक्तों में जो लक्षण दिखाई पड़ते हैं, वे भी इसी काम अथवा भक्ति के सम्बन्ध का परिज्ञान कराते हैं। उन लक्षणों को 'महाभाव' की संज्ञा मिली है। कण्ठावरोध, रोमाञ्च, अश्रुपात आदि महाभाव हैं। स्त्री-विषयक प्रेम में भी ये ही भाव प्रकट होते हैं। उपर्युक्त चर्चा से विदित हो सकता है कि स्त्री प्रेम अन्ततोगत्वा भगवद्भक्ति में कैसे परिणत हो जाता है। दोनों में परस्पर विरोध नहीं है। काम-शक्ति एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय को ग्रहण करती है। भक्ति की प्रधान आवश्यकता है सभी इतर आश्रयों को छोड़ना। ईश्वर से प्रेम करते समय हम दूसरे से प्रेम नहीं कर सकते। नारद का कहना है—

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिष्वुदासीनता च ।
अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ॥[4]

—अर्थात् भक्ति का रूप आनन्दात्मक है। अपनी काम-शक्ति के जितने आलम्बन हैं, सभी को छोड़ देना पड़ता है। अपनी सारी काम-शक्ति उसी में लगानी पड़ती है। इसीसे तुलसीदास आदि ने पत्नी को छोड़ते ही ईश्वर का आश्रय लिया। इन परिवर्त्तनों के

१—वही : २१।
२—वही : ६६।
३—वही : ८२।
४—वही : ९–१०।

परिज्ञान में यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि पत्नी के प्रति जो पहले प्रेम था वह लुप्त हो गया; क्योंकि, वास्तव में, बात यह है कि पत्नी के प्रति जो पूर्व प्रेम था, उसी को उस विषय से अलग करके दूसरे विषय से संलग्न कर दिया गया और वह दूसरा विषय था ईश्वर। अतएव, भक्ति के उद्रेक में उसी काम-शक्ति के लक्षण प्रकट होते हैं। उस शक्ति का ध्येय शारीरिक न रहकर केवल मानसिक संभोग रहता है। अतः भगवद्भक्ति को, उसके सभी मुखों में, काम-शक्ति अथवा मिथुन-शक्ति का शुभ-नियुक्त रूप ही समझना चाहिए। संन्यास में भी कई भेद हैं। किसी में गृहकलह लेकर विरक्ति होती है और वह संन्यास ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार की सभी घटनाओं में एक समानता पाई जाती है, जिसके लक्षण हैं: (१) प्रारम्भ में अत्यन्त वैषयिक प्रीति—कान्तासक्ति, उसके उपरान्त (२) किसी कारणवश उसकी तृप्ति में अवरोध का उपस्थित होना, तब (३) असंतृप्ति के कारण कान्ता-परित्याग तथा दूसरे आलम्बन की खोज, तदुपरान्त (४) दूसरे आलम्बन की प्राप्ति के होने तक एक व्याकुलता और अन्त में (५) उसके मिल जानेपर तृप्ति और सुखातिशय की अनुभूति। इससे विदित होता है कि जिस विषय का त्याग किया जाता है और पुनः जिस आलम्बन का आश्रय लिया जाता है, उन दोनों में कुछ सम्बन्ध अवश्य रहना चाहिए। उपर्युक्त चौथी भूमि के उपरान्त ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग का भेद हो जाता है।

विषय के त्याग से व्याकुलता होती है, जिसके दो रूप हैं—(१) प्रतिक्रिया तथा (२) अन्य विषय के लिए खोज। प्रतिक्रिया से ज्ञानमार्ग की वृद्धि होती है। व्यक्ति को परिज्ञान होता है कि प्रेम कुछ नहीं है, वह केवल नाम है, उसकी वास्तविक सत्ता नहीं है और सभी नश्वर हैं, अतः प्रेम सर्वथा त्याज्य है। इस प्रकार उस व्यक्ति में प्रेम की प्रतिक्रिया होने लगती है। उसमें द्वेष-भाव की उद्भूति होती है, क्योंकि प्रेम का दूसरा प्रतिपक्ष रूप द्वेष ही है। इस विषय में व्यक्ति सर्वप्रथम संसार से, तब ईश्वर से और फिर अनित्य से द्वेष करने लगता है। यह द्वेष-भाव पूर्व प्रेम-वेग से बचने का प्रयत्न ही है। पुनः एक ऐसा दिन आता है जब कि व्यक्ति द्वेष की अनित्यता को भी पहचानने लगता है और प्रेम एवं द्वेष दोनों को छोड़कर आत्मस्थ होने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार से पहले प्रेम में विश्वास, परावलम्बन, अपनी तृप्ति के लिए विषय के अस्तित्व पर आश्रित रहने में ही मूढ विश्वास, उसके उपरान्त उसके खोखलेपन का विचार और तज्जन्य दुःखवाद 'सर्वं दुःखं दुःखम्', 'सर्वं अनित्यं अनित्यम्' अर्थात् सभी दुःख है, सभी अनित्य है, सभी में अविश्वास और अन्त में 'सर्वं शून्यं शून्यम्' अर्थात् सभी शून्य है, निर्वाण, परमशान्ति और उसके कारण अनन्त ज्ञानज विश्वास[१] होते हैं। इस प्रकार के लोगों में काम-शक्ति के लिए कोई स्थिर विषय प्राप्त नहीं होता। एक अवस्था में व्यक्ति अपने को विषय बना लेता है, किन्तु वह भी क्षणिक रहता है। उस स्थिति में वह एक शक्ति को मानने लगता है, किन्तु उसे अपने से भिन्न नहीं समझता है। वह अपनी पूजा करने लगता है, जैसा कि योगवासिष्ठ में आया है—

१—Optimism due to experience and knowledge. 'Optimism' आशावाद या मूढ विश्वास को कहते हैं और 'Pessimism' को दुःखवाद (निराशावाद) अथवा अविश्वास कहा जाता है।

अविष्णुः पूजयन्विष्णुं न पूजाफलभाग्भवेत् ।
विष्णुर्भूत्वा यजेद्विष्णुं अयं विष्णुरहं स्थितः ॥
नमो मह्यमनन्ताय निरहंकाररूपिणे ।
नमो मह्यमरूपाय नमः समसमात्मने ॥[1]
अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माहमच्युतः ।
नान्यदस्तीति परमा विज्ञेया सा ह्यहंकृतिः ॥

अष्टवक्रगीता का भी कथन है—

अहो अहं नमो मह्यं विनाशो यस्य नास्ति मे ।
ब्रह्मादिस्तंबपर्यन्तं जगन्नाशेऽपि तिष्ठतः ॥
अहो अहं नमो मह्यमेकोहं देहवानपि ।
क्वचिन्न गंता नागंता व्याप्य विश्वमवस्थितम् ॥
अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः ।
असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम् ॥
अहो अहं नमो मह्यं यस्य मे नास्ति किंचन ।
अथवा यस्य मे सर्वं यद्वाङ्मनसगोचरम् ॥[2]

—'विष्णु की पूजा अविष्णु होकर करने से पूजा-फल प्राप्त नहीं होता है। विष्णु की पूजा विष्णु होकर ही करना चाहिए। मैं ही विष्णु हूँ। अनन्त निरहंकार रूपी मेरे लिए नमस्कार है। अरूप मेरे लिए नमस्कार है। जो अहंकार बोल उठता है।' 'यह सारा विश्व मैं ही हूँ', 'परमात्मा अच्युत मैं ही हूँ', 'मुझसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है', वह अहंकार श्रेष्ठ अहंकार समझा जाता है। व्याकुलता की दशा से प्रतिक्रिया के बदले में दूसरा परिवर्त्तन भी हो सकता है और शुभ-नियुक्त रूप धारण कर सकता है। इसीसे धार्मिक बुद्धि, परावलम्बन और श्रद्धा आदि का विकास होता है। भक्तिमार्ग भी यही है। विषय को छोड़ने के उपरान्त व्यक्ति व्याकुलता को नहीं सह सकता और न उसमें द्वेष उत्पन्न होता, क्योंकि उसमें अब भी तृप्ति की आशा रहती है। यह सब वैयक्तिक परिस्थिति पर निर्भर करता है। परिस्थिति के अनुकूल व्यक्ति इस दशा से भक्ति की ओर अथवा ज्ञान की ओर प्रवृत्त होता है। अतः व्यक्ति कुछ दिन तक अन्य-अन्य विषयों की खोज करता फिरता है, और जब उसकी काम-शक्ति की तृप्ति किसी भी आलम्बन से नित्यरूप से नहीं होती है, तब उस प्रकार के आलम्बन की कल्पना करता है जो नित्य हो, जिस पर अवलम्बित होने से विना किसी रुकावट के उस काम की तृप्ति हो सके। अतएव, महर्षि पतंजलि का ईश्वरविषयक सूत्र है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।[3]

१—योगवासिष्ठ : उप०, ३१–४०; ३६, २६
२—अष्टावक्रगीता : २,११–१४
३—योगदर्शन : १,२४

देखिए इसकी व्याख्या—'तच्च तस्मैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं, न तावत् ऐश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते; यदेवातिशयि स्यात् तदेव तत् स्यात्; तस्मात् यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः। न च तत् समानमैश्वर्यमस्ति, कस्मात्, द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत् कामितेऽर्थे, नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्तु, इत्येकस्य सिद्धौ, इतरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तम्; द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत् कामितार्थप्राप्तिर्नास्त्यर्थस्य विरुद्धत्वात्। तस्मात् यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्यं स ईश्वरः, स च पुरुषविशेष इति।'

उसके ऐश्वर्य के समान या उससे अधिक ऐश्वर्य दूसरे किसी का नहीं है। दूसरे किसी का ऐश्वर्य उसके ऐश्वर्य का कभी अतिक्रमण नहीं कर सकता है; जो ऐश्वर्य दूसरे का अतिक्रमण करता है, वही ईश्वरैश्वर्य है; अतएव जिसमें ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है, वही ईश्वर है। उसके समान ऐश्वर्य दूसरे किसी का नहीं है, क्योंकि दोनों के ऐश्वर्य यदि बराबर हों, तो एक ही समय एक की ऐसी इच्छा हो सकती है कि—यह 'नई चीज हो', दूसरे की ऐसी इच्छा हो सकती है कि—'पुरानी चीज ही रहे।' इस प्रकार की विरुद्ध इच्छाएँ होने के कारण, यदि एक का अभीष्ट सिद्ध हो, तो दूसरे की इच्छा में बाधा पड़ती है; अतः दूसरा पुरुष अनीश्वर हो जाता है; दो समान व्यक्ति की एक ही समय इच्छासिद्धि नहीं हो सकती है; क्योंकि इच्छाएँ आपस में विरोधी हैं। अतः जिसका ऐश्वर्य साम्य (तुल्यता) तथा अतिशय आधिक्य से विरहित है, वही है ईश्वर, वही पुरुषविशेष है। भूत या भविष्य में ईश्वर के तुल्य और कोई पुरुष-विशेष न था, न होगा। उनके समान ऐश्वर्यवाले भी नहीं हैं, क्योंकि यदि एक ही समय दो समान ऐश्वर्यवाले होंगे तो ऐश्वर्य-प्राकाम्य का विघात होगा। अतः एक ऐसे ईश्वर की कल्पना होती है जो न कभी बद्ध था और न कभी बद्ध होगा। जिस ईश्वर की इच्छामात्र से सब कुछ हो सकता है, उसके प्रणिधान पर व्यक्ति निर्भर करता है और उससे अनुराग करने लगता है। व्यक्ति अद्वितीय आदर्श का स्थापन कर उस आदर्श के सामने सिर झुकाता है। भक्त उस अनुराग को आरम्भ में एक सेवक के समान अभिव्यक्त करता है, अर्थात् आदर्श के सामने अपने को एकदम तुच्छ एवं अपने को उनकी इच्छापूर्त्ति का साधनमात्र समझता है। धीरे-धीरे उसका अधिकार बढ़ता है और अपने कल्पित आदर्श के साथ सखाभाव, पुत्रभाव, कान्ताभाव आदि की उद्धृति होने लगती है। उच्छ्रिति कान्ताभाव में होती है, स्त्री-भाव में नहीं, किन्तु स्त्री-भावविशिष्ट कान्ताप्रिया-भाव में होता है, जहाँ प्रेम-रसपान के लिए एक को दूसरे पर समान रूप से अवलम्बित रहना पड़ता है।

हरएक भाव में अन्य भावों का सम्मिश्रण है, किन्तु किसी भाव-विशेष का किसी दशा में आधिक्य रहता है। उदाहरणार्थ स्त्री-भाव को लीजिए, आरम्भ में स्त्री अपने को स्वामी का भोग-साधनमात्र समझती है, किन्तु धीरे-धीरे लज्जा का आवरण हटते-हटते वह अपने पति की सखी तथा तदुपरान्त अर्द्धाङ्गिनी बन जाती है। यह क्रम सब में पाया जाता है। अतः व्यक्ति अपनी विकलता को भूल जाता है और भगवान् की मूर्त्ति के स्मरण से एवं उनके गुणों के आलाप से अपने को तृप्त करता है। इनमें और ज्ञानी में भेद यही है कि भक्त परावलम्बन का ग्रहण करता है, किन्तु ज्ञानी

स्वावलम्बन का।[1] ज्ञानी युवा पुत्र के समान है, जिसको अपनी इच्छातृप्ति के लिए किसी का मुँह ताकना नहीं पड़ता है। किन्तु भक्त शिशु है, जिसका उदर भगवत्स्नेह-दुग्ध के बिना नहीं भरता है। तुलसीदास कहते हैं—

मोरे प्रौढ तनयसम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निजबल ताही। ....॥

भक्ति सुलभ मार्ग है। इसमें अन्तर्युद्ध उतना तीव्र रूप धारण नहीं करता, जितना ज्ञानी के चित्त में। तप करनेवाले ज्ञानेच्छु ऋषि, बुद्धदेव आदि को कितने कठोर युद्ध करने पड़े, यह विदित ही है। चञ्चलबुद्धि बालक ध्रुव के मन में भी यह युद्ध हुआ। तप करते समय उसको न भक्ति थी, न ज्ञान। उसे तो भीषण अपमान का प्रतिकार करना था। उसी क्रोध को साधने के लिए उसने अपने अन्तर्गत सारी शक्तियों को विष्णु पर केन्द्रित किया। ध्रुव का युद्ध तीव्र ही था; क्योंकि वह बालक था। अन्त में जब भगवद्रूप का दर्शन हुआ तो ध्रुव अपनी इच्छा को ही भूल गये। भक्ति-मार्ग में इस प्रकार के अन्तर्युद्ध व्यक्ति के चित्त में अत्यल्प उठा करते हैं, क्योंकि भक्तों के जीवन में इस अन्तःकलह का परिचय ठीक प्राप्त नहीं होता है। भक्तिमार्ग क्योंकर सुलभ मार्ग है? इस पर विचार करें, तो पता चलता है कि इसमें व्यक्ति को अपनी काम-शक्ति को अन्तर्निगूढ बनाते-बनाते एकदम बाह्य विषयों से रोक देने की आवश्यकता नहीं है। वह सुलभ इस कारण से है कि इसमें एक विषय को छोड़कर दूसरे का ग्रहण किया जा सकता है। ज्ञान-मार्ग में अवलम्बन मात्र को निराकृत करना पड़ता है। अतः भक्ति में व्यक्ति की सभी अपूर्णताएँ भगवत्प्रीति के तल में प्रसुप्त हो जाती हैं, उनका अभाव नहीं होता। भक्त को स्त्री, धन, संग से सदा अलग रहना पड़ता है। जब-जब ये वस्तुएँ उसके पास रहती हैं, उसे यह भावना करनी पड़ती है कि ये सब भगवान् को अर्पित हैं। इस भावना के साथ भी यही प्रयत्न रहता है कि स्त्री

१— "ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं नरकमेव वा।
स सदैव पराधीनः पशुरेव न संशयः॥
कश्चिन्मां प्रेरयत्येवमित्यनर्थकुकल्पने।
यः स्थितो दृष्टमुत्सृज्य त्याज्योऽसौ दूरतोऽधमः॥"

× × ×

"मूढः प्रत्यक्षमुत्सृज्य दैवमोहे निमज्जति॥
सकल कारण-कार्यविवर्जितं।
निजविकल्पबलादुपकल्पितम्॥
तदनपेक्ष्य हि दैवमसन्मयं।
श्रय शुभाशयपौरुषमात्मनः॥"

—योगवासिष्ठ : मुमुक्षु-प्रकरण, सर्ग ६

—"ईश्वर-प्रेरित होकर स्वर्ग अथवा नरक को जाऊँगा', ऐसी भावना रखनेवाला सदा पराधीन है। वह पशु ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। 'कोई मुझे प्रेरित करता है', इस प्रकार की कल्पना कुकल्पना है। जो दृष्ट को छोड़ता है, वह अधम एवं त्याज्य है। अपने विकल्प-बल से सभी कारणतारहित एवं कार्यविवर्जित दैव की झूठी कल्पना न करो। अपने पौरुष का आश्रय ग्रहण करो।"

पर अपनी काम-शक्ति को प्रसारित न करें, क्योंकि उसका स्थान कभी ईश्वर ले लेता है अर्थात् स्वयं ईश्वर ही कभी स्त्री बन जाता है। प्रायः भगवान्-सम्बन्धी जितनी कल्पनाएँ हैं, वे सब स्त्री-भाव से प्रपूर्ण हैं। भगवान् एक दिन कृष्ण और भक्त गोपी बन जाता है, अथवा भक्त भगवान् को गोपी और अपने को कृष्ण समझने लगते हैं। भक्ति के इतिहास में गोपीकृष्ण अथवा राधाकृष्ण की प्रेम-कहानी अनूठी है। इस प्रकार की भक्ति में सम्पूर्ण आत्म-समर्पण होता है। राधा कृष्ण से कहती है—

पाखिक पाख, मीनक पानी।
जीवक जीवन, हम तुँहुँ जानी॥

इसी प्रेम में भक्त तल्लीन हो जाता है। इसमें तथा लौकिक प्रेम में अन्तर इतना ही है कि भक्ति का लक्ष्य स्वकपोल-कल्पित है। भक्ति और काम में लक्ष्य का भी जो भेद है, वह यही है कि जहाँ भक्ति का आलम्बन सदा तृप्त कर सकनेवाला है, वहाँ काम का आलम्बन सदा ऐसा नहीं कर सकता। पुलक, अश्रु, प्रस्वेद, अरति, उन्माद आदि सभी मन्मथावस्थाएँ भक्ति के उद्रेक एवं कामोद्रेक, दोनों में प्रकट होती हैं। भक्ति-साहित्य ही कामुक प्रेम-वर्णन का भाण्डार है। भगवान् हमारी अपूर्णताओं का प्रपूर्ण आदर्श है, क्रोधी का भगवान् शान्त रहेगा, लोभी का दानी। भक्ति-साहित्य में भगवान् काम का शुभ-नियुक्त रूप है। भगवान् का रूप स्त्रैण है। कम्बुकण्ठ, कमलनेत्र, चरणकमल आदि उपाधियाँ इस उक्ति की साक्षी हैं। प्रायः स्त्री-भाव एवं शान्त्यात्मक, सहनात्मक भाव ही विशेषतः भगवान् में पाया जाता है। ईसाइयों के धर्म में भगवान् परमपिता है। वह आज्ञा नहीं करता। वह दयावान् एवं दयासांद्र है। वह पुत्रों के अपराधों को क्षमा करनेवाला है। वह माता के समान बच्चों के आध्यात्मिक विकास की चिन्ता करनेवाला है। अपने भूले-भटके बच्चों को घर पहुँचाने के लिए प्रवक्ता को भेजनेवाला है। मुसलमानों का खुदा भी इसी प्रकार का है। किन्तु, उसमें थोड़े-से रौद्रात्मक गुण भी हैं। भगवान् सदा दयावान् क्षमा करनेवाला ही रहता है। अतः उसका क्रोध भी भक्त की उन्नति के लिए ही होता है। इन सब बातों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होना उचित ही है कि हमारा भगवान् हमारी इच्छाओं को पूर्ण करनेवाला है। परमपिता ईश्वर हमारी आकांक्षाओं का परिपूर्ण रूप है और है हमसे उन्हीं आकांक्षाओं को चाहनेवाला।

उपर्युक्त वर्णित सभी परिवर्त्तनों में शुभ-नियुक्ति स्वतः होती है। तुलसीदास ने सोचकर अपनी वासना के लिए दूसरा आश्रय नहीं खोजा, प्रत्युत उनके अत्यन्त प्रभावशाली संवेग ने अपने प्रकाश के लिए स्वयं आश्रय खोजा। इसी प्रकार 'कामी कुटिल' सूर ने सोचकर अपनी वासना को शुभ-नियुक्त नहीं किया। वह तो स्वयं शुभ-नियुक्त हो गई। भक्त इसी को भगवत्कृपाकटाक्ष कहते हैं।

अबतक हमने उपर्युक्त लम्बे विवेचन से यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि विषयासक्ति से भगवदासक्ति की ओर अर्थात् अशुभ से शुभ की ओर वासना-सरित् का प्रवाह होता है। अब हमें यह देखना है कि प्रत्येक व्यक्ति में एक ही मात्रा में शुभ-नियुक्ति क्यों नहीं होती? शुभ-नियुक्ति की मात्रा प्रत्येक व्यक्ति के (१) मानसिक

विचार, (२) आदर्श और (३) परिस्थितियों पर निर्भर करती है। हम मानसिक विचार और आदर्शों को एक ही श्रेणी में रख सकते हैं। इन दोनों से इसका परिचय मिल जाता है कि व्यक्ति की मानसिक प्रवृत्ति किस ओर कितने वेग से उन्मुख है, क्योंकि इस प्रकार की उन्मुखता के अनुकूल ही निरोध की मात्रा रहती है। निरोध की मात्रा जितनी अधिक होती है उसी के अनुकूल काम-शक्ति शुभ-नियुक्ति के लिए सन्नद्ध हो सकती है। काम-शक्ति का शुभ-नियुक्ति में परिणत होना या न होना व्यक्ति के चतुर्दिक् बिखरे वातावरण पर निर्भर करता है। वातावरण में शुभ का रूप अन्तर्भूत होता है। व्यक्ति अपनी किसी वासना की शक्ति को जिस शुभ में नियुक्त करना चाहता है, उसमें और त्याज्य अशुभ में जो सम्बन्ध होता है उसी पर शुभ-नियुक्ति की सुलभता निर्भर करती है। इसका पता भक्ति के विषय में ध्यान देने से चल सकता है। स्त्री-आसक्ति को छोड़ते ही स्त्री-भाव से युक्त भगवान् के प्रति काम-शक्ति को लगाना अत्यन्त सुलभ है। इसी कारण ज्ञानी विरले ही होते हैं और भक्तों की संख्या अनगिनत रहती है। वामदेव, जडभरत, बुद्ध आदि ज्ञानयोगी अँगुलियों पर ही गिने जा सकते हैं, किन्तु भक्त असंख्य हैं।

शुभ-नियुक्ति का प्रत्यक्ष उपयोग विद्या-क्षेत्र में देखने को मिलता है।[१] अध्यापकों को चाहिए कि वे बचपन में ही बच्चों की कोमल वासनाओं को उचित मार्गों की ओर प्रसारित करें। पढ़ना एक बात है और विद्या-प्राप्ति दूसरी बात है। आजकल सर्वत्र पोथी अधिक पढ़ी जाती है, किन्तु आचार आदि के संयोजन का अभाव-सा हो रहा है। वातावरण ही इसका एकमात्र कारण है। स्वयं अध्यापक लोग अपने-आपको जानने और बच्चों के सामने आदर्श जीवन रखने का प्रयत्न नहीं करते। विद्यार्थियों का क्या कहना, वे तो 'यथा राजा तथा प्रजा' हो जाते हैं। लोगों में 'ऊपरी दृष्टि' अधिक पाई जाती है। सभी में प्रत्येक विषय को जानने की प्रवृत्ति तो देखी जाती है, किन्तु अधिकतर लोगों में किसी विषय की गहराई तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं दिखाई पड़ता। विरले ही आदर्श अध्यापक अथवा विद्यार्थी बन पाते हैं। इस कारण ऊपरी दृष्टि से वासनाएँ शुभ-नियुक्त तो विदित होती हैं, किन्तु उनसे कोई उचित लाभ नहीं हो रहा है। आदिकाल में विद्या-ग्रहण के सिलसिले में गुरु-शिष्य अथवा पिता-पुत्र का जो सम्बन्ध देखा जाता था, वह नष्ट हो गया है। यदि

१—विशेषत: व्यक्ति की काम-शक्ति कौमार्य और यौवन की सन्धि में अत्यन्त वेग के साथ विषयोन्मुख होती है। कुमारावस्था में व्यक्ति में काम-शक्तिजनित औत्सुक्य का वेग उमड़ता है। यदि इसकी तृप्ति न की जाय, तो व्यक्ति अनर्थ को प्राप्त होगा। मॉल लिखते हैं—"The years of adolescence in the male are characterised by an impulse to brave, to adventures but in addition to all kinds of ideal efforts and to religious activity. The loftiest ethical ideas come alternately with a self-conscious bumptiousness."

—*Albert Roll : 'The sexual life of the child', p. 110.*

'कैशोर में बालक की प्रवृत्ति घूमने, साहसिक कार्य करने की ओर होती है। इसके अतिरिक्त उसमें सभी प्रकार के आदर्श कार्य करने और धार्मिक आन्दोलनों में भाग लेने की प्रबल उत्कण्ठा दिखाई पड़ती है। कभी वह अति उदात्त नैतिक आदर्शों की ओर घूमता है, तो कभी वह अपने गर्व में मस्त रहता है।'

शिक्षा-पद्धतियों में सुधार लाना है, तो सर्वप्रथम आदर्श पिता-पुत्र एवं गुरु-शिष्य-व्यवहार की पुनः स्थापना करनी होगी। विद्याध्ययन के सिलसिले में बच्चा माता-पिता को कुछ सीमा तक छोड़ता है और गुरु को अपनाता है।[१] यदि गुरु बच्चे से आदर्श पिता सा व्यवहार करें, तो उसकी सभी वासनाओं को शुभ-नियुक्त करने का अच्छा अवसर प्राप्त होगा। शिक्षण-पद्धति का रूप यह नहीं होना चाहिए कि बच्चे के मन में गुरु अपनी सारी विद्या को अंकित कर दे। बच्चे का मन मोम नहीं है कि उसपर गुरु अपनी सारी विद्या की छाप अंकित कर सकें। बच्चे के चित्त में प्राग्भवीय वासनाएँ एवं शक्तियाँ होती हैं, जिन्हें विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए। आजतक शिशुओं के शिक्षण के विषय में अनेक प्रकार के परिशीलन हो रहे हैं। बहुत-सी मनोवैज्ञानिक पद्धतियाँ काम में लाई जा रही हैं। आज की पद्धतियों के अनुसार बच्चों की स्वतन्त्रता पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

वास्तव में विद्या जन्म से ही प्रारम्भ होती है। योगवासिष्ठ का कहना है—

तेन पुरुषेण जातमात्रेणैव बाल्यात्प्रभृति विद्याग्रहणं कर्त्तव्यं गुरवोऽनुगन्तव्याः।[२]

—अर्थात् बच्चों में जन्मकाल से ही विद्या-ग्रहण की अनुकूलता उत्पन्न करनी चाहिए। बच्चों द्वारा गुरुओं का अनुकरण करवाना चाहिए। विद्या-क्षेत्र में शुभ-नियुक्ति का अत्यधिक उपयोग है। आज ऐसे अध्यापकों की आवश्यकता है जो बच्चों की चित्त-

---

१—"Preliminary education which is to pave way......must be taught to pupils in their childhood; care being taken to convey instruction in such a shape as not make it compulsory on them to learn. Because no trace of slavery aught to mix with the studies of the free-born man. For the constrained performance of bodily labours does, it is true, exert no evil influence upon the body ; but in the case of the mind, no study pursued under compulsion, remains rooted in the memory.

"Hence you must train the children to thier studies in a playful manner, and without any air of constraint with, the further object of discerning more readily the natural bent of their respective characters."

—*Plato : 'Republic', p. 289.*

इसका भावार्थ यह है—

"बच्चों को भविष्य-जीवन के लिए मन को तैयार करनेवाली प्रारम्भिक शिक्षा बचपन से देनी चाहिए। ध्यान रखना होगा कि उसमें किसी प्रकार के जोर अथवा अनिवार्यता की झलक न आने पाये; क्योंकि स्वच्छन्द मनुष्य के अध्ययन की प्रणाली में किसी प्रकार की दासता की गन्ध नहीं रहनी चाहिए। यह बात तो सत्य है कि अनिवार्य और नियन्त्रित शारीरिक परिश्रम शरीर को कोई हानि नहीं पहुँचाता, किन्तु मन की बात दूसरी ही है। नियंत्रण के साथ एवं बलपूर्वक जो कुछ पढ़ाया जायगा, वह स्मृति का अंश नहीं बन सकता। अतः बच्चों को खेल अथवा क्रीडाच्छलेन शिक्षा दी जानी चाहिए, उसमें किसी प्रकार का ऊपरी बल अथवा जोर-जबर्दस्ती नहीं रखनी चाहिए। इस पद्धति से बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के सहज झुकाव का भी परिज्ञान हो जाता है।"

२—योगवासिष्ठ : उत्पत्ति०, ११६-२१

वृत्तियाँ समझ सकें और उदार बुद्धि के साथ उनको उचित मार्गों में प्रसारित कर सकें। किस प्रकार की शिक्षा उपयुक्त होगी, इसका निर्णय बच्चों की चित्त-वृत्तियों एवं उनके स्वाभाविक झुकावों पर निर्भर करता है।

शुभ-नियुक्ति का दूसरा विशाल क्षेत्र है कला-क्षेत्र। प्रसिद्ध चौसठ कलाएँ काम-शक्ति के शुभ-नियुक्त रूप ही हैं। कविता, चित्र, संगीत तथा अन्य कलाओं में मनुष्य अपनी निगूढ वासना का परिचय देता है। अनेक कवियों ने ग्रन्थ लिखकर अपने चित्त-क्षोभ को दूर किया है। संगीत और कविता की उद्भावना प्रफुल्ल चित्त एवं करुणाप्लावित अन्तरंग से होती है। मनुष्य अपनी सभी अतीत अनुभूतियों का प्रतीक है। वह अपने को ही कविता में प्रकट कर देता है। व्यास ने अपने चित्त की निगूढ इच्छाओं एवं वासनाओं को भागवत की रचना में अभिव्यक्त कर दिया। व्यासरचित भागवत को पढ़ने में, विशेषकर उसके दशम स्कन्ध को पढ़ते समय भक्तलोग तन्मयता को क्यों प्राप्त होते हैं? इसका रहस्य यही है कि उसे पढ़ते समय मानसिक रूप से अपनी-अपनी निरुद्ध इच्छाओं को तृप्त करने का अच्छा अवसर मिलता है। समाज इसे निन्द्य नहीं कहता, क्योंकि मानसिक रति से उसकी व्यवस्था में किसी प्रकार का धक्का नहीं पहुँचता। वह इसीलिए सुलभ मार्ग को उत्साहित करता है। बहुत-से कवियों ने कविताएँ लिख-लिखकर अपने चित्त को शान्ति दी है। किसी कविता को पढ़कर उसके प्रणयन के समय उसके कवि की चित्त-रीति पर विशेष प्रकाश डाला जा सकता है। किसी ग्रन्थ को लिखते समय लेखक अपनी अनुभूतियाँ छिपा नहीं सकता, प्रत्युत वे ही अनुभूतियाँ एवं भावनाएँ सारी कविता को प्रधानतया रंजित करती हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक कवि गेटे अपनी अत्यन्त दुस्सह वेदनाओं को कविता लिखकर दूर करते थे। इसी कारण से लोग संसार को विष मानते हुए भी कविता को मन्दाकिनी एवं मृदुल-मंजुल निर्घोष मानते हैं। इसी से कवि के आलाप को सभी सांसारिक पीड़ाओं को भुला देनेवाला वीणा-निःश्वन कहा जाता है। किसी कवि ने कहा, 'भगवन्! मैं तेरे निर्मल संगीत का अनुकरण करने जाता हूँ। मुँह उठाकर तेरी दिव्यज्योति को देखता हूँ। गाने के लिए अपने ओष्ठपुट खोलता हूँ, किन्तु तेरे विश्वमोहन वीणा-निःश्वन के सामने मेरी विपंचिका निःस्तब्ध हो जाती है। छन्द तन्त्री को छोड़ता नहीं है। कण्ठ गद्‌गद होता है। उठनेवाली तान अपने में समा जाती है।'[1]

गान और कविता अमृतनिष्यन्दिनी है। उनमें अमृतस्पर्श है। उनमें चित्त की सभी पीड़ाओं को दूर करने की संजीवनी है। कहा भी गया है—

संसार विषवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।
काव्यामृतरसास्वादः संलापः सज्जनैः सह॥

—अर्थात् संसार विषवृक्ष है, उसके दो अमृतोपम फल हैं—एक है काव्यामृत रसास्वादन और दूसरा सज्जनों के साथ संलाप।

१— 'तुमि केमन कोरे गान कर हे गुणी।
आमि अवाक् होये शुनि, केवल शुनि॥'

कलाभिवृद्धि मिथुन-वासना से सम्बद्ध है। जैसा कि पहले कहा गया है, काम-शक्ति निरुद्ध होती है और कला के रूप में निकल पड़ती है। इसकी सत्यता कलावेत्ताओं के जीवन से प्रकट होती है। बहुधा सर्वश्रेष्ठ कलावेत्ता पुत्ररहित होते हैं। यदि वे पुत्रवान् होते भी हैं, तो उन्हें अधिक सन्तानें नहीं होतीं, क्योंकि उनकी सारी सर्जन-शक्ति मानसिक सृष्टि में विनियुक्त होती है। अनेक कलाभिज्ञ आजन्म ब्रह्मचारी पाये गये हैं। शक्ति का अधिक विनियोग एक ही ओर अधिक हो पाता है। प्रसिद्ध चित्रकार मैकेल अंजीलो से किसी ने विवाह का प्रस्ताव किया तो उन्होंने उत्तर दिया, 'चित्रकला ऐसी ईर्ष्यालु पत्नी है, जो सौत का स्वागत नहीं कर सकती।'[१] न्यूटन ने भी ब्रह्मचारी का जीवन व्यतीत किया। सभी महान् व्यक्ति, जिन्होंने काव्य, दर्शन या कोई अन्य मानसिक सृष्टि की है, बहुधा आदर्श पति नहीं हो सके। उनमें अनेक ब्रह्मचारी ही थे। कुछ विवाहित भी थे, किन्तु उनका वैवाहिक जीवन सर्वथा सुखमय नहीं था। जिनका वैवाहिक जीवन सुखमय था वे सन्तानहीन रहे। जब कोई व्यक्ति किसी महान् कार्य को हाथ में उठाता है, और जब उसे सम्पन्न करने में अधिक मानसिक सृष्टि करनी पड़ती है, तो लगता है, मानो वह दीक्षा लेता है कि वह स्त्री से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखेगा।

इस प्रकार से काम-शक्ति अथवा विश्ववासना मिथुन-वासना में प्रकट होती है। यही कहीं चित्त-शक्ति होती है, तो कहीं विचार-शक्ति और कहीं सर्जन-शक्ति। इसके अनेक उल्लास हैं। इसकी विभूतियाँ अनेक हैं। यही विश्व को धारण करनेवाली है। इसी से सारी सभ्यता की उत्पत्ति हुई है। इसी में सभी लीन होते हैं। यही विश्व का प्राण है। शुभ, अशुभ; साधु, असाधु; शिष्ट, अशिष्ट आदि सभी उसी की विभूतियाँ हैं। सत्य ही कहा गया है—

प्रेम विश्व का संस्थापक है, प्रेम विश्व का प्राण।

१—'Painting is a jealous mistress who suffers no rival.'

—*Paul Bureau : Towards Moral Bankruptcy, Chap. IV.*

नवाँ अध्याय

"सुख, दुःख और वासनाएँ"

अबतक हमने चित्त का अध्ययन भौमिक और स्पांदनिक दृष्टिकोणों से किया है। हमने चित्त की विविध भूमियों तथा उसके क्रियाकलापों पर प्रकाश डाला है। हमने देखा है कि सभी चित्त-प्रवृत्तियों को चलानेवाली शक्ति काम-शक्ति है, जिसके कारण शैशव चित्त में क्रमशः विकास एवं परिवर्त्तन से अनेक भूमियों का निर्माण होता है और पृथक्-पृथक् क्रियाओं का आरम्भ होता है। हमने यह भी देखा कि काम अथवा वासना की शक्ति से ही इन क्रियाओं का संचालन होता है, क्योंकि काम-शक्ति अपने को प्रधानतः वासनाओं एवं विविध कामनाओं के रूप में प्रकट करती रहती है। हमने विविध विवेचनों द्वारा यह स्पष्ट किया कि हमारी सहज वासनाएँ सभी चैत्त भूमियों को प्लावित करती हैं और उनकी क्रियाओं को अपने गन्ध से वासित करती हैं। इन वासनाओं का विलय 'अज्ञात' है। इन्हीं के वेग के कारण अज्ञात का कुछ भाग परिमार्जित होकर 'अहंकार' का रूप ग्रहण करता है जो एक बार अपने रूप के पा लेने पर अपने मूलभूत अज्ञात का ही विरोध करने लगता है। अब हम इस अध्याय में मूल-प्रवृत्तियों के विषय में एक विशेष अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। मूल-प्रवृत्तियों अथवा वासनाओं के विषय में कई प्रश्न उपस्थित होते हैं : वासनाएँ किस प्रकार और क्योंकर उत्पन्न होती हैं? वे क्यों कार्यशील होती हैं? उनमें कौन-सी शक्ति है? और वह शक्ति क्योंकर प्रवाहित होती हैं? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए हम चित्त-यन्त्र का अध्ययन आर्थिक दृष्टिकोण से करेंगे। आर्थिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने का तात्पर्य है यह जानना कि प्रवृत्तियों की उत्पत्ति कैसे होती है, उनकी शक्तियों का वितरण किस प्रकार से तथा किन नियमों के अधीन होता है, और यह जानना कि शक्तियों का वितरण आदि किस प्रकार से किया जाना चाहिए।

आर्थिक दृष्टिकोण से चित्त के अध्ययन करने में हमें सर्वप्रथम इसका पता चलाना होगा कि अहंकार क्यों कर काम करता है, क्योंकि हमलोग अपने को अपने अहंकार से भिन्न नहीं समझते हैं। अतः उसकी पूरी छानबीन एवं पूर्ण अध्ययन करना परम आवश्यक है, क्योंकि विना इसके चित्त का पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। हमने यह स्पष्ट कर दिया है कि अहंकार का सम्बन्ध ज्ञात चैत्तवृत्तियों से है। अज्ञात वृत्तियाँ भी ज्ञात होकर ही अहंकार की गोचरता में आ सकती हैं। अन्तःकरण में कई वृत्तियाँ हैं, जिनमें कुछ तो ज्ञात हैं और कुछ अज्ञात। चाहे वृत्तियाँ ज्ञात हों अथवा अज्ञात, वे चैतन्य से भरी हुई हैं, किन्तु अहंकार के द्वारा कोई वृत्ति उद्भूत रहती है और कोई अनुद्भूत। किसी वृत्ति के विरोध करने में तथा किसी को अनुद्भूत करने में प्रायः चित्त का यही मुख्य उद्देश्य रहता है कि उसमें साम्यावस्था स्थापित हो तथा उसमें किसी

प्रकार की क्षति न पहुँचे। बहुधा हम वह शान्ति और साम्य नहीं चाहते जिसके द्वारा सुख और दुःख, दोनों का अनुभव न हो सके। हम उस शान्ति अथवा साम्य से घबरा उठते हैं। हम उस शान्ति अथवा साम्यावस्था को पाने का अनजान में प्रयत्न करते हैं; किन्तु गम्यस्थान के समीप आते-आते हम विह्वल हो उठते हैं। उस संवेदनारहित शान्ति से, शून्य से बड़े-से-बड़े ज्ञानी भी घबराते हैं। अष्टावक्र का कहना है—

इहामुत्र-विरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः।
आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेव विभीषिका॥[१]
साहोवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्तीति……।[२]

—अर्थात्, इह और परकाल की सब आशा से विरक्त, नित्यानित्यविवेकी मुमुक्षुजन भी मोक्ष के सामने घबराते हैं, यह आश्चर्य की बात है। मैत्रेयी ने कहा, 'भगवन्! मैं मोह में अज्ञान में फँस रही हूँ। क्या इसके उपरान्त संज्ञा नहीं रहती है?' 'शान्ति' शब्द से सुख तथा प्रसन्नता की उचित मात्रा का भान ही यहाँ पर अभिप्रेत है, क्योंकि कोई व्यक्ति यह नहीं चाहता है कि सुख से भी उद्वेग में आ जाय। सभी चराचर जीव सुखमय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। जहाँ उसका अभाव या लोप रहता है, वहाँ भी उसको पाने के लिए प्रयत्न देखे जाते हैं। सभी ज्ञातवृत्तियाँ सुख-सम्पादन की चेष्टा में लगी रहती हैं। उसे सम्पन्न करने में परिस्थितियों के कारण कभी कभी दुःख भी उत्पन्न होता है, किन्तु उस प्रकार के दुःख से अन्त में सुख-प्राप्ति की सम्भावना दिखाई पड़ती है। बड़े-से-बड़े त्यागी और शहीद धर्म के नाम से जो अग्नि में स्वाहा हो जाते हैं, वे भी इसी प्रसन्नता के लिए प्राण छोड़ते हैं। ऐसे लोगों में प्रत्येक की प्रसन्नता के मूल में यही पाया जाता है—मैंने धर्म पर अटल रहने की प्राणपन से चेष्टा की, उसी के लिए प्राण छोड़ भी दे रहा हूँ। भावी पीढ़ियाँ मेरी प्रशंसा करेंगी। अनन्तकाल तक मेरा नाम प्रातःस्मरणीय रहेगा।' जिनको इसकी आशा नहीं रहती है वे दूसरे प्रकार से अपना संतोष कर लेते हैं। वे सोचने लगते हैं—'भविष्य की मुझे क्या चिन्ता? संसार मुझे भला कहे या बुरा, मुझे उसकी प्रशंसा तथा निन्दा की परवाह नहीं है। मेरा यह अटूट विश्वास है कि संसार को चलानेवाली कोई एक प्रचण्ड शक्ति है। वह मेरे इस त्याग से तृप्त हो जायगी। उसकी तृप्ति से बढ़कर मेरे लिए कोई और संतोष की बात नहीं है।' इसी प्रकार की कल्पनाओं से उत्तेजित होकर वे अपने-आपको धधकती हुई अग्नि-ज्वालाओं में स्वाहा कर डालते हैं। सहगमन की प्रथा और क्या है? हिन्दू स्त्रियाँ सती होती थीं। वे घोरतम यातना का अभिनन्दन और स्वागत करती थीं। उनको इस प्रकार की क्रूर प्रथा की अनन्य भक्ता बनाने में एक प्रबल विश्वास था, और वह था स्वर्गलोक में अनन्त काल तक उसी पति के साथ रमण करने की आशा तथा लोकलज्जा, एवं प्रशंसा पाने की आकांक्षा। अनुदिन के जीवन में बहुत-से लोग जो दुःख ही दुःख भोगते हैं, उसके मूल में क्या है? वह है सुख-प्राप्ति की एक बलवती अभिकांक्षा। दुःख को दुःख के निमित्त से नहीं झेला

१—अष्टावक्र-गीता : ३.३

२—बृहदारण्यकोपनिषद् : ४.१३

जाता, प्रत्युत वह आगामी सुख के लिए सोपान है। कुछ लोग निराशा से अभिमत हो दुःख ही दुःख भोगने की इच्छा प्रकट करते हैं। किन्तु, वास्तव में, जीवन का यह रूप अशोभनीय है। हम देखते हैं कि एक ओर तो कीट-पतंग से लेकर अधिकाधिक प्राणी सुख-सम्पादन के प्रकार सम्पन्न करने में तत्पर हैं, किन्तु दूसरी ओर कुछ इने-गिने व्यक्ति ऐसे हैं जो दुःख में ही निमग्न रहना चाहते हैं। कुन्ती कृष्ण से वर माँगती है, 'मुझे नित्य दुःख दो, हे भगवन्!' आस्कर वाइल्ड कहते हैं कि करुणा सभी रसों का प्राण है। उनका कहना है कि करुणा से हम भगवदैक्य पाते हैं।[१] करुणा से ही सभी लोकों की उत्पत्ति हुई। प्रसूति के समय और नक्षत्रोदय के समय पीडा होती है। जीवन का मर्म करुणा है।[२] कार्लाईल ने गेटे के कुछ वचन उद्धृत किये हैं, जिनमें करुणा की प्रधानता अभिव्यक्त होती है—

जिसने कभी न खाई रोटी
दुश्चिन्ता में,
जो न कभी रोता रहता है
अर्द्धरात्रि में,
बाट नहीं जो जोह रहा है
कल की,
वह क्या जाने भला, तुम्हें
ओ मेरी स्वर्गिक शक्ति![३]

योगी दुःख का स्वागत करते हैं। साधु पीरी कहते हैं, 'मैं यह नहीं जानता कि दार्शनिक शोक की वेदनाओं को किन भौतिक नियमों से समझायेंगे। मुझे तो यह विदित होता है कि शोक की वेदनाएँ सबसे अधिक इन्द्रिय-सुख देनेवाली होती हैं।[४] इससे विदित होता है कि जो लोग केवल दुःख का ही स्वागत करते हैं, वे अन्त में, उससे किसी प्रकार के सन्तोष की आशा रखते हैं। क्या कुन्ती के वर का भी यही अर्थ है? इसे हम भली-भाँति तभी समझ सकते जब कि सुख-दुःख का निर्वचन करने की चेष्टा करेंगे।

१—'Sorrow remarries us to God' (*—Dante*)
—Oscar Wilde : 'De Profundis.' p. 46.

२—"Out of sorrow have the worlds been built and at the birth of a child or a star there is pain. × × × The secret of life is suffering."
—Vide, p. 55.

३—"Who never ate his bread in sorrow,
Who never spend the mid-night hours.
Weeping and waiting for the morrow,
He knows you not, Ye heavenly powers."
—Vide, page. 50.

४—I know not to what physical laws philosophers will some day refer the feelings of melancholy. For myself, I find that they are the most voluptuous of all sensations.
—William James ; Varieties of Religious Experience, Lectures, IV–V,

सुख-दुःख का तत्त्व विचित्र है। कुछ दार्शनिकों के मतानुसार सुख-दुःख दोनों आपेक्षिक शब्द हैं। जो कुत्सित प्रवृत्तियाँ दुःख की ओर उन्मुख होती हैं उनका इस प्रकार प्रवृत्त होना अन्त में तृप्ति के लिए ही होता है। वास्तव में, हमें सुख-दुःख का कोई अच्छा दार्शनिक निर्वचन नहीं मिलता। और, उनका ठीक-ठीक निर्वचन करना है भी कठिन। ये हैं तो वेदनाएँ, किन्तु विषयगत नहीं, प्रत्युत विषयी-गत हैं। अतः उनके स्वरूप को पहचानने के लिए हमें अपनी दृष्टि को विषय-जगत् से हटाना होगा। कौन-सा सुख है अथवा कौन-सा दुःख है, इस प्रश्न का निर्णय वही व्यक्ति कर सकता है जो उसका साक्षात् अनुभव करता हो। धन रहने से भी कोई तो अपने को सुखी समझता है और कोई दुःखी। धन स्वतः न सुखद है, न दुःखद। उसके और व्यक्ति के संसर्ग से व्यक्ति की वृत्तियों में कुछ भेद आ जाता है, जिसे उसके प्रकाश के अनुसार सुख या दुःख कहते हैं। अतः सुख और दुःख का एक गुण है कि बाह्य संवेदना से चित्त-संसर्ग होने पर उत्पन्न होनेवाली विशेष भावना, अर्थात् संस्कार ही सुख अथवा दुःख है। अतः सुख अथवा दुःख के उद्भूत होने के लिए उनके अव्यवहित पूर्व क्षण में किसी प्रकार की संवेदना का होना अनिवार्य है। यह कोई आवश्यक नहीं कि वह संवेदना बाह्य संवेदना ही रहे, क्योंकि आन्तरंगिक संवेदनाओं से भी सुख या दुःख हो सकता है। जैसे भूख आन्तरंगिक है और स्मृति बाह्य विषय नहीं है, किन्तु दोनों से सुख अथवा दुःख हो सकता है। किसी प्रियजन के स्मरण से सुख हो सकता है अथवा उसी के वियोग में उसकी स्मृति से दुःख भी हो सकता है। सुख अथवा दुःख के इस प्रकार के भाव विषयी की प्रतिक्रिया से उसके चित्त में उत्पन्न होते हैं। सुख तथा दुःख के अनेक निर्वचन हैं। उनमें एक निर्वचन है 'बाधनालक्षणं दुःखम्', अर्थात् जिसका लक्षण बाधा पहुँचाना है, वह दुःख है; किन्तु वास्तव में, यह कोई निर्वचन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बाधा का निर्वचन फिर होगा 'दुःख-लक्षणा बाधा'। कुछ लोग दुःखाभाव को ही सुख कहते हैं और प्रतिकूल वेदना को उसका लक्षण बताते हैं। इससे तो एक ही प्रश्न पुनरावृत्त होता है; जैसे, विकर्षण क्यों होता है? जिसका उत्तर है, दुःख के कारण से। दुःख क्या है? दुःख वही है, जिससे विकर्षण होता है। इस रीति से विदित होता है कि दुःख अथवा सुख का कोई उपयुक्त लक्षण नहीं कहा जा सकता। किन्तु, कोई भी इस बात का खण्डन नहीं कर सकता कि दुःख से प्रथम विकर्षण का और सुख से आकर्षण का भाव उत्पन्न होता है। दोनों से चित्त में कुछ उथल-पुथल होता है, जिसके उपरान्त क्रिया होती है। कभी-कभी इसी उथल-पुथल में व्यक्ति को सुख की अनुभूति होती है और कभी दुःख की। स्पष्ट है कि दोनों में संक्षोभ (संवेग) होता है। प्रथमतः डॉ० फ्रायड ने सुख-दुःख को इसी संक्षोभ के आधिक्य और अल्पता से समझाने का प्रयत्न किया। वे संक्षोभ के आधिक्य को दुःख कहते थे। इसी के बहिर्गत हो जाने से व्यक्ति में जो संक्षोभ की मात्रा घट जाती है, वही सुख है, ऐसा डॉ० फ्रायड मानते थे। किन्तु, इस निर्वचन में जो एक त्रुटि है, वह यह है कि सुख में भी संक्षोभ का आधिक्य होता है, सुख में भी आँसू निकलते हैं। यह निर्वचन प्रायः किसी भी

भाव-विशेष के आधिक्य में उपयुक्त हो सकता है, क्योंकि उच्छ्रुति में सभी भावों से एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया होती है। कहा भी गया है—

अल्पक्षीबः क्षोभमेति घनक्षीबो हि शाम्यति।

मद्य यदि थोड़ी मात्रा में पिया जाय, तो क्षोभ का ज्ञान होता है, किन्तु यदि वही अतिमात्रा में पिया जाय तो क्षोभ का ज्ञान भी नहीं रहता है। अतएव, कहावत है: 'दो सीमातिरेकों का मिलान होता है'। केवल ज्ञानी जड मालूम पड़ेगा, केवल जड भी जड मालूम होगा। सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि के परे है, अति महत् भी बुद्धि के परे है। हम बहुत दूर की वस्तु को नहीं देख सकते हैं, बहुत समीप रहनेवाली वस्तु को भी नहीं देख सकते हैं। जिस प्रकार अल्प संवेदना का ज्ञान नहीं होता है, उसी प्रकार अत्यन्त उत्कट संवेदना का ज्ञान भी नहीं होता है। स्वर की वायु-लहरियों से स्वर की संवेदना होती है। स्वर-संवेदना वायु-लहरियों की तीव्रता की मात्रा पर भी निर्भर करती है। अधिकतम तीव्र स्वर पास में नहीं सुनाई पड़ सकता और न अल्पतम स्वर। यह वैज्ञानिक सत्य है, एक सीमा के उपरान्त अधिक स्पन्द होने पर शब्द-स्वर की संवेदना नहीं हो सकती। प्रकाश-लहरियों के विषय में भी यही बात लागू होती है। हमें जो रंगों की विविध संवेदनाएँ होती हैं, वे प्रकाश-लहरियों पर निर्भर करती हैं। व्यक्ति दोनों ओर से सीमाबद्ध है। न तो वह एक मात्रा से न्यून हो सकता है और न दूसरी मात्रा से अधिक भी। अतएव, भू-लोक मध्यलोक है। भूमि के नीचे वितल, तलातल, सुतल आदि सात लोक हैं और ऊपर भी सात लोक हैं: भूर्लोक भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक तथा सत्यलोक। मनुष्य का जीवन ही सीमाबद्ध है। इसी सीमा की पूरी परिमिति को जानना ही मानव का मनुष्यत्व है। सभी बातों में यही सीमाबद्ध स्वभाव मालूम पड़ता है। भावों के विषय में भी यही बात है। अत्यधिक सुख से दुःख उत्पन्न होता है और अत्यधिक दुःख से सुख हो सकता है, 'दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना।' आनन्द जब अतिरेक को प्राप्त होता है तब वह दुःख के सभी लक्षणों को उत्पन्न कर देता है। अतएव गेटे कहते हैं—

सिद्ध करूँ उन तृषित वृत्तियों से मैं—
आनन्दातिरेक में होती दुःख की ही अनुभूति।[१]

—अर्थात् आनन्दातिरेक दुःख है। दुःख-दशा में जिस ही प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं, वे ही आनन्दातिरेक में देखी जाती हैं। दोनों में प्रायः एक ही प्रकार के शारीरिक लक्षण प्रकट होते हैं। यथा—कण्ठावरोध, दृष्टिजाड्य, स्तम्भन, वाष्प आदि। अतः डॉ० फ्रायड का यह कहना, कि दुःख संक्षोभ की गुरुता की और सुख संक्षोभ की लघुता की मात्रा में प्रकट होता है, ठीक नहीं है। वे इस विषय में फ़ेक्नर के वचन[२] उद्धृत करते हैं, जिसका भावार्थ निम्नलिखित है—

१—"Give me unquell'd those impulses to prove ;—
Rapture so deep, its ecstasy was pain."
—*Goethe Faust. 6.*

२—"In so far as conscious impulses always bear a relation to 'pleasure' or 'pain', 'pleasure' or 'pain' may be thought of in psychological

—एक स्थिति होती है, जो साम्यावस्था के समान है। उससे जब तक वैषम्य एक परिमित मात्रा में अधिक अथवा न्यून नहीं हो, तब तक न सुख का बोध होगा, न दुःख का। उससे जितना अधिक वैषम्य होता है, उतना दुःख और जितना न्यून वैषम्य होता है, उतना सुख होता है। इसकी अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति को कुछ सीमा तक होती है। जब तक सुख एक मात्रा तक नहीं पहुँचता, तब तक उसका ज्ञान नहीं हो सकता है। और, उसी प्रकार से जब तक दुःख भी एक मात्रा तक नहीं पहुँच जाता, तब तक उसका ज्ञान नहीं होता है। इन दोनों परिस्थितियों के बीच में व्यक्ति में एक प्रकार का उदासीन भाव ही पाया जाता है। किन्तु, इससे यह बात स्पष्टतया ज्ञात नहीं होती है कि एक परिमिति से अधिक और एक परिमिति से न्यून का क्या अर्थ है। दोनों में अर्थात् सुख और दुःख में क्षोभ तो एक ही प्रकार का होता है। अतः क्षोभ को मात्रा के द्वारा हम नहीं समझा सकते। फ्रेक्नर का कहना कुछ दूसरे प्रकार का है। उदासीन स्थिति के समीप आते-आते सुख का बोध होता है और उससे दूर जाते-जाते दुःख का बोध होता है। क्या यह बात ठीक है? इसका मर्म साम्यस्थिति तथा सुख-दुःख के विशिष्ट परिशीलन से विदित हो जायगा।

सुख तथा दुःख एक दूसरे से इस प्रकार मिले-जुले हैं कि कभी-कभी उन दोनों को अलग करना दुष्कर-सा हो जाता है।

सुख दुःख दुटि भाई,
सुखेर लागिया जे करे पीरीति;
दुःख जाय तार ठाँई।

—अर्थात् सुख और दुःख दो भाई हैं। सुख के लिए जो प्रीति करता है, उसके यहाँ दुःख जाता है।[१] ऐसे परस्पर सम्बद्ध भावों का मर्म क्या हो सकता है? इन दोनों का निर्वचन डॉ० फ्रायड आदि मात्रा की दृष्टि से नहीं कर सके। अतः हो सकता है कि इसका निर्णय विषयीगत प्रतिवेद से हो जाय। इस निर्णय के लिए हमें सुख-दुःख के निर्वचन-प्रयत्न को छोड़कर उनके भाव से अभिभूत व्यक्तियों की दशा के वर्णन में प्रवेश करना पड़ेगा। सुख की स्थिति में व्यक्ति में किस प्रकार के विशेष परिवर्त्तन होते हैं? और दुःख की दशा में व्यक्ति की क्या विशेष दशा रहती है? हमें ज्ञात है कि इन दोनों की अनुभूतियों में हमारे शरीर में परिवर्त्तन होते हैं। कुछ शारीरिक लक्षण दुःख

---

relationship to conditions stability and instability, and upon this may be based the hypothesis I intend to develop elsewhere, viz., : that every psychological movement rising above the threshold of consciousness is charged with pleasure in proportion as it approximates beyond a certain limit to complete equilibrium, and with 'pain' in proportion as it departs from it beyond a certain limit; while between the two limits which may be described as the qualitative thresholds of 'pain' or pleasure, there is certain zone area of aesthetic indifference."

—*S. Freud : Beyond the Pleasure Principle, p. 3.*

१—'Joy still must sorrow, sorrow joy attend.'

तथा सुख की अतिमात्रा में एक-से ही प्रकट होते हैं, अतः वे किसी भी वृत्ति को सुख अथवा दुःख नहीं ठहरा सकते। उपनिषद् का कहना है—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्।[1]

—अर्थात् जो बड़ा हो, वह सुख है; जो अल्प हो, वह दुःख है। हमने यह पहले ही व्यक्त कर दिया है कि यह 'बड़ा' और 'अल्प' अथवा 'छोटा' वेदना की मात्रा में नहीं है। अतः इस 'बड़े' का और 'छोटे' का क्या अर्थ है?

सुख में व्यक्ति व्यापक हो जाता है। उसका सत्त्व विशाल होता है। वह अनुभव करने लगता है कि सर्वत्र वही व्याप्त है। उस स्थिति में चारों दिशाओं में उसे एक नवीन प्रकाश दिखाई पड़ता है। वह अपने को हलका एवं लघु अनुभव करता है। इसी से आनन्दी मनुष्य के विषय में कहा जाता है कि उसके चरण पृथ्वी पर नहीं रहते हैं, वह उन्मत्त होकर आसमान में विहार कर रहा है इत्यादि। उस अवस्था में उसकी भौतिक सत्ता लुप्तप्राय-सी हो जाती है। उसे काल का ज्ञान नहीं रहता है। दिन क्षण के समान लगते हैं। किन्तु दुःख में इससे ठीक विपरीत अनुभव होता है। सत्त्व संकुचित-सा हो जाता है। व्यक्ति अनुभव करने लगता है कि दुनिया में उसका कहीं स्थान ही नहीं है, मालूम होने लगता है कि संसार का सारा भार उसी के सिर पर टूट पड़ा है और सभी दिशाएँ उसके लिए अन्धकारावृत हैं। ज्योति की झलक उसके लिए नष्टप्राय-सी है। आस्कर वाइल्ड ने भी कहा है—(उस समय) व्यक्ति का चित्त सन्ध्या-सा अर्थात् धूमिल हो जाता है। उसके विचार-क्षेत्र तथा काल-क्षेत्र में कोई गति नहीं मालूम पड़ती।[2] उसे मालूम होने लगता है मानो वह रसातल में धँसा जा रहा है। उसे काल अति दीर्घ मालूम होने लगता है। 'वासरो वत्सरायते' अर्थात् दिन वर्ष-सा प्रतीत होने लगता है। कहा भी है—

दुःखे कालः सुदीर्घो हि सुखे लघुतरः सदा।

आस्कर वाइल्ड ने पुनः कहा है—'पीडा अति दीर्घवर्त्तिनी है। उसका काल-विभाग नहीं किया जा सकता है। उस दशा में व्यक्ति की चैत्त रीतियों का और उनकी पुनरावृत्ति का वर्णन-मात्र किया जा सकता है। समय गतिशून्य दिखाई पड़ता है। वह पीडा के केन्द्र के चतुर्दिक् घूमता हुआ दिखाई पड़ता है।[3] स्पष्ट है, सुख वही है, जिसमें व्यक्ति अपने को बढ़ा हुआ एवं प्रफुल्ल समझे। जिस वेदना से वह अपने को संकुचित समझता है, वह दुःख है।

१—छान्दोग्योपनिषद्: ७. २३

२—'It is always twilight in one's heart. And in the sphere of thought, no less in the sphere of time, motion is no more'.

—*Oscar Wilde* : *'De Profundis,' p. 13.*

३—"Suffering is one way long moment. We cannot divide it by season. We can only record its moods and chronicle their return. With us time itself does not progress. It revolves. It seems to circle round one centre of pain."

—*Vide, p. 11.*

सुख-दुःख 'अहंकार' की दृष्टि से ही निर्णीत होते हैं। 'हमें सुख होता है' ऐसा कहने का यही अर्थ है कि सुख में हमारा अहंकार अपने को प्रवर्द्धमान पाता है। अहंकार के सुख से ही व्यक्ति का सुख और उसके दुःख से उसका दुःख समझा जाता है। सुख अथवा दुःख, वास्तव में, स्वतन्त्र भाव नहीं। प्रत्येक भाव के साथ ही सुख अथवा दुःख सम्बद्ध है, क्योंकि सभी प्रकार के भाव प्रिय अथवा अप्रिय होते हैं। वासना की तृप्ति अथवा अतृप्ति पर ही सुख तथा दुःख अवलम्बित हैं। वासना की तृप्ति से सुख होता है और उसी के निरोध से दुःख होता है। एक दृष्टि से अहंकार को वासना के निरोध से सुख होता है और एक दृष्टि से दुःख होता है। ज्ञान के लिए वासना की तृप्ति से प्रायः पीडा होती है, किन्तु ज्ञात की पीडा अज्ञात वासना के लिए सुख है। अतः चित्त की सभी क्रियाएँ सुख-दुःख की वेदनाओं से निर्णीत होती हैं। अतः स्पष्ट है कि अब हम वासनाओं के स्वभाव के परिदर्शन करें, क्योंकि विना उसके परिज्ञान के सुख-दुःख का मर्म भलीभाँति समझ में नहीं आ सकता।

वासनाएँ क्या हैं? इस प्रश्न की जिज्ञासा से मालूम होता है कि वे एक प्रकार की उत्तेजनाएँ हैं। उत्तेजना का लक्षण है क्रिया की ओर प्रवृत्त करना। व्यक्ति को उत्तेजनाएँ अनेक स्थानों से प्राप्त होती हैं, जैसे बाह्य जगत् और अन्तरङ्ग से। इस प्रकार की भिन्नता से उत्तेजनाएँ द्विधा हैं—(१) बाह्य जगत् से चित्त में प्रवेश करनेवाली और (२) अन्तरङ्ग से बाह्योन्मुख होनेवाली। सर्वप्रथम हम बाह्य उत्तेजनाओं पर प्रकाश डालते हैं—

(१) बाह्य उत्तेजनाएँ बहिर्गत विषयों से हुआ करती हैं। यदि बाह्य संसार में विषय का अस्तित्व नहीं माना जाय, तो इस प्रकार की उत्तेजना भी निराकृत होगी। हमें बाह्य विषयों का ज्ञान बाह्य उत्तेजना से होता है। बाह्य जगत् से आनेवाली उत्तेजनाओं के प्रतिवेद तथा प्रतिक्रिया करने के लिए शरीर के विशेष अवयव हैं। शरीर की मांसपेशियाँ इसी काम में प्रयुक्त होती हैं कि वे व्यक्ति को बाह्य उत्तेजना-समूह में विना किसी प्रकार की कठिनाई के रख सकें। यदि कोई बाघ हमें खाने आ जाय, तो हम या तो सामने के पेड़ पर चढ़ेंगे या भाग जायेंगे या उसका मुकाबला करेंगे। इन तीनों क्रियाओं में कार्य शारीरिक पेशियों द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि मनुष्य बाह्य संवेदना से अपने को कुछ शारीरिक कार्यों द्वारा बचा सकता है। व्यक्ति में कुछ ऐसी विशिष्ट शारीरिक क्रियाएँ हैं, जो परम्परा से संक्रान्त होती हैं। उनका मर्म यही है कि मनुष्य ने उन क्रियाओं को अत्यन्त उपयोगी समझा और अपने वीर्य के द्वारा शिशु को वे क्रियाएँ प्रदान कर दीं। किन्तु, आन्तरंगिक उत्तेजनाओं की बात दूसरी ही है। ये दो प्रकार की हैं, जिनमें एक सुख आदि को तथा दूसरी शारीरिक आवश्यकता को सम्पन्न करनेवाली है। भूख एक आन्तरंगिक उत्तेजना है, उसी प्रकार काम एक आन्तरंगिक उत्तेजना है। भूख कुछ अधिक शारीर-सी लगती है, किन्तु भूख और काम की उत्तेजनाएँ शरीर के भीतर ही अनुभूत होती हैं। आन्तरंगिक और बाह्य उत्तेजनाओं में जो सबसे स्पष्ट एवं बड़ा अन्तर पाया जाता है, वह यही है कि आन्तरंगिक उत्तेजनाएँ निर्णीत नहीं हो पातीं;

क्योंकि इनसे व्यक्ति बच नहीं सकता। इनकी तृप्ति करते रहने पर भी ये पुनः पुनः आवृत्त होती रहती हैं। किसी विशेष प्रकार की शारीरिक क्रिया से व्यक्ति इनका प्रतिवाद नहीं कर सकता। जिस प्रकार से बाह्य संवेदनाओं से बचने के लिए मांस-पेशियाँ आदि प्राप्त हैं, उसी प्रकार सुख-दुःखादि से बचने के लिए कोई ऐसी रचना नहीं है जो सन्तान से सन्तान को प्राप्त होती जाती है। उनकी तृप्ति के विधानों में क्षण-क्षण परिवर्त्तन होते रहते हैं। शारीरिक मांसपेशियाँ इन्हीं की तृप्ति के लिए हैं, अथवा इन्हीं की आज्ञाओं का पालन कर वे बाह्य जगत् को बदल देती हैं। अतः यह कहना अयुक्तिसंगत नहीं होगा कि संसार का सारा वैचित्र्य, सारा परिवर्त्तन, सारी सभ्यता, सारी संस्कृति आदि इन्हीं आन्तरंगिक उत्तेजनाओं के प्रबल कारण से उत्पन्न होती चली गई हैं। इन उत्तेजनाओं को 'आवश्यकता' के नाम से पुकारना होगा। हमारा जीवन हमारी आवश्यकताओं के कारण ही अवस्थित है। हमने पहले ही कहा है कि सुख तथा दुःख कोई स्वतन्त्र भाव नहीं है, प्रत्युत वे किसी उत्तेजना की तृप्ति अथवा अतृप्ति के कारण अनुस्यूत होनेवाले हैं। सुख तथा दुःख को इसीलिए हम आवश्यकताओं की संज्ञा नहीं दे सकते। उनका उदय क्रमशः होता है। वे किसी आवश्यकता के साथ अनुस्यूत होते हैं। वास्तव में, प्रधान आवश्यकताएँ हैं—काम और आहार। इन्हीं आवश्यकताओं को भारतीय साहित्य में वासनाएँ, एषणाएँ अथवा तृष्णाएँ कहा जाता है। इनकी अभिव्यक्ति सदा इन रूपों में होती रहती हैं—यह मेरे लिए हो जाय, 'जाया मे स्यात्', इदं 'मेऽस्त्वितिरूपिणी' आदि। एषणाएँ तीन हैं—(१) पुत्रैषणा, (२) लोकैषणा और (३) वित्तैषणा। पुत्रैषणा को दारैषणा भी कहा जाता है। किन्तु, यदि ध्यान से देखा जाय, तो ज्ञात होगा कि हमारी एषणाओं में काम अथवा मैथुनेच्छा-दारैषणा तथा भोजन-आहारग्रहण, प्रधान है। वित्त और यश दोनों एक प्रकार का आहार ही हैं। इन दोनों से वृद्धि एवं परिवर्द्धन होते हैं। इसी से प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० भगवानदासजी ने यश को मानसिक भोजन कहा है। काम से आनन्द और आहार से परिवर्द्धन होता है। दार्शनिक और कवि शीलर का कहना है कि भूख और काम ही इस दुनिया को चला रहे हैं—

काल की गति पर
जब तक उदात्त भाव—
दर्शन एकाधिपत्य
राज्य नहीं करता,
तब तक यह विश्व अति
प्राचीन रीति में
क्षुधा-काम-वृत्ति से
बढ़ता ही जायगा।[1]

१—"Until philosophy sublime,
Supremely rules the course of time,
The world, in oldest fashion,
By hunger moves and passion."

एवं पशुसमैर्मूढैः अज्ञानप्रभवं महत्।
अवाप्यते नरैर्दुःखं शिश्नोदरपरायणैः॥[१]

—अर्थात् कामासक्त, उदर-परायण एवं पशु के समान व्यक्ति ही इस प्रकार अज्ञान से उत्पन्न दुःख भोगते हैं। जबतक तत्त्व-ज्ञान का उदय नहीं होता, तबतक सारा संसार भूख और काम से संचालित रहेगा ही। विष्णुशर्मा की प्रसिद्ध लोकोक्ति है ही—

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

आहार और निद्रा से सत्व की पुष्टि होती है, भय से रक्षा होती है और इस प्रकार से पुष्ट तथा रक्षित सत्त्व का विस्तार मैथुन में होता है। अतः इनको भी भूख और काम में ही परिगणित कर सकते हैं। वास्तव में मुख्य वासनाएँ भूख और काम, अशना-पिपासा तथा मैथुन-तृष्णा ही हैं। कुछ लोगों के मतानुसार वासनाएँ अनेक हैं, और वे ऐसी चित्त-रीतियाँ हैं जो पशुओं एवं मनुष्यों में एक ही प्रकार से अभिव्यक्त दिखाई पड़ती हैं और उनका प्रतिवेद सभी प्राणी विना सोचे ही एक ही प्रकार से करते हैं। वे प्राग्भवीय हैं और भावी सन्तानों में भी अन्वयागत (कुलक्रमागत) रूप से संक्रान्त होती हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल का निम्नलिखित कथन अति प्रसिद्ध है—

"मानव-चित्त में कुछ स्वाभाविक और प्राग्भवीय प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं, जो सभी प्रकार के विचारों एवं क्रियाओं की मूलभूत शक्तियाँ एवं तत्त्वतः स्रोत हैं और वे ऐसे आधार हैं, जहाँ से व्यक्तियों के चरित्र एवं इच्छा-शक्ति का क्रमशः विकास होता है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मूल-प्रवृत्तियाँ ही सारी क्रियाओं को प्रवृत्त करनेवाली शक्तियाँ हैं। ये मूल-प्रवृत्तियाँ सभी क्रियाओं के लक्ष्यों को निश्चित करती हैं और उस प्रेरक शक्ति को प्रदान करती हैं, जिसके द्वारा सभी मानसिक क्रियाएँ पालित एवं धारित होती हैं। यदि इन मूल-प्रवृत्तियों को उनकी शक्तिशाली उत्तेजनाओं के साथ पृथक् कर दिया जाय, तो जीव किसी भी प्रकार की क्रिया करने में असमर्थ हो जायगा और सर्वथा उसी विचित्र घड़ी के समान निश्चेष्ट एवं गतिहीन हो जायगा, जिसका मूलाधार चक्र निकाल लिया गया हो, अथवा उस इञ्जन की भाँति निश्चेष्ट एवं गतिहीन हो जायगा, जिसमें से आग निकाल ली गई हो। ये प्रवृत्तियाँ वैसी मानसिक शक्तियाँ हैं, जो व्यक्तियों एवं समाजों के सारे जीवन को स्वरूप देती हैं और उसे रक्षित रखती हैं।"[२]

१—विष्णुपुराण : ६.५.२४

२—"The human mind has certain inmate or inherited tendencies which are the essential springs or motive powers of all thought and action......and are the bases from which the character and will of individuals......are gradually developed...... Directly or indirectly the instincts are the prime movers of all activity...... The instinctive impulses determine the ends of the activities and supply the driving power by which all mental activities are sustained...... Take away these

प्रो० मैक्डूगल द्वारा बड़े मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त की गई मूल-प्रवृत्तियों को ही हमारे साहित्य में वासनाओं की संज्ञा मिली है। इन वासनाओं की संख्या के विषय में बहुत-से मतभेद हैं। कुछ लोगों ने अनेक वासनाएँ गिनाई हैं, यथा—कमाने की वासना, स्वीय अभिव्यक्ति की वासना, वात्सल्य-वासना, मिथुन-वासना, समाज-वासना इत्यादि। किन्तु, प्रश्न तो यह है, क्या हम इन वासनाओं को और कम करके कुछ एक में ही उन्हें अन्तर्भूत नहीं समझ सकते हैं? डॉ० फ्रायड ने इस प्रकार की सभी वासनाओं की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भिन्नता और समानता को पहचानने का प्रयत्न किया है। उन्हें लगा कि समानता के कारण वासनाओं के दो समूह बन जा सकते हैं—(१) मिथुन-वासनाएँ और (२) रक्षाहित-वासनाएँ। उनके अनुसार अन्य सभी वासनाएँ इन्हीं में अन्तर्भूत होती हैं। किन्तु, यह प्रश्न उठता है, इन्हीं दो समूहों का निर्णय क्यों किया गया? क्या ये दोनों विरोधी वासनाएँ हैं? इस बात का निर्णय करने के लिए पाठकों के समक्ष वासना के मूल स्वभाव के विषय में और कुछ बताना अपेक्षित है।

प्रत्येक वासना का अध्ययन भिन्न दृष्टियों से हो सकता है, क्योंकि उनमें कुछ विशिष्ट अंश पाये जाते हैं। वासना के स्वभाव से यह विदित होता है कि उसकी चार अवस्थाएँ होती हैं—(१) वेग, (२) उद्देश्य, (३) विषय और (४) आश्रय-स्थान। (१) वेग का अर्थ यह है कि वासना, अभिव्यक्त होने में, कितनी शक्ति से प्रेरित होती है। उसके बहिर्गत होने के लिए काम-शक्ति कितनी लगती है। वास्तव में, प्रत्येक वासना का यदि कोई सार कहा जाय तो वह यह वेग ही है। यह जानना आवश्यक है कि वह तीव्रता के साथ बाह्योन्मुख हो रही है या मृदुता के साथ। (२) प्रत्येक वासना का उद्देश्य सदा स्वीय तृप्ति ही रहता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति में वासना के अनेक रूप-परिवर्त्तन हो सकते हैं। कुछ वासनाएँ कभी-कभी कुछ ही मात्रा में तृप्त हो जाती हैं और तत्पश्चात् निरुद्ध हो जाती हैं। (३) वासना के विषय से हमारा तात्पर्य उस वस्तु से है, जिसके द्वारा वासना अपना तृप्ति-साधन करती है। वासना अपनी तृप्ति के मार्ग में अनेक बार इस विषय को छोड़कर अन्य विषयों का भी ग्रहण कर सकती है। किन्तु, प्रायः उसी विषय के संसर्ग से उस वासना की तृप्ति देखी जाती है, अतः उस विषय को वासना-विषय कहते हैं। यदि व्यक्ति अपने-आपको प्रेम करता है, अर्थात् स्वयं अपनी सुन्दरता को शीशे में देखकर आकृष्ट होता है तो शरीर का वह भाग, जिसका प्रतिबिम्ब उसके सामने है, वासना का विषय बन जाता है। यह नियमतः देखा जाता है कि वासना का विषय विषयी से बहिर्गत ही रहता है। 'बहिर्गत' शब्द का अर्थ यह नहीं है कि वह बाह्य संसार में रहता है। उसका अर्थ यह है कि वासना की

instinctive dispositions with their powerful impulses, and the organism would become incapable of activity of any kind, it would be inert and motiveless like a wonderful clock-work whose mainspring had been removed or a steam-engine whose fires had been withdrawn. These impulses are the mental forces that maintain and shape all the life of individuals and societies.

—*Mc Dongall : 'Introduction to Social Psychology', p. 45.*

दृष्टि से वह बहिर्गत है। वासना व्यक्ति के अत्यन्त समीप दिखाई पड़ती है। इस प्रकार से जब व्यक्ति अपने रूप से स्वयं मोहित होता है, तो वह रूप उसके बहिर्गत ही कहा जायगा। (४) अब हम वासना के आश्रय-स्थान को समझ लें। प्रश्न उपस्थित होते हैं—वासना कब और किस प्रकार से अभिव्यक्त होती है? शरीर के किस भाग पर उत्तेजना के लगने से वासना की अभिव्यक्ति होती है? उदाहरणार्थ, मिथुन-वासना को लीजिए। मिथुन-वासना का एक वेग रहता है। वह एक शक्ति के साथ अपने को बाह्योन्मुख करती है। उसका उद्देश्य तज्जन्य क्षोभ को निकाल देना अथवा सुख की प्राप्ति ही है। वह वासना प्रायः अपने से भिन्न जाति के सामने अभिव्यक्त होती है। स्त्री को देखकर पुरुष में मिथुन-वासना की अभिव्यक्ति होती है और पुरुष को देखकर स्त्री के मन में मिथुन-वासना अंकुरित होती है। पुरुष के विषय में मिथुन-वासना का कारण स्त्री है। अतः स्त्री मिथुन-वासना का विषय है। स्त्री और पुरुष कहने से यहाँ कोई जाति अभिप्रेत नहीं है। यहाँ हमारा तात्पर्य केवल स्त्री-स्वभाव और पुरुष-स्वभाव से है। अब मिथुन-वासना का आश्रय क्या है? मिथुन वासना विशेषतः शरीर के कुछ भागों के संस्पर्श से अथवा परिदर्शन से विकसित होती है। उपस्थ-स्पर्श, अंस-निपीडन, अधर-चुम्बन आदि से मिथुन भाव उद्दीप्त होते हैं। ये सभी मिथुन-वासना के आश्रय कहे जाते हैं। इस प्रकार से देखा जाता है कि मिथुन-वासना का एक वेग है, एक 'स्थायीभाव' रति है; एक विषय है, आलम्बन; और आलम्बन के अतिरिक्त त्वचासंस्पर्श आदि उद्दीपन विभाव भी हैं।

अतः प्रत्येक वासना के वेग, उद्देश्य, विषय और आश्रय रहते हैं। और, डॉ॰ फ्रायड ने इस प्रकार की वासनाओं के मूलतः दो विभाग किये हैं—(१) मिथुन-वासनाएँ और (२) रक्षाहित या अहंकार-वासनाएँ। रक्षाहित-वासनाओं को अहंकार-वासनाएँ इसीलिए कहा जाता है कि संसार में रक्षा-वासना का मूर्त्त प्रतिनिधि अहंकार ही है। वासनाओं के इस प्रकार के विभाग करने के कुछ विशेष प्रमाण हैं। मिथुन-वासनाओं और अहंकार-वासनाओं में कुछ सहज निरोध हैं। अतएव, दोनों को अलग विभागों में बाँटा गया है। रक्षा और काम अहंकार के नियन्त्रण में ही हुआ करते हैं। किन्तु, दोनों के अधीन अहंकार भिन्न रूप धारण करता है। रक्षा-साधन में अहंकार अपने-आपको गम्य स्थान मानता है। वही उस रक्षा का प्रभु है। वही रक्षा साधनेवाला है और रक्षा का फल भोगनेवाला भी वही है। वह अपने लिए किसी दूसरे से नियन्त्रित अथवा किसी दूसरे की अपेक्षा रखनेवाला नहीं है। किन्तु, मिथुन-वासना से सम्बद्ध होने के उपरान्त अहंकार का दूसरा ही रूप हो जाता है। वह स्वतन्त्र नहीं रह पाता। किसी महान् उद्देश्य की पूर्त्ति में वह प्रधान कार्यकर्त्ता है। परम्परा में वह एक स्थान पाता है। शृङ्खला में एक कड़ी वह भी है। जो अनुभूतियाँ उसने अपने जन्म के कारण प्राग्भव के रूप में पाई हैं, उनकी रक्षा वह बहुत श्रद्धा के साथ करता है और अपने वीर्य के साथ दूसरे को उन सभी संस्कारों को प्रदान करने पर उसका कार्य अवसित होता है; इसलिए निम्न स्तर के कुछ कीटाणु मैथुन-सम्भोग के साथ ही साथ मर जाते हैं। अतएव, व्यक्ति तीन ऋणों के साथ उत्पन्न होता है, (१) ऋषिऋण,

(२) पितृऋण और (३) देवऋण। जबतक व्यक्ति सन्तान को उत्पन्न नहीं करता, वह पितृऋण से और अनुपाततः देवऋण से मुक्त नहीं हो पाता। अतएव, आदि भारत में गुरु स्नातक-शिष्य को शिक्षा देते थे, 'ऐ वत्स, प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः,'[1] अर्थात् प्रजातन्तु को तोड़ नहीं डालो। इस प्रकार से यह स्पष्ट विदित होता है कि रक्षा-वासनाएँ व्यक्ति के जीवन के साथ-साथ पर्यवसित होती हैं, किन्तु मिथुन-वासनाएँ दूसरे व्यक्ति को भी दी जाती हैं और इस क्रिया में अहंकार संस्कारावह एवं वासनावह है। इस प्रकार से जातीय संस्कारों को सन्तान में संक्रमित करने में व्यक्ति को मैथुनानन्द प्राप्त होता है। इन बातों से यह विदित होता है कि वासनाओं को मिथुन-वासनाओं और अहंकार-वासनाओं के भेद मे विभाजित करना उचित एवं युक्तिसङ्गत ही है।

डॉ० फ्रायड ने सभी वासनाओं में जो एक विशेष बात देखी, वह यह है कि वे परिवर्त्तन की इच्छुक नहीं रहती हैं। वे सब 'पूर्वाचारपरायण' हैं। डॉ० फ्रायड वासनाओं की व्याख्या अपने विशेष ढङ्ग से करते हैं। उनका कहना है कि वासनाएँ एक अतीत स्थिति की पुनरावृत्ति करानेवाली मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं। इस प्रकार से भूख एक प्रवृत्ति है जो बार-बार व्यक्ति को क्षुधा की स्थिति में ले आती है; अतः वह वासना है। निद्रा भी एक वासना होनी चाहिए, क्योंकि वह भी पुनरावृत्त होती रहती है। अब देखना चाहिए कि यह लक्षण मिथुन और अहंकार-वासनाओं में उपयुक्त होता है कि नहीं और डॉ० फ्रायड इस परिणाम पर किस प्रकार पहुँच सके।

हमने कई बार पाठकों को यह स्पष्टतया बताया है कि डॉ० फ्रायड ने अपने सिद्धान्तों को विज्ञान की अर्थात् परिशीलन और प्रयोग की दृढ भित्ति पर अवलम्बित किया है। वासनाओं की पुनरावृत्ति के स्वभाव के विषय में भी उन्होंने अनेक घटनाएँ देखीं, जिनसे उन्हें विदित हो गया कि चैत्त वृत्तियों में एक बलवती शक्ति है जो अतीत स्थिति को लाने का प्रयत्न करती है और वह सदा वासना के रूप में प्रकट होती है। उन घटनाओं में प्रधान तीन हैं—(१) बालकों के खेल, (२) क्षतज स्वप्न, (३) अपदेशन-अपस्मार। हम इनको और स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

(१) बहुत दिनों तक डॉ० फ्रायड का मत यह था कि सभी चित्त-वृत्तियाँ सुख पाना चाहती हैं। वे कहते थे कि चित्त की सभी क्रियाएँ सुखतत्त्वाश्रित हैं। किन्तु, कालान्तर में उनके इस मत में परिवर्त्तन हुआ। उनके सामने कुछ ऐसी बातें उपस्थित हुईं जो सुख-तत्त्व की प्रधानता के विरुद्ध थीं। उन्होंने देखा कि कुछ चित्त-वृत्तियाँ स्वभावतः दुःख ही दुःख उत्पन्न करती हैं अर्थात् वे भी संवेद्य हैं। कई बच्चे दुःखद घटनाओं का पुनः-पुनः स्मरण करके फूट-फूटकर रोने लगते हैं। यदि बच्चे को एक दिन दूध दिया जाय और दूसरे दिन दूध का बर्तन दिखाया जाय, तो वह थोड़ी देर तक चुप रहता है, क्योंकि वह क्षण भर के लिए अपने को उस दूध का अधिकारी-सा समझता है और मानो अनुभव करता है कि वह दूध पी रहा है। इस प्रकार वह अतीत घटना को स्मृति-पट पर पुनरावृत्त करता है और तज्जन्य अतीत संवेदना को

१—तैत्तिरीयोपनिषद् : १. १. ११

पाता है। इसी प्रकार से दुःखद बात भी दुहराई जाती है। वैद्य को देखकर बच्चा रोता है। एक बार जब वैद्य से उसे दवा के रूप में कष्ट अथवा दुःख मिला, तो वह उसी घटना को बार-बार स्मरण करता है। इस प्रकार बच्चे अपने अनुभवों को बार-बार पुनरावृत्त करते हैं, अर्थात् अतीत घटनाओं को वे जाग्रत करते हैं। प्रत्येक प्रयत्न के साथ वह घटना थोड़ी-सी वंशवद हो जाती है। दादा कहानी कहते हैं। दूसरे दिन बच्चा कोई नवीन कहानी सुनने की चाह नहीं प्रकट करता है, प्रत्युत वह उसी अतीत कहानी को चाहता है। प्रौढ लोग एक ही कहानी को दो बार नहीं सुनना चाहते। उनका जी ऊब जाता है। उनके लिए रमणीयता नवीनता में है, किन्तु बच्चों को नवीनता में रहनेवाली रमणीयता का आस्वाद अभी ज्ञात नहीं रहता है। नवीनता से वे प्रायः सशंकित रहते हैं। वे अपरिचित को देख सहम-से जाते हैं। 'पराये' का अर्थ ही बाह्य अर्थात् शत्रु है। 'आत्मीय' बन्धु का नाम है। बच्चों में आत्मीयता निगूढ रूप में पाई जाती है। अस्तु; ज्योंही दादा ने नवीन कहानी शुरू की, बच्चा ऊधम मचाने लगा। पहले तो वह थोड़ी देर तक सुनेगा; किन्तु कुछ मिनट के बाद वह चञ्चल होने लगता है। वह दादा से उसी पुरानी कहानी के लिए प्रार्थना करता है। जब उसके दादा पुरानी कहानी कहना आरम्भ करते हैं तो बच्चा तृप्त नहीं होता, वह उस कथा को उसी क्रम में सुनना चाहता है। इतना ही नहीं, बीच-बीच में वह कल की बातें दुहराकर अपनी प्रज्ञा को प्रकट करता है। मालूम होता है कि बच्चा एक नवीन अनुभव को अपने वश में करने के प्रयत्न में है। एक नवीन घटना को वह अपने स्मृति-पट पर पुनः जाग्रत करता है। कभी-कभी उसे अपनी क्रियाओं से पुनरावृत्त करता है और उनके वेग को तथा उनसे होनेवाले क्षोभ को वश करने का प्रयत्न करता है। उसे तबतक सुख नहीं मिलता, जबतक वह घटना पूर्णतया उसके वश में नहीं आ जाती। यही है अभ्यास का रहस्य। इसे हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं।

एक सुशिक्षिता माता के एक लड़का था। जब माता पड़ोसियों के घर जाती थी, तब वह लड़का रोता न था। वह उस समय अपने एक खिलौने को खाट के नीचे फेंका करता था और जब खिलौना नहीं दिखाई पड़ता था तो वह बोल उठता था, 'जाओ, निकल जाओ', प्रतिदिन माता के चले जाने के साथ-साथ वह यह खेल आरम्भ कर देता था। एक दिन माता जब घर लौट कर आई, तो लड़के ने कहा, 'वह चला गया'। यह स्पष्ट भान होता था कि माता के चले जाने पर उसे जो दुःख होता था उसे वह अपने वश में करने के प्रयत्न का अभ्यास कर रहा था। बात भी ठीक निकली। जब कुछ वर्ष के बाद उसकी माता मर गई, तब उस बालक को लेशमात्र भी दुःख नहीं हुआ। उसने उस दुःखद घटना को पुनरावृत्त कर अभ्यास से जीत लिया था।[१] इस प्रकार की पुनरावृत्ति स्वाभाविक ही है।

(२) क्षत-अपस्मार[२] एक आधि है। इससे पीडित रोगी बार-बार इसी की स्मृतियों के वशीभूत होते हैं। जिन बातों की स्मृति रोगी सह नहीं सकते, वे बातें

१—*Sigmund Freud : 'Beyond the Pleasure Principle.'*
२—**Traumatic Neurosis.**

पुनः-पुनः आवृत्त होती हैं। रोगी उन घटनाओं का स्मरण करना नहीं चाहते, प्रत्युत उन्हें वे निरुद्ध करना चाहते हैं। इतना होने पर भी वे घटनाएँ स्वयं जाग्रत होती हैं और स्मृति का विषय बनती हैं। रोगी नींद से हठात् चिल्लाने और काँपने लग जाते हैं। पूछने पर ज्ञात होता है कि उन्होंने कोई दुःस्वप्न देखा है। स्वप्न-दर्शन के कारण ही उनमें कम्पन उत्पन्न होता है। प्रायः स्वप्न उसी विषय से सम्बद्ध रहते हैं, जिसमें रोगी पहले अपस्मार की निदान-भूत परिस्थिति में था। स्वप्न में व्यक्ति पुनः एक बार अपने को उसी घटनास्थल पर पाता है। बार-बार वे बातें रोगी के अहंकार को सताती हैं। इन बातों के परिशीलन ने डॉ० फ्रायड के मन में सुख-तत्त्व की एकान्तता के सम्बन्ध में शंका उत्पन्न कर दी। यदि 'ज्ञात' की सभी वृत्तियाँ सुखमय अथवा सुख साधने के लिए ही हैं तो यदि वे सुख से कुछ भी सम्बन्ध न रखें, तो वे क्योंकर और कैसे ज्ञात होती हैं ?

(३) उपर्युक्त शंका को एक प्रमाण ने दृढ किया। डॉ० फ्रायड अपने रोगियों की चिकित्सा चित्त-विकलन की प्रक्रिया से करते हैं। चिकित्सा के क्रम में डॉ० फ्रायड को यह अनुभव हुआ कि चिकित्सा के अन्तिम दिनों में एक विशेष प्रकार की अवस्था उत्पन्न होती थी। डॉ० फ्रायड चाहते थे कि वे किसी प्रकार से रोगी के 'अज्ञात' निरोध तथा प्रतिरोधों को उठाकर अथवा तोड़कर निरुद्ध बातें जागरित करें। उन्हें 'निर्मली' अथवा रेचन-क्रिया से यह विदित हुआ था कि उन बातों के साक्षात्कार से देश, काल और निमित्त का अनुभव हो जाता है और उससे भाव-रेचन होता है तथा रोग-लक्षण लुप्त होते हैं। इसी भाव-रेचन को वे स्वच्छन्दानुबन्ध अथवा स्वतन्त्र साहचर्य-विधि के मार्ग से लाने का प्रयत्न करते थे। किन्तु, जहाँ डा० फ्रायड रोगी को, उन बातों को स्मरण करते हुए, देखना चाहते थे, वहाँ रोगी अनजाने ही निरुद्ध बातों को क्रियान्वित करता था। रोगी क्रियास्वरूप में उन निरुद्ध क्रियाओं की पुनरावृत्ति करता था, जिन्हें समाज और अन्तरात्मा के कारण उसे दबा डालना पड़ा था। उन घटनाओं की पुनरावृत्ति से रोगी को किसी प्रकार का सुख नहीं मिलता था। निरोध भी इसी दुःख के कारण हुआ था। इस अपदेशन अथवा संक्रमण[1] की अवस्था में रोगी बच्चा-सा व्यवहार करता था। बचपन में उसे खूब दुःख हुआ था। माता ने दूसरे शिशु को जन्म देकर उसके पूर्ण मातृप्रेम का, जिसपर उसका ही अधिकार था, विनाश कर डाला था। गुरुजनों से अधिक भय था। स्पष्ट है इन सभी अनुभूतियों में सुख का लेश भी नहीं था। योगवासिष्ठ में आया है—

शैशवे गुरुतो भीतिः मातृतः पितृतस्तथा।
जनतो ज्येष्ठबालाच्च शैशवं भयमन्दिरम्॥[2]

—अर्थात् शैशव में गुरु का, माता का, पिता का, अन्य लोगों का तथा बड़े बच्चों का डर रहता है। शैशव भय का मन्दिर है। रोगी के अपदेशन की स्थिति में उपर्युक्त सभी दुःखद बातों की पुनरावृत्ति होती है। यह रोगी की बात है। जो रोगी नहीं हैं, वे

१—Transference.

२—योगवासिष्ठ : वैराग्य-प्रकरण, १९.३०

भी केवल दुःखद विषयों को ही विचार के विषय बना सकते हैं—'दुहुँ कोले दुहुँ काँदे विच्छेद भाविया', अर्थात् परस्पर गाढ प्रणयाश्लेष में रहकर भी विच्छेद का ध्यान कर वे रोते हैं। सुख की उच्छ्रिति में रहते हुए भी दुःख को विचार का विषय बना सकते हैं। कवि वर्ड्सवर्थ का भी कहना है कि हम कभी-कभी ऐसी परिस्थिति में रहते हैं जब सुखद भावनाएँ दुःखद भावनाओं को जागरित कर देती हैं।[१] प्रायः कुछ लोगों में एक ही घटना क्रूरता के साथ पुनरावृत्त होती हैं। मैत्री में द्रोह, प्रेम में भंग आदि क्रम कुछ व्यक्तियों के जीवन में बार-बार हुआ करते हैं।

इन सब बातों से विदित होता है कि सुख-तत्त्व से भी परे एक और तत्त्व है, जिससे दुःख ही दुःख होता है। उसमें प्रायः आवृत्त होने की शक्ति जागरूक है। ऐसी आवृत्तियों में व्यक्ति को किसी प्रकार का सुख नहीं होता है और हो भी नहीं सकता है। इन बातों से डॉ० फ्रायड को इसका पता चला कि सुख-तत्त्व से भी परे एक तत्त्व है जो सुख-तत्त्व से शक्तिशाली है तथा उससे प्राक्तन एवं असभ्य है। डॉ० फ्रायड ने अपने विचारों में परिवर्त्तन किया। अब वे कहने लगे कि व्यक्ति केवल दुःख ही दुःख को विचार का विषय बना सकता है। दुःख किसी बाह्य विषय से हो सकता है, अर्थात् वातावरण के विरुद्ध जो प्रकृति है उसके निरोध से भी दुःख हो सकता है। दैहिक व्याधि से भी दुःख हो सकता है। दुःख त्रिविध है—(१) आध्यात्मिक (२) आधिदैविक एवं (३) आधिभौतिक। इनमें आध्यात्मिक दुःख का विषय ही यहाँ पर अभिप्रेत है।

हमने ऊपर जितने उदाहरणों का उल्लेख किया, उन सबमें दुःखमय बातों की पुनरावृत्तियाँ ही पाई जाती हैं। इनके अध्ययन से यह प्रश्न उठता है कि पुनरावृत्ति होती क्यों है। क्षतज-अपस्मार और अपदेशन-अपस्मार के अध्ययन से इस पुनरावृत्ति के स्वभाव पर प्रकाश पड़ सकता है। अतः हम उन दोनों को समझाने का प्रयत्न करेंगे।

(१) क्षतजापस्मार रोग के नाम से ही रोग का आभास मिल जाता है। यह रोग किसी क्षत के कारण होता है, जिसके प्रहार से चित्त को अपस्मार रोग हो जाता है। हमने बहुत पहले ही पाठकों के समक्ष जीवत्कोशिका के क्रिया-प्रवाह पर प्रकाश डाला है। यहाँ भी हम उसी दृष्टान्त का सहारा ले क्षतजापस्मार की सम्प्राप्ति के विषय में प्रकाश डालेंगे। व्यक्ति का चित्त जीवत्कोशिका के समान संसार में पड़ा है। उसे चारों दिशाओं मे संवेदनाएँ मिलती रहती हैं। इस स्थिति के कारण से ही जीवत्कोशिका के उपरितल तथा अन्तर्गत तलों में भिन्नता आ जाती है। बाह्यतल संसार की संवेदनाएँ ग्रहण करता है, और अपने से भीतर रहनेवाले स्तरों की रक्षा करता है। किन्तु, इस प्रयत्न में यह तल जल-सा जाता है। क्रमशः संवेदनाओं के प्रवाह अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने से मार्ग बन जाते हैं और संवेदनाएँ उन्हीं मार्गों से चित्त के भीतर बहने लगती हैं। संवेदनाओं के साथ-साथ बाह्य जगत् की विशृङ्खल शक्ति चित्त-यन्त्र में प्रवेश पाती है। बाह्यस्थ उपरितल निम्नतलों को इसी

१—"We are sometimes in a mood when pleasant thoughts bring sad thoughts to the mind."

—*Wordsworth.*

शक्ति के अभिघात से बचाता है। किन्तु, इस प्रकार का जला-सा कोई तल अन्तरङ्ग में नहीं पाया जाता, जो आन्तरङ्गिक संवेदनाओं के आघात से व्यक्ति के अहंकार को बचा सके। अतः वे संवेदनाएँ भीतर से वेग के साथ फूट निकलती हैं। संवेदनाएँ सुख-दुःखात्मक हैं। दुःख ही सुख से अधिक तीव्र मालूम होता है, क्योंकि दुःख की प्रत्येक छाया का अनुभव होता है। व्यक्ति को अपने प्रत्येक अणु का स्थूल बोध रहता है। देहात्मबोध दुःख में जितना तीव्र रूप से होता है उतना सुख में नहीं होता है, और इसी कारण से दुःख के बाद ही तत्त्व-जिज्ञासा उत्पन्न होती है—'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा'। दुःखी मनुष्य की सारी शक्तियाँ उसी दुःख पर केन्द्रित रहती हैं। स्पष्ट है, संसार में दुःख की अधिक अनुभूति होती है। चित्तयन्त्र में इस दुःख से उसे बचाने की एक शक्ति है, जो बाह्यजगत् की शक्ति को बहिर्गत कर सकती है। बाह्य संवेदनाओं से जो शक्ति इन्द्रियों के द्वारा चित्त-यन्त्र में प्रवेश कर जाती है, उसे चित्त-यन्त्र बाँध लेता है। जहाँ जीवत्कोशिका पर बाह्य संवेदनाएँ प्रहार करती हैं, वहीं पर चित्त-यन्त्र की शक्ति का कोई-न-कोई भाग, जिस पर उसकी प्रतिक्रिया निर्भर करती है, अवश्य मानना पड़ेगा। यदि वह शक्ति न रहे, तो जीवत्कोशिका का कोई भी तल अपना कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकता। यदि हम भाग-विशेष पर किसी शक्ति का अवस्थान न मानें, तो हमें यह सोचना पड़ेगा कि बाह्य शक्ति का प्रतीकार कौन करता है अथवा उसके वेग को घटाता कौन है तथा ठीक रास्ते पर उस शक्ति को संचालित कौन करता है। अतः उस शक्ति का स्थान-विशेष स्वतः सिद्ध है। इस प्रतिक्रिया के कारण बाह्य संसार से जो शक्तियाँ भीतर प्रविष्ट होती हैं वे बहिर्गत होने के पूर्व कुछ परिवर्त्तित होती हैं। हम प्रायः अनुभव करते हैं कि जब बाह्य जगत् से किसी विशेष उद्दीपक के द्वारा कोई संवेदना आती है, तो वह हमारे अंतरंग में भावना का रूप पकड़ती है। वास्तव में, भावना बाह्य शक्ति का अनुभव है। चित्त-यन्त्र उस शक्ति को बद्ध करके क्रिया के रूप में बहिर्गत करने का प्रयत्न करता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम क्षतजापस्मार का मर्म भलीभाँति समझ सकेंगे। क्षत के कारण चित्त में अधिक विशृङ्खल शक्ति प्रवेश कर जाती है, क्योंकि प्रतिक्रिया करनेवाली शक्ति बाह्य संवेदनाओं का प्रतिवेद करने को सन्नद्ध नहीं रहती हैं। अपस्मार के पूर्व क्षोभ होता है, जिसका कारण क्षत है। क्षोभ का स्वरूप अनेक संवेदनाओं को एक साथ तीव्र वेग करने पर निर्भर करता है। यदि व्यक्ति उस समय आपत्ति का सामना करने के लिए सन्नद्ध रहे, तो अपस्मार हो नहीं सकता। सन्नद्ध रहने का अर्थ ही पर्याप्त मात्रा में सभी चित्त-शक्ति को एकत्र करके बाह्य जगत् और चित्त की संधि-भूमि पर सन्नद्ध रखना है। इसी को आशंका कहते हैं। भय, भीति और आशंका में बहुत अन्तर है। आशंका में व्यक्ति पूर्व से सावधान रहता है। उस समय उसकी सारी चैत्त शक्तियाँ एकत्र रहती हैं और बाह्य संवेदना का सामना कर सकती हैं। भय के लिए किसी विषय का होना अनिवार्य है। आशंका किसी भी अघटित बात की हो सकती है; वह सम्भाव्य है। स्पष्ट है, आशंका का कोई निर्णीत विषय नहीं रहता है। किन्तु, भय की बात इससे विपरीत है, इसमें विषय का निर्णीत ज्ञान रहता ही है।

भीति अकस्मात् होती है। व्यक्ति इस स्थिति के लिए सर्वथा सन्नद्ध नहीं रहता। भीति की परिस्थिति में व्यक्ति के चित्त में भय के साथ-साथ अचम्भा भी रहता है। क्षतजापस्मार भीति से होता है। व्यक्ति नहीं जानता कि उस पर विपत्ति घहरानेवाली है। वह उनका सामना करने के लिए सन्नद्ध नहीं रहता। अतः जब बाह्य जगत् से क्षत के रूप में तीव्र संवेदनाएँ आघात करती हैं, तो व्यक्ति अपस्मार रोग का ग्रास बनता है। जब बहिर्गत संवेदना-शक्ति को रोकने के लिए जितनी शक्ति की आवश्यकता रहती है, उतनी शक्ति उपस्थित नहीं रहती है, तो बाह्यजगत् की शक्ति बिना किसी अवरोध के अन्तःकरण के भीतर प्रवेश कर जाती है। इसके पूर्व कि व्यक्ति उसे संबद्ध करके बहिर्गत करने के लिए पर्याप्त शक्ति एकत्र करे, वह विशृङ्खल शक्ति चित्त-यन्त्र में फैलने लगती है। उस समय उसका प्रतिरोध करने के लिए चतुर्दिक् से चित्त-यन्त्र की शक्ति क्षत के स्थल पर दौड़ती है। इसीलिए, क्षतजापस्मार में कुछ अवयवों का पक्षाघात हो जाता है। कहा भी है—

काश्चिन्नाड्यः प्रपूर्णत्वं यान्ति काश्चिच्च रिक्तताम्।

—अर्थात् कुछ नाडियाँ प्राण-शक्ति से भरपूर हो जाती हैं और कुछ उससे शून्य होती हैं। किन्तु, देर होने के कारण एकत्र चैत्त शक्ति विशृङ्खल शक्ति को पूर्णरूपेण बद्ध नहीं कर पाती है। अतएव, जब इन्द्रियाँ प्रसुप्त होती हैं, अर्थात् जब चित्त-यन्त्र पर बाह्य संवेदनाओं का बल घट जाता है, तब स्वप्नावस्था में वही चित्तस्थ विशृङ्खल शक्ति पुनः-पुनः आवृत्त होती है। उस विशृङ्खल-शक्ति को अहंकार ही आवृत्त करता है। अहंकार चाहता है कि वह उस स्थिति को बार-बार आवृत्त करके उसे बाँध ले। इसी प्रकार की चैत्त क्रिया अन्य पुनरावृत्तियों में भी पाई जाती है। बच्चे अपनी दुःखद घटनाओं को इसीलिए पुनरावृत्त करते हैं कि वे उन्हें संबद्ध कर सकें। इसका पता उनकी सामान्य क्रिया से चल जाता है। बच्चा एक ही कहानी को बार-बार उसी रूप में इसलिए सुनना चाहता है कि वह उस कहानी को अपनी स्मृति में अंकित कर ले, अथवा उस पर अधिकार जमा ले। प्रायः पुनरावृत्ति में दुःख-ही-दुःख होता है। जबतक अहंकार उसे संबद्ध नहीं कर लेता, तबतक चित्त-यन्त्र में सुखतत्त्व कार्यशील नहीं हो सकता। अतः इस प्रकार के क्षतजापस्मार-जनित स्वप्न तथा अपदेशन-स्थिति की घटनाओं की पुनरावृत्ति में किसी इच्छा की पूर्त्ति नहीं हो पाती, प्रत्युत तृप्ति के न होने से दुःख की ही उत्पत्ति होती है। चित्त-यन्त्र में रहनेवाली विशृङ्खल-शक्ति को बाँध कर क्रिया में परिणत करने के उपरान्त ही सुख तत्त्व क्रियाशील हो सकता है। अतः विदित होता है कि सुख-तत्त्व के पूर्व ही पुनरावृत्तिधर्मक कोई शक्ति अवश्य है, जो अप्रत्यक्ष-रूपेण सुख-तत्त्व के लिए ही काम करती है, यद्यपि उस समय उससे दुःख के अतिरिक्त कुछ और नहीं मिलता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ कि पुनरावृत्ति एक विशिष्ट शक्ति से प्रचलित होती है। हमारा जीवन ही एक पुनरावृत्ति है। प्रत्येक क्षण जीव अपने अतीत अनुभवों को पुनरावृत्त करता रहता है। प्रत्येक क्रिया में उसके पूर्व की क्रियाओं की पुनरावृत्ति होती है। वर्तमान भूत का शिशु है अथवा भूत बीजरूपेण वर्तमान में रहता है,

अतः वर्त्तमान भूत का प्रतीक है। पुनरावृत्ति शक्ति को सिद्ध करने के लिए हम दूर न जाकर अपने को देखें। ध्यान से देखा जाय तो विदित होगा कि हम आज वही देखते हैं, जिन्हें हमने पूर्व ही देखा है। हमारा ज्ञान अतीतानुभूतियों पर निर्भर करता है। संसार में कोई नवीनता नहीं है। संसृति एक चक्र है, जिसमें दीर्घकाल के उपरान्त वही घटनाएँ पुनरावृत्त होती हैं। काव्य-पुराणादि में युग, कल्प आदि का जो वर्णन मिलता है, उसका कारण यही है। किन्तु, डॉ० फ्रायड ने इस शक्ति की सत्ता वैज्ञानिक परिशीलन से सिद्ध की। वे आरम्भ में आधियों को दूर करना चाहते थे और आनुषंगिक रूप में उन्हें 'जीवन' का अध्ययन करना पड़ा। उसी क्रम में उन्हें पुनरावृत्ति नामक शक्ति दिखाई पड़ी और फिर क्या था, वे उस शक्ति तथा जीवन के सम्बन्ध के प्रश्न पर विचार करने लगे। अब हम पुनरावृत्ति के कुछ पहलुओं पर विचार कर लें।

पुनरावृत्ति पशु-पक्षी, भ्रूण, अशना-पिपासा आदि में भी देखी जा सकती है। (१) कुछ मछलियाँ अण्डा देने के समय विशेष जलप्रान्तों की खोज में बहुत लम्बी यात्रा करती हैं और अपने वास-स्थान से दूर बहुत दूर कहीं किसी विशिष्ट जलप्रान्त में अण्डे देती हैं। कीटाणुवादी कहते हैं कि वे मछलियाँ एक समय उन्हीं जलप्रान्तों में रहा करती थीं, और अण्डा देने का समय समीप आते ही वे एक स्वाभाविक प्रेरणा के वश हो उन्हीं स्थलों में अण्डा देने के लिए अति दीर्घ यात्रा किया करती हैं। इसी स्वाभाविक प्रेरणा को वे 'वासना'[१] के नाम से पुकारते हैं। इसका वे कोई कारण नहीं बता सकते हैं। वे बस इतना ही कह सकते हैं कि उन जल-प्रान्तों में वे एक समय रहा करती थीं, इसीलिए वे वहीं फिर जाती हैं। इसको स्वाभाविक प्रेरणा के अलावा और क्या कह सकते हैं?

कुछ पक्षियों के विषय में भी यही बात देखी जाती है। कुछ पक्षी-विशेष किसी विशेष स्थान पर विशेष प्रकार से रहते हैं। कुछ विशेष पक्षी विशेष वृक्षों पर ही अपने नीडों का निर्माण करते हैं और वह भी विशेष प्रकार से ही। मछलियों की भाँति पक्षी भी विशेष-विशेष क्रिया के लिए दूर-दूर यात्रा करते हैं।

(२) मातृ-गर्भ में भ्रूण में भी ऐसी ही बात देखी जाती है। पितृ-वीर्य और मातृ-रज से कलल-द्रव्य के बनने पर वह एक अण्डे के रूप में धीरे-धीरे विकसित होता हुआ भ्रूण का रूप धारण करता है। इस क्रम में भ्रूण-स्थित जीव, जितने प्रकार की पूर्व योनियों में मानव-जाति घूम चुकी है, उन सभी का क्रम दुहराता है। वह विकसता हुआ जीव जिन-जिन रूपों में होकर मानव-जाति में विकसित हुई है, उन सभी रूपों को पुनरावृत्त करता है। इस प्रकार से कलल-द्रव्य मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह आदि रूपों से प्रकट होता हुआ क्रमशः मानव रूप धारण करता है।[२] कलल-द्रव्य के द्वारा कोई शक्ति कार्यशील होती है और स्वभावतः अतीत घटनाओं को सूक्ष्म-रूप में आवृत्त करती है।

१—**Instinct.**

२—मत्स्य, कूर्म, वराह आदि रूपों के ग्रहण करने का तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम जलचर तब उभयचर (जल-स्थलचर) तत्पश्चात् स्थलचर जीवों का विकास क्रमशः हुआ। ऐसा भारतीय मत है।

(३) आभ्यन्तर संवेदनाएँ अपने-आपको पुनरावृत्त करती हैं। जीवत्कोशिका के सदृश ही चित्त का उपरितल बाह्य संवेदनाओं से आभ्यन्तर तलों की रक्षा करता है, किन्तु आभ्यन्तर प्रवृत्तियों को बाँधनेवाला कोई रक्षक नहीं प्रतीत होता। इसी कारण, कुछ क्रियाओं द्वारा यथा—भागना, रोकना, छिपना आदि से व्यक्ति अपने को बाह्य संवेदनाओं से रक्षित कर सकता है। किन्तु, आभ्यन्तरिक प्रवृत्तियों से न तो वह भाग ही सकता और न छिप ही सकता। आभ्यन्तरिक प्रवृत्तियाँ बार-बार व्युत्थित होती हैं और अपने को पुनरावृत्त करती हैं। उदाहरणार्थ, इन भूख-प्यास आदि को लीजिए, जिनमें भी पुनरावृत्ति-शक्ति दिखाई पड़ती है, जबकि ये प्रवृत्तियाँ भी सम्बद्ध हो जायँगी, तभी व्यक्ति को चैन मिल सकता है। भूख की प्रवृत्ति एक बार तृप्त हो जाने के उपरान्त पुनः अपने को प्रकट करती है। काम की प्रवृत्ति के विषय में भी यही बात है। इसमें भी पुनरावृत्त होने का स्वाभाविक गुण दिखाई पड़ता है।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों से अभिव्यक्त हो जाता है कि सभी स्वाभाविक प्रेरणाएँ अपने को पुनरावृत्त करती हैं। इन स्वाभाविक प्रेरणाओं को डॉ० फ्रायड 'वासनाएँ' कहते हैं। वे लिखते हैं—

'वासना को, जीवात्मक द्रव्य को पूर्व-स्थिति में पुनः रखने में प्रेरित करनेवाली जन्मजात प्रवृत्ति कहा जायगा।'[१] यह निर्वचन अनूठा है। आजतक सभी वैज्ञानिक वासना का धर्म प्रवृत्त्युन्मुख एवं विकासोन्मुख ही मानते हैं। उनका कहना था कि वासना जीव को सदा आगे जाने के लिए प्रेरित करती है। सभ्यता, संस्कृति आदि सभी इसी वासना के पुरोगमन-स्वभाव के प्रतिफल हैं। इन्हीं वासनाओं के बल से व्यक्ति पूर्णता की ओर प्रवृत्त होता है। अतः उनका मत था कि वासनाएँ सदा परिवर्त्तन लानेवाली हैं। किन्तु, डॉ० फ्रायड का कहना विचित्र है। उनका कहना यही है कि वासनाएँ, वास्तव में, निवृत्तिमुखी हैं। वे प्रवृत्ति को फेंककर निवृत्ति की शरण लेने के लिए व्यक्ति को विवश करती हैं। उनका स्वभाव संवरणात्मक है। यदि विरोधी संवेदनाएँ न रहें, तो वासनाएँ व्यक्ति को पीछे की ओर ही ले जायँगी, उन्हें कालक्रम से कलल-द्रव्य (भ्रूण-पिण्ड) और जीव-द्रव्य[२] बना डालेंगी और इसी क्रम से अन्त में व्यक्ति को जडावस्था तक पहुँचा देंगी। किन्तु, बाह्य संवेदनाएँ उनके इस प्रयत्न को पूर्ण नहीं होने देती। वासनाओं का ध्येय मृत्यु की स्थापना करना है अथवा जाड्यावस्था (साम्यावस्था) उत्पन्न करना है, किन्तु संसार उसके मार्ग में कण्टकवत् है।

वासनाएँ परिवर्त्तन नहीं चाहतीं। सत्ता ही परिवर्त्तन है। अतः वासनाएँ सत्ता को ही नहीं चाहतीं। वे व्यक्ति को जडावस्था में ले जाने के लिए प्रयत्नशील रहती हैं। इस प्रकार के सिद्धान्त पर पहुँचने में डॉ० फ्रायड ने उसी बात पर ध्यान

१—'An instinct would be a tendency innate in living organic matter impelling it towards the reinstatement of an earlier condition.'

—*S. Freud : 'Beyond the Pleasure Principle,' p. 44.*

२—Protoplasm.

दिया, जिसपर अनेक दार्शनिकों ने बल दिया था। 'शरीर की उद्भूति मिट्टी से हुई और फिर वह मिट्टी में मिल जाता है' ऐसा ही दार्शनिकों का कथन था। पाश्चात्य देशों में भी अनेक दार्शनिकों का यही मत है कि सभी प्रयत्न जडावस्था को पाने के लिए ही किये जाते हैं। वही व्यक्ति का गम्यस्थान है, जहाँ पहुँचने पर उसमें किसी प्रकार का चांचल्य नहीं पाया जाता। प्रसिद्ध दार्शनिक विलिएम जेम्स ने कहा है—'संसार के सभी विषयों में अत्युत्तम बात है जन्म का न लेना, सूर्य प्रभा न देखना; इसके उपरान्त उत्तम है नरक (जगत्) के द्वारों से यथासम्भव पार हो जाना।[१] प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक नित्श्चे ने कहा है—

'अनित्य, दयनीय एवं क्लेश तथा संयोग की सन्तान (मनुष्य जाति), जिसे न सुनने में ही तुम्हारा सर्वोत्तम लाभ है, उसे तुम, मुझे क्यों विवश कर रही हो? जन्म न लेना, अस्तित्व न रखना, शून्य हो जाना—जो सर्वोत्तम है, वह तुम्हारे लिए सर्वथा अलभ्य है। किन्तु, उसके उपरान्त जो सर्वोत्तम है, वह है शीघ्र मर जाना।'[२]

सांख्य-दर्शन का भी कुछ ऐसा ही मत है। प्रकृतिलय ही परम ध्येय है। कहने का तात्पर्य यही है कि जीव का एक अंश जिसे सांख्य-दर्शन पुरुष कहता है, केवल वही रहेगा और प्रकृति-जन्य सभी विभेद नष्ट होंगे। प्रकृति तो अपनी स्वस्थिति में सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था में रहेगी। यही जडावस्था (साम्यावस्था) के प्राप्त होने पर द्वन्द्व-भाषा में व्यक्ति को 'नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेष' ज्ञान, अर्थात् 'न हूँ, न मेरा, न मैं', इस प्रकार का अपरिशेष पूर्णज्ञान उत्पन्न होगा। 'न संज्ञा अस्ति।' 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म।'

सांख्यवादियों का कहना है कि प्रकृति जड है और पुरुष उदासीन है। दोनों के संसर्ग से प्रकृति 'चेतनावदिव' हो जाती है और सृष्टि का प्रारम्भ करती है। दोनों के संयोग से ही सृष्टि होती है। एक शक्ति के साथ जड-द्रव्य के संयोग से भव उद्भूत होता है। डॉ० फ्रायड भी इसी प्रकार से कहते हैं। उन्होंने वासनाओं को संवरणात्मक ठहराया। सारी सृष्टि का संवरण वासनाओं के कारण हो जाता है। संसार में दो बातें देखी जाती हैं। एक चैतन्य और दूसरी भिन्नता। यदि वासनाएँ इन दोनों को पूर्ण रूप से संवरण कर लेंगी, तो चैतन्य जडावस्था (शान्तभाव) में परिणत हो जायगा; क्योंकि

१—"Best of all for all things upon earth is not to be born, nor to behold the splendours of the sun; next best, to transverse as soon as possible, the gates of Hades."

—*W. James: 'Varieties of Religious Experience.'*

२—"Miserable, ephemeral species, children of chance and of hardship, why do you compel me to tell you what is most profitable for you, not to hear? The very best is quite unattainable for you: it is, not to be born, not to exist, to be Nothing. But the next best for you is to die soon."

—*Neitzsche: 'The Birth of Tragedy,'* quoted by *Otto Rank*: *'The Trauma of Birth.'*

उसी चैतन्य से जड-द्रव्य भिन्न और चेतनवत् है। यदि संसार-विभ्रम को समझाना है, तो डॉ० फ्रायड के मत के अनुसार एक ही उपाय है और वह है वासनाओं के स्वभाव का परिज्ञान। वासनाएँ जड, शान्त एवं अद्वयावस्था के विना और किसी भी स्थिति को अपना गम्य-स्थान नहीं मानती। इस रीति से संसार-विभ्रम को समझाने के लिए डॉ० फ्रायड को एक शक्ति माननी पड़ी। इस प्रकार की विवेचना करना दार्शनिक का काम है। और, डॉ० फ्रायड भी गवेषणा करते हुए दार्शनिक विचार करने लगे। बात भी यथार्थ है; क्योंकि विना दर्शन एवं अध्यात्मशास्त्र के आधिभौतिक शास्त्रों को हम पूर्णतया नहीं समझा सकते। शरीर आत्मा का मूर्त्तस्वरूप-मात्र है, भिन्नता अव्यक्त आत्मा या शक्ति के अभिव्यक्ति-क्रम में उत्पन्न हुई। अतः भिन्नता से प्रपूर्ण किसी भी वस्तु का मर्म विना उसकी योनि की चर्चा के एवं विना अध्यात्म के नहीं समझाया जा सकता है।

डॉ० फ्रायड द्वैतवादी हैं। सांख्य-दर्शन के अनुरूप वे एक शक्ति और एक द्रव्य को मानते हैं। उनका कहना है—

'जीवन का लक्ष्य मरण है। चेतन के पूर्व जड था। एक न एक समय, शक्ति की किसी क्रिया से जो हमारी बुद्धि को अब भी चकित कर रही है, जड-द्रव्य में जीवन के धर्म उत्पन्न हुए।'[१] योगवासिष्ठकार भी इसी प्रकार के मत का प्रकाशन करता है—

जीवितं मरणायैव बत माया-विजृम्भितम्।
आपदः संपदः सर्वाः सुखं दुःखाय केवलम्॥

—अर्थात् जीवन मरण के लिए है। वह माया-विजृम्भित है।

अब निम्नलिखित प्रश्न अवश्य पूछे जा सकते हैं—'यदि जीवन मरण के लिए है, मरण ही सभी का गम्य-स्थान है तथा जडावस्था ही सभी का ध्येय है तो किस प्रकार संसार-दृष्टि हुई? ये आकर्षण, विकर्षण, ये दुःख-ज्वालाएँ, सुख-दुःख-तत्त्व, वस्तु-तत्त्व आदि किस प्रकार से सम्पन्न हुए? यदि शून्यावस्था, जडावस्था (शान्तावस्था) ही सभी का प्राप्य है, जहाँ कोई संवेदना ही नहीं है, जिस जड-द्रव्य में किसी भी ऊर्मि का संचालन नहीं है, तो उस पर शक्ति का प्रकोप क्यों हुआ और वह इन रूपों में, इन नामों में क्यों अभिव्यक्त हुई? जड-द्रव्य क्यों चेतनवत् हुआ? जीव माया में क्यों फँसा?' इस प्रकार के प्रश्न हठात् निकल पड़ते हैं। पुनः प्रश्न उपस्थित होता है—'जब हमने व्यक्त की सभी बातों को समझाने के लिए शक्ति और शक्य का सहारा लिया, जब हमने उनकी सत्ता सिद्ध करने का प्रयत्न किया तो तर्क ने सहायता दी; किन्तु उन दोनों से संसार-दृष्टियों को निष्पन्न करने का बीड़ा हम क्यों उठाते हैं?'

१—'The goal of all life is death.' The inanimate was there before the animate.'

"At one time or another, by some operation of force, which still completely baffles conjecture, the properties of life were awakened in lifeless matter."

—*S. Freud* : '*Beyond the Pleasure Principle.*' *p.* 47.

इस प्रकार का प्रश्न विषम रूप धारण करके उपस्थित होता है। डॉ० फ्रायड इसके उत्तर में यही कहते हैं—अनुमान-शक्ति इस प्रश्न के सामने चकरा जाती है। सांख्यवादी भी इसका उत्तर नहीं देते हैं। दूसरे लोग इसे उसका स्वभाव कहते हैं।

ब्रह्मणः स्फुरणं किंचिद्यदवाताम्बुधेरिव।
दीपस्येवाप्यवातस्य तं जीवं विद्धि राघव॥

स्वाभाविकं यत्स्फुरणं चिद्व्योम्नः सोऽङ्गजीवकः।[1]
कदाचित् ब्रह्मसत्ताया व्यभिचारोऽनुमीयते॥
चित्तमाकाशकोशे च नान्यथा नियतेः स्थितिः।[2]

अवाताम्बुधि, अर्थात् शान्त समुद्र में जिस प्रकार का स्फुरण होता है, उसी के समान ब्रह्म का जो स्फुरण हुआ, वह जीव है। उस स्फुरण की तुलना हम वायु-रहित दीप-शिखा के स्फुरण से कर सकते हैं। चिदाकाश का स्वाभाविक स्फुरण ही जीव है। यह एक विचित्र बात है। कभी किसी कारण से ब्रह्म-सत्ता में व्यभिचार हुआ, नहीं तो नियति समझाई नहीं जा सकती है। शक्ति और शक्य के सम्बन्ध एवं द्वन्द्व का अस्तित्व ही सृष्टि के कारण कहे जाते हैं, किन्तु दोनों का सम्बन्ध क्यों हुआ, यह कोई नहीं बताता। पदार्थ-विज्ञान के सृष्टि-सम्बन्धी आधुनिकतम सिद्धान्त की भी यही बात है। उसकी क्वॉटम-सिद्धान्त (Quantum theory) का कहना है कि समावयव (Homogeneous), निरवच्छिन्न (Continuous) एवं एक चतुर्धारा, अथवा चतुर्वैम (Four dimensions) से युक्त सत्ता में कभी-कभी किसी स्थान पर शक्ति-सञ्चय हो जाता है, और उस क्षोभ से, उस शक्तिपात से शक्ति-युक्त अणु (Quantum) बन जाता है। तदुपरान्त भिन्नता आरम्भ हो जाती है, पदार्थ बनते हैं; और सृष्टि की विचित्र लीला का प्रारम्भ होता है। पर, एक अवच्छेदरहित, समावयव-सत्ता में किस प्रकार इस अवच्छेद का उदय हुआ, इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।

डॉ० भगवान दास ने स्वभाव कहकर इस प्रश्न का उत्तर दिया है। उनका कहना है—ब्रह्म का स्वरूप है—'अहम् एतत् न'—'मैं यह नहीं'—एक बार स्वीकरण—(मैं एतत्), एक बार परिहरण (मैं एतत् न)—यही स्वभाव है। सभी दार्शनिकों को यह समस्या बहुत ही दुरूह और तर्क-अनवगाह्य प्रतीत हुई। इसका कारण यही है कि इन सभी लोगों ने सृष्टि का मर्म समझाने का प्रयत्न किया। वास्तव में, संसृति-चक्र अनादि है। संसार की सृष्टि कभी हुई नहीं। वह अनादि और अनन्त है। वह संसार है। सदा परिणामशील है। सदा परिवर्त्तनशील जगत् की सृष्टि ही विरुद्ध बात है। इसी विरोध के आश्रय पर ईश्वर आदि की सत्ता मानी गई; क्योंकि सृष्टि जब मान ली जाती है तब सृष्टि करनेवाले को भी मानना पड़ता है। वास्तव में सृष्टि नहीं है; अतः सृष्टि करनेवाला ईश्वर ही मिथ्या है। मिथ्या का मूल कारण ढूँढ़ना ही

१—योगवासिष्ठ : उत्पत्ति-प्रकरण, ६४.६
२—वही : ६२.१३

निरर्थक है, क्योंकि मिथ्या मिथ्या है और कारण किसी सत् वस्तु का होता है। अस्तु; श्रीपाल ज्यसन ने भी ऐसा ही व्यक्त किया है।[१]

डॉ० फ्रायड ने भी अन्य आचार्यों के समान सृष्टि को अनादि मानते हुए भी उसके आदि को समझाने का प्रयत्न किया। इस बात का परिशीलन तो हो नहीं सकता है, क्योंकि सृष्टि तो हुई ही नहीं, उसे न किसी ने देखा है और न सुना है। अतः अज्ञान के कारण उसका अनुमान किया जाता है।

डॉ० फ्रायड का कहना है कि प्रारम्भ में जड-द्रव्य ही था। किसी शक्ति के कारण उसमें प्रचलन हुआ और वह चेतनवत् हो गया और उसी से सृष्टि का प्रारम्भ है। उस शक्ति-पात के कारण जड-द्रव्य में दो प्रकार की क्रियाएँ हुईं—एक क्रिया और दूसरी प्रतिक्रिया। क्रिया उस जड-द्रव्य को निरन्तर परिवर्त्तन की ओर प्रवृत्त करती है और प्रतिक्रिया उस द्रव्य को पुनः जडावस्था की ओर ले जाने में तत्पर रहती है। क्रिया में शक्ति-पात के कारण जो क्षोभ हुआ उस क्षोभ को बहिर्गत करना ही क्रिया का उद्देश्य है। अतः वह भी एक प्रकार से प्रतिक्रिया की सहायक है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ वासनाएँ कही जाती हैं।

सुख-दुःख की मीमांसा भी इसी शून्य एवं चेतनारहित स्थिति का परिचय कराती है, क्योंकि जब उस जड-द्रव्य पर किसी शक्तिपात का प्रसरण नहीं हुआ था, तब उसमें न सुख की वेदना हुई होगी, न दुःख की। वह उदासीन रहा होगा। सुख और दुःख के बीच में जो अवस्था पाई जायगी, वह न तो सुख है और न दुःख। कहा भी गया है—

> यथा शीतोष्णयोर्मध्ये भवेन्नोष्णं न शीतता।
> एवं वै सुख-दुःखाभ्यां हीनमस्ति पदं क्वचित्॥
> वेद्यं यच्चात्र निर्दुःखं असुखं च नराधिप।
> ताभ्यां हीनं पदं चान्यन्न तदस्तीति लक्षये॥

—अर्थात् जिस प्रकार से शीत और उष्ण की मध्यावस्था में न उष्णता रहेगी, न शीतता; उसी प्रकार से कोई अवस्था अवश्य रहती है जो न सुख है और न दुःख। वह होगी निर्दुःख और असुख की अवस्था। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक टिचनर ने भी एक ऐसा ही स्थान मान लिया है जिसे वे एक केन्द्र में खींची गई एक रेखा से व्यक्त करते हैं। उस रेखा से कुछ सीमा तक दूर एक ओर जायँ जो दुःख होता है और एक सीमा तक दूसरी ओर

१—"There where there is no longer a where,—therefore, here, everywhere and again nowhere,—then when there is no longer a when,—therefore now, in all eternity and again at no time—was, is, and will be the will...and besides it nothing. × × × 'Now there was formal,—not at any time, but before all eternity, to-day and for ever—like an inexplicable clouding of the clearness of the heavens, in the pure, painless, and will-less bliss of denial a morbid propensity—a sinful bent."

—*Paul Denssen : 'The Elements of Metaphysics,' p. 129.*

जायँ तो सुख होता है। इसी मध्यावस्था को वे रागात्मक उदासीनता का स्थल[1] कहते हैं। किन्तु, इस उदासीन स्थिति का स्थायी अनुभव व्यावहारिक जीवन में नहीं होता। जिस स्थिति को हम राग-द्वेष-विहीन बतायेंगे अथवा निर्दुःख और असुख बतायेंगे, उसमें भी स्वल्पातिस्वल्प मात्रा में या तो दुःख होगा या सुख, अस्तु।

इन सभी बातों से हमें विदित हुआ कि वासनाएँ और उनके अनुषंग (साहचर्य) में होनेवाली सुख-दुःख की संवेदनाएँ जडावस्था अर्थात् साम्यावस्था को लाने का यत्न करती हैं; क्योंकि वह उनकी योनि थी और वे उसी स्थिति की पुनरावृत्ति करना चाहती हैं। 'सदेव सौम्य इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्', यदि यह बात ठीक है कि आदि अवस्था जड है और शान्त है, यदि वासनाओं की प्रवृत्ति उसी स्थिति को सम्पन्न करने के लिए होती है तो प्रतीत होता है कि मृत्यु भी एक वासना ही है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष बात है कि मृत्यु जडावस्था को लाती है। मृत्यु के उपरान्त मनुष्य की चेतना-शक्ति लुप्त सी हो जाती है और वह जडावस्था एवं स्पन्दहीनता को प्राप्त होता है। क्या, सचमुच, मृत्यु भी एक वासना है? मिट्टी (जड) से शरीर उत्पन्न हुआ और मृत्यु शरीर को मिट्टी (जड) में पुनः मिला देती है। क्या मृत्यु वासना है?

वासना आन्तरङ्गिक है, अतः यदि मृत्यु एक वासना है तो उसे भी आन्तरङ्गिक मानना पड़ेगा। वासना प्राग्भवीय है और जनक-जननी के शुक्र एवं रज के साथ वह सन्तान को प्राप्त होती है। अतः मृत्यु भी प्राग्भवीय होनी चाहिए और वह भी शुक्र-रज के साथ सन्तान में संक्रान्त होती है। जन्म में मरण है। उत्पत्ति में बीजरूपेण मरण है। मनुष्य मर्त्य है। उसका धर्म ही मरण है। वासना प्रत्येक क्रिया को रंजित करती है। मृत्यु भी प्रत्येक क्रिया को अपनी छाया से आवृत्त करेगी। एक समय वासना थी ही नहीं। वह ज्ञात रूप से संवेदना के रूप में थी। अतः मृत्यु को भी ऐसा ही मानना पड़ेगा।

उपर्युक्त उक्तियाँ आश्चर्यजनक मालूम होती हैं; किन्तु यदि उनका परिशीलन किया जाय तो विदित होगा कि ये सभी कीटाणुशास्त्र से निरूपित हैं। अब हम कीटाणु-शास्त्र की एक सुन्दर चर्चा उपस्थित करते हैं। इस चर्चा का एकमात्र उद्देश्य है यह देखना कि मृत्यु आन्तरङ्गिक कारणों से होती है कि नहीं। यदि यह निरूपित हो जाय कि मृत्यु के कारण आन्तरङ्गिक नहीं हैं, तो मृत्यु को वासना कहना अनुचित होगा। इतना ही नहीं, इसके फलस्वरूप वासना के निर्वचन में वासना की पुनरावृत्ति-शक्ति के रहने में भी शंका उपस्थित होगी। डॉ० फ्रायड का कहना है कि प्रथम जीव-जगत् में एककौशिक[2] जीव रहते रहे होंगे जो उत्पत्ति के कुछ क्षणों में ही मर जाते रहे होंगे, क्योंकि उनमें मृत्यु-प्रकृति पाई जाती है। वह मृत्यु-प्रकृति उसी स्थिति को लाना चाहती रही होगी जो एक बार थी और फिर विनष्ट हो गई। इस प्रकार से अनेक बार हुआ होगा। कालान्तर में उस जीवित कोश को मरने से रोकनेवाली बाह्य परिस्थितियाँ उपस्थित हुई होंगी। सूर्य आदि की शक्ति के कारण वह एक-कौशिक जीव नहीं मर सका;

१—*The Land of Aesthetic Indifference.*

२—**Unicellular.**

क्योंकि मृत्यु-प्रकृति की प्रभुता होने के पूर्व आगन्तुक संवेदनावेग को दूर करना पड़ेगा। सूर्य-रश्मियों के स्पर्श के पूर्व वह जीवित कोश आप-ही-आप शीघ्र उत्पन्न होता था और आप-ही-आप मर जाता था, लेकिन अब उसे मरने से रोकनेवाली बाह्य-शक्तियाँ उपस्थित हुईं। उसे अपने उद्देश्य अर्थात् पूर्वावस्था-प्राप्ति को, अन्य विघ्नों के रहने हुए पूरा करना था। इसी प्रयत्न से सारे सांसारिक जीवन की निष्पत्ति हुई है। जीवन संग्राम-संकुल ही आगे बढ़ता है और संग्राम का अन्तिम उद्देश्य है मरण-प्राप्ति अर्थात् जड हो जाना अथवा शान्त हो जाना। मृत्यु के मार्ग में जीव अपने स्वयं निर्णीत मार्ग पर चलते हैं। शीघ्र ही जडावस्था लानेवाली कोई परिस्थिति उपस्थित हुई, तो जीव उसका विरोध करता है, क्योंकि जीव अपने ही मार्ग से मरना चाहता है। मातृगर्भ में भ्रूण शिशु-स्वरूप को ग्रहण करने के पूर्व उन सभी रूपों को ग्रहण करता है, जिनमें से वह विकास-क्रम में हो आया है। इस प्रकार से अतीत रूपों का धारण करना अनावश्यक है। किन्तु, कलल द्रव्य उसी मार्ग से विकसित होकर शिशुरूप ग्रहण करता है। इसी उदाहरण से हम समझ सकते हैं कि जीव क्यों अपने निर्णीत मार्ग से ही मरना चाहता है और अन्य संवेदनाओं का विरोध करता है। दोनों में भेद इतना ही है कि भ्रूण के विषय में पुनरावृत्ति का क्रम प्रारम्भिक रूप से ही होता है और विकास की ओर जाता है, और मृत्यु-वासना के विषय में प्रारम्भ की ओर पुनरावृत्ति होती है। इस प्रकार की मृत्यु आन्तरङ्गिक कारणों से ही होती है। कुछ कीटाणु-शास्त्रविद् कहते हैं कि जीव अपने बाहर रहनेवाली परिस्थितियों के कारण मरता है और कुछ लोगों का कहना है कि मृत्यु के बीज शरीर में उत्पत्ति से ही रहते हैं; और व्यक्ति उसी मृत्यु-बीज के कारण मरता है। डॉ० फ्रायड ने कुछ कीटाणु-शास्त्रियों के मतों पर प्रकाश डाला है। और, हम यहाँ उन्हीं की चर्चा करना चाहते हैं। कई कीटाणु-शास्त्रियों ने मरण की प्रकृति को जानने का प्रयत्न किया है। उनमें बीजमैन और वुड्रोफ के प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं। बीजमैन प्रत्येक जीव के दो भाग मानते हैं— (१) अधिष्ठान (शरीर) और (२) बीज-द्रव्य। बीज-द्रव्य नहीं मरता है। वह परम्परा से एक से दूसरे को प्राप्त होता रहता है। अतः वह अमर है। माता और पिता के शरीर का अवसान तो हो जाता है, किन्तु उसमें से जो रज एवं शुक्र नामक बीज-द्रव्य शिशु को प्रदत्त किया जाता है वह चलता रहता है। अथवा यह कहा जा सकता है कि वह बीज-द्रव्य अपने लिए नवीन शरीर ग्रहण करता है। उस शरीर का भी नाश होता है, किन्तु मरण के पहले उस शरीर का द्रव्य किसी शिशु को प्राप्त हो गया रहता है। इस प्रकार से बीज-द्रव्य अमर रहता है और वह अनेक परम्परा में जीवित रहता है। बीजमैन के मतानुसार मृत्यु जन्म-सिद्ध नहीं है। वह सम्पादित आगन्तुक है। बीजमैन के मत के अनुसार एककौशिक जीव मरते नहीं। जब एककौशिक जीव बहु-कौशिक बनता है, तभी उसमें मृत्यु के अंकुर उत्पन्न होते हैं।

एककौशिक जीव के विषय में बीजमैन ने जो मत प्रकट किया उसकी परीक्षा में एक अमेरिकी वैज्ञानिक श्री वुड्रोफ प्रवृत्त हुए। वुड्रोफ महोदय ने एक जीव (जिसमें द्विधा होने से अलग जीव उत्पन्न होता है और वह स्वयं नष्ट नहीं होता है) लिया

और उसे स्वच्छ जल में छोड़ा। वह द्विधा हो गया। उन्होंने पुनः उनमें से एक को लेकर स्वच्छ जल में छोड़ा। इसी प्रकार वे उत्पन्न दो भागों में से एक-एक को स्वच्छ जल में छोड़ते गये। उन्होंने देखा कि प्रथम जीव की ३०२९वीं संतान स्वच्छ जल में उतनी ही फुर्ती और वेग से बढ़ती थी, जितनी से उसका पूर्वज प्रथम जीव। इससे वुड्रोफ ने अनुमान किया कि एककौशिक जीवों में मृत्यु नहीं पाई जाती और वह संप्राप्त प्रवृत्ति है। जब जीव बहुकौशिक हुआ तब प्रथम जीव की किसी प्रकार की आवश्यकता नहीं रही, क्योंकि उसके बीज-द्रव्य ने दूसरे जीव को उत्पन्न किया और इस प्रकार से उसकी पूर्व-उद्भूति सार्थक हुई। उसकी संतान उसकी जाति के क्रम को चलाती रहेगी। अतः अब अपनी सत्ता की उसे कोई आवश्यकता नहीं रही, और इसी कारण वह अपनी मृत्यु को प्राप्त हुआ।

किन्तु मौपस, कैलकिन्स आदि अन्य वैज्ञानिकों ने दूसरा ही मत प्रकाशित किया। उन्होंने कहा कि एककौशिक जीवों के आपस में मिलने से और बार-बार स्वच्छ जल में रखे जाने से उनमें नवीन शक्ति उत्पन्न होती है जो उनको दीर्घकाल तक जीवित रखती है। यदि बाह्य जगत् से किसी प्रकार की सहायता न मिले और यदि द्विधा होने के बाद उनमें से किसी को स्वच्छ जल में न रखकर उसी पुराने जल में छोड़ें तथा दूसरे जीव से नहीं मिलने दें, तो वह कुछ दिनों के अनन्तर बलहीनता के लक्षण दिखाने लगता है और अन्त में मर जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जल में उनके शरीर से जो द्रव्य आदि छूटते हैं वे ही उनके मरण के कारण हैं। इस मत से मरण आन्तरंगिक कारण से होता है।

उपर्युक्त चर्चा से दो बातें स्पष्ट होती हैं—(१) एककौशिक जीव भी अपने आंतरंगिक उष्णता[१] आदि के कारण मरता है तथा (२) जब दो जीव मिलते हैं तो दोनों में नवजीवन और उत्साह के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। इन्हीं लक्षणों को अन्य वैज्ञानिकों ने अन्य उत्तेजनाओं से उत्पन्न किया। अतः सिद्ध होता है कि कोई भी जीव अन्य विषयों से मिलता है तो उसमें एक नवीन उत्साह उत्पन्न होता है। यदि वह अकेला छोड़ दिया जाय तो उसमें उत्साह नहीं रहेगा। 'एकाकी न रमते।'

इस प्रकार से डॉ० फ्रायड का यह सिद्धान्त, कि मृत्यु और जीवन सहचर एवं सहभुव है, उचित ही सिद्ध हुआ। इसी आविष्कार के ऊपर डॉ० फ्रायड ने वासना-सिद्धान्त को खड़ा कर दिया।[२] वासना तो पुनरावृत्ति-शक्ति है और वह जीवन के साथ ही उद्भूत है। वासनाओं की प्रवृत्ति के स्वभाव को ध्यान में रखकर डॉ० फ्रायड

१—Metabolic heat.

२—इस सिद्धान्त से सृष्टिवाद पर प्रकाश पड़ता है, अर्थात् नाना, द्वैत आदि का अनस्तित्व सिद्ध होता है, यथा—'नेह नानास्ति किंचन', क्योंकि जीवन के साथ ही मरण सहचर एवं सहभुव होने के कारण, जहाँ-जहाँ जन्म है, वहाँ-वहाँ ही मृत्यु है; द्वैत एवं नाना नहीं हैं; हैं केवल अद्वैत, ब्रह्म एवं शून्य,—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'सर्वं शून्यम्'। और, यह जन्म-मृत्यु, प्रवृत्ति-निवृत्ति, हाँ-नहीं, विधि-निषेध का भवचक्र माया-मरीचिका है।—ले०

उनका भेद करते हैं —(१) मिथुन-वासना और (२) अहंकार-वासना, जिन्हें वे दूसरे नाम से भी पुकारते हैं—(१) जीवन-वासना और (२) मृत्यु-वासना।

अहंकार-वासना का ध्येय है मृत्यु को उत्पन्न करना, जहाँ किसी प्रकार का चांचल्य नहीं पाया जाता। प्रायः लोग अहंकार को रक्षा-हेतु ही समझते हैं। अहंकार से ही शरीर की रक्षा होती दिखाई देती है। उसमें जीव को हानि पहुँचानेवाला कोई गुण नहीं है। वह सदा पुरोभिवृद्धि का मार्ग खोजता है। लेकिन सच बात तो यह है कि वह जीव का मरण अपने ही ढंग से लाना चाहता है। उसमें जब बाह्य घटनाएँ बाधा पहुँचाती हैं तो अहंकार उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया करने लगता है, जो स्थूल दृष्टि से सुख-तत्त्व के लिए प्रकट होती है। सच्ची जीवन-वासना तो मिथुन-वासना है। उसकी उद्भूति दो जीवों के मिलने से होती है। वह आकर्षणात्मक है। दो के मिलने से नवीन उत्साह उत्पन्न होता है। दो एककौशिक जीवों के मिलने से दोनों में जीवन-शक्ति विकास पाने लगती है। एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने विद्युत्-शक्ति से मातृ-बीज में विभाग उत्पन्न किया है। इससे प्रतीत होता है कि दो जीवों के मिलने से सुखात्मक संवेदना प्राप्त होती है। इस प्रकार का मेलन मृत्यु-वासना को कुछ शिथिल कर देता है। युवक के मन में संसार-विरक्ति होने पर माता-पिता समझते हैं कि युवक के विवाह होने से सब ठीक हो जायगा।

अब स्पष्ट हो गया कि जीवन तथा मरण को उत्पन्न करनेवाली वासनाओं में विशेष अन्तर नहीं है। दोनों प्रकार की वासनाएँ प्रत्येक जीव में एवं प्रत्येक अणु में, काम कर रही हैं। एक मरण के लिए जीवन की रक्षा करना चाहती है, और दूसरी जीवन के लिए जीवन की रक्षा करना चाहती है। एक निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति का आश्रय लेती है और दूसरी प्रवृत्ति के लिए ही प्रवृत्ति को स्वीकार करती है। एक मोक्ष के लिए शान्तावस्था के लिए प्रवृत्त होती है और उसी के लिए अशान्ति को, दुःख, सुख एवं बन्ध को ग्रहण करती है, तो दूसरी उसी के लिए उसी का ग्रहण करती है। कहा भी है—'वैराग्यसाधने मुक्तिः।' अहंकार जीव और बन्ध के द्वारा मोक्ष की कामना करता है। वह दूसरी प्रवृत्ति अर्थात् मिथुनानन्द के मार्ग से अद्वयावस्था को पाना चाहता है। दोनों में स्वभाव की समानता है। दोनों प्रवृत्तियाँ एक ही स्थिति की अवस्था की पुनः स्थापना करना चाहती हैं। मिथुन-वासनाओं में पुनरावृत्ति स्पष्ट मालूम पड़ती है। एक बीज दूसरे को ग्रहण करता है और दूसरा भी कुछ सीमा तक बढकर पुनः बीजरूप बन जाता है। फिर वही बढ़ता है और बीजरूप हो जाता है। अतः मालूम पड़ता है कि पुनरावृत्ति की दृष्टि से दोनों में अन्तर नहीं है। अहंकार-वासनाओं में जो पुरोभिवृद्धि की प्रवृत्ति पाई जाती है, उसका कारण यह है कि अहंकार भी संसार में आकर्षणात्मक कार्य ही करता है। मिथुन-वासना और अहंकार-वासना एक दूसरे से मिलकर काम करती हैं। मरण लाने के लिए अहंकार-वासना को मिथुन-वासना पर निर्भर रहना पड़ता है, नहीं तो द्वन्द्व-जगत् में वह जीव की रक्षा नहीं कर सकती। वही अहंकारकर्त्ता बनकर मिथुन-शक्ति का भाण्डार हो जाती है। उसी से मिथुन-शक्ति बहिर्गत होती है और बाह्य जगत् में जब किसी प्रकार का विघ्न

उपस्थित होता है, तब वह निवृत्त होकर अहंकार-गत होने की चेष्टा करती है। वह मिथुन-शक्ति को स्वरूप में प्रकट नहीं होने देती; क्योंकि यदि मिथुन-वासना का वेग शीघ्र नष्ट हुआ, तो जीव शीघ्र जडावस्था को प्राप्त होगा; जो उसके लिए अभीष्ट नहीं है; क्योंकि मिथुन-शक्ति बाह्य-परिस्थिति के विरुद्ध है। अहंकार बिना किसी बाह्य प्रोद्वेलन के ही अपने मार्ग से मरना चाहता है, अतः वह अपने में रहनेवाली मिथुन-शक्ति को सर्वथा कार्योन्मुख नहीं होने देता और जहाँतक हो सके, उसकी रक्षा करने की चेष्टा करता है, ताकि उसकी सहायता से वह स्वेच्छा से रह सके। उस शक्ति के शुभ-नियुक्त होने पर पूर्णतया उसकी तृप्ति नहीं होती, अतः एक प्रकार की बेचैनी सदा बनी रहती है। चाहे जितनी शुभ-नियुक्ति हो, किन्तु व्यक्ति स्वभावतः वासनाओं को तृप्त करने की चेष्टा करता रहता है। और, इसी अतृप्ति के कारण वह तृप्ति की खोज में निकल पड़ता है। ज्यों-ज्यों वह तृप्ति के लिए आगे बढता है, त्यों-त्यों वह अतृप्ति अन्तर्हित होती जाती है। मिथुन-वासनाओं की एक अन्य विशेषता भी है। वह सदा दूसरे पर आघात करना चाहती है। आकर्षण यहाँ तक बढ़ जाता है कि वह द्वन्द्व को नाश करने के लिए प्रयुक्त होता है। वह प्रिय-प्रिया की अलग-अलग भौतिक सत्ता नहीं चाहता। उन्हें वह अपने में लीन करना चाहता है। अतएव, गाढ प्रेम के आश्लेष को अदय-आश्लेष अथवा गाढालिंगन कहते हैं। उसमें पीडा देने की प्रवृत्ति देखी जाती है। क्या मिथुन-वासना का गुण दुःख देना भी है? मिथुन-वासना की इसी बात पर एडलर महोदय ने कहा है कि स्त्री के साथ पुरुष इसलिए सम्भोग करता है कि वह उसे वश में कर ले, किन्तु ऐसी बात नहीं है। वास्तव में, आनन्द-भोग के लिए, अलग सत्ता को भूलने के लिए होता है। यह बात ठीक है कि दुःख देने की शक्ति मनुष्य में पाई जाती है, किन्तु स्त्री के साथ सम्भोग करना उसको वश में करने की इच्छा पर निर्भर है, यह बात ठीक नहीं है। व्यक्ति लोगों को अवश्य मार सकता है, किन्तु यह द्वेष का फल मालूम पड़ता है। द्वेष के पूर्व आकर्षण होता है। अतः मानना पड़ता है कि मिथुन में मेलन से एक नव-जीवन का उत्साह होता है। कहीं-कहीं द्वेष भी दिखाई देता है, किन्तु मिथुन-शक्ति उस द्वेष को अहंकार के हाथों सौंप देती है। जहाँ विकर्षण प्रकट होता है, वहाँ हम यह अवश्य मान सकते हैं कि अत्युत्कट-प्रेम अथवा आकर्षण अन्तर्निगूढ है। जय-विजयों ने रावण-कुम्भकर्ण आदि होना स्वीकार किया, क्योंकि विरोधी भक्ति में सदा इष्टदेव की रट लगी रहती है। हरिचरणों को पाने का सबसे सुलभ मार्ग उनसे द्वेष करना ही है। इसी कारण पुराणों में प्रतिकूल साधना को अनुकूल साधना से बलवत्तर सिद्ध किया गया है।

उपर्युक्त विवेचनों के उपरान्त संक्षेपतः हम कह सकते हैं कि यहाँ प्रथमतः जड (शान्त) पदार्थ में किसी अज्ञात शक्ति के कारण स्पन्द उत्पन्न हुआ, जो दो प्रकार से अभिव्यक्त हुआ। एक क्रिया के रूप में और दूसरा प्रतिक्रिया के रूप में। क्रिया के रूप में शक्ति बहिर्मुख होने का प्रयत्न करती है और प्रवृत्ति ही उसका धर्म बनती है। प्रतिक्रिया में, मूल-द्रव्य की जडता पाने में शक्ति काम करती है अथवा

वह निवृत्तिधर्मक हो जाती है। इनसे दो वासना-व्यूहों का पता चला—(१) मिथुन वासनाएँ और (२) मृत्यु-वासनाएँ। ये दोनों मिली-जुली रहती हैं। मृत्यु-वासनाएँ विकर्षणात्मक हैं; जीवन-वासनाएँ एवं मिथुन-वासनाएँ आकर्षणात्मक हैं। दोनों वासना-व्यूह अहंकार से क्रिया में परिणत किये जाते हैं। अहंकार जीवन-वासनाओं को अपनी अनुकूल क्रियाओं में लगाता है और जीवन को अतिक्रान्त करता हुआ मृत्यु (शान्तावस्था) को पाने की चेष्टा करता है।

क्या सचमुच जीवन और मरण की वासनाओं में भिन्नता है अथवा दोनों एक ही प्रकार की वासनाओं के दो मुख हैं? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर अभी नहीं दिया गया है। एक प्रकार से दोनों प्रकार की वासनाओं में भिन्नता मालूम पड़ती है। दोनों एक ही बीती हुई अवस्था की पुनःस्थापना करने का प्रयत्न करती हैं। जीवन-वासनाएँ तथा मिथुन-वासनाएँ दो भिन्न वस्तुओं, अणुओं एवं कोशों को मिलाती हैं। प्रतीत होता है कि वे सभी भिन्नताओं का नाश कर एक अद्वैत लाने की चेष्टा करती हैं। अद्वैत अवस्था तो प्रारम्भिक अवस्था ही थी। किसी विशेष शक्तिपात से वह पदार्थ अनेक अणुओं में विभिन्न हो गया होगा। मिथुन-शक्ति का काम ही है उनको पुनः मिलाना। जिस शक्ति के कारण दो भिन्न जीव एक होना चाहते हैं वह शक्ति काम-शक्ति ही है और उसकी अभिव्यक्ति मिथुन-वासनाओं के द्वारा होती है। जिस शक्तिपात के वेग से अद्वय-पदार्थ द्वंद्वात्मक हुआ, उसके उसी वेग को निकालकर उसे फिर निर्जीव बनाना ही मृत्यु-प्रकृति का काम है। इस प्रकार मिथुन-वासना में अभिव्यक्त होनेवाली शक्ति ही सभी भिन्नताओं को नाश करनेवाली प्रतीत होती है। किन्तु, आकर्षण एवं विकर्षण दोनों साथ-साथ रहते हैं। जहाँ आकर्षण नहीं रहता है वहाँ विकर्षण भी नहीं रहता। अतएव, मिथुन-वासना के साथ मृत्यु-वासना भी अथवा प्रवृत्ति की इच्छा के साथ निवृत्ति की इच्छा भी बनी रहती है। दोनों अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच में व्यक्ति का अहंकार यन्त्रारूढ रहता है। प्रथमावस्था में जब कोई अहंकार नहीं था और न चित्त-यन्त्र में ज्ञाताज्ञातादि भेद ही उत्पन्न हुए थे, तब सब वासनाओं की शक्ति सदा प्रकाश पाती थी। क्रमशः व्यक्ति के चित्त में अहंकार के आने से बाह्योन्मुख होनेवाली मिथुन-शक्ति अहंकार से लग्न होती है। इस प्रकार से अहंकार में अत्यधिक मिथुन-शक्ति आश्रय पाती है और उसी को स्वतोरति[१] की संज्ञा मिली है। इस अहंकार की प्रधानता धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। वही एक समय सारे चैत्त जीवन का प्रतिनिधि बन जाता है और बाह्य जगत् से सन्धि करना चाहता है; क्योंकि यदि वासनाएँ अपने स्वाभाविक स्वरूप में प्रकट होने लगे तो समाज के प्रतिरोध से जीव मरण को प्राप्त होगा। इसी बाह्य स्थिति को वस्तु-तत्त्व[२] कहा जाता है। अहंकार वस्तु-तत्त्व के अविरोध रूप से वासनाओं की तृप्ति चाहता है। वासनाएँ तृप्ति चाहती हैं। दोनों वासनाएँ एक ही स्थिति को लाने का प्रयत्न करती रहती हैं। इसी प्रयत्न में

१—Auto-erotism.

२—The Reality Principle.

दोनों के मार्ग भिन्न हैं। अतएव, संघर्ष होता है। व्यक्ति का जीवन एक संग्राम है। जीवन मरण के लिए है, दुःख शान्ति के लिए है, युद्ध शान्ति के लिए है। जो जीना चाहेगा, उसे पहले मरना सीखना होगा। भोग त्याग के लिए है। तन्त्र का कहना है—

भोगो योगायते सम्यग् दुष्कृतं सुकृतायते।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि ॥

संसार शक्ति का उन्मेष है। शान्ति युद्ध के मार्ग से होती है। शक्ति आकर्षण और विकर्षण दोनों में अभिव्यक्त होती हुई स्वस्थिति को प्राप्त होगी। आकर्षण और विकर्षण दोनों परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ने हैं, किन्तु दोनों एक ही शक्ति के दो उल्लास हैं। दोनों, सचमुच, एक-दूसरे के विरुद्ध नहीं हैं; क्योंकि उन्हीं से अन्त में, जीवन में शान्ति प्राप्त होती है। मृत्यु-वासनाएँ निवृत्ति पाने के लिए प्रवृत्ति का आश्रय लेती हैं, मिथुन-वासनाओं से मिलती हैं, और इस प्रकार दोनों एक-दूसरे की सहायता करती हुई अद्वय शान्तावस्था को लाने का यत्न करती हैं। मृत्यु-वासनाएँ जड-चेतन-रहित अवस्था को और मिथुन-वासनाएँ अद्वैतता को प्राप्त होती हैं। अफलातून आदि ने भी अद्वैत-प्राप्ति के लिए द्वैत का ग्रहण निर्देशित किया है। ज्यूस की इच्छा से सभी प्रकृति द्विधा की गई, ताकि दोनों फिर मिल सकें।[१] अद्वैत को पाने के लिए द्वैत का आश्रय लिया गया। बृहदारण्यकोपनिषद् का कहना भी कुछ ऐसा ही है—

आत्मैवेदमग्र आसीत्...स वै नैव रेमे तस्मात् एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वैधा पातयत्ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम् ।

—अर्थात् पूर्व आत्मा ही था। उसे आनन्द की प्राप्ति नहीं हुई। एकाकी रमण नहीं करता, अतः उसने द्वितीय की चाह की। स्त्री और पुरुष आलिंगन करने से

१—"Lovers who love aright will feel that no physical nearness can content them but what will content them they cannot say. 'Their soul', says Plato, 'is manifestly desiring something else; and what it is she cannot tell, only she darkly prophesies thereof and guesses it from afar. But if Hephaestus with his forging fire were to stand beside that pair and say: 'Is this what ye desire to be wholly one? to be together by day and night?—for I am ready to melt you together and to make you grow in one, so that from two ye shall become one only, and in this life shall be undivided, and dying shall die together, and in the under-world shall be a single soul;'—there is no lover who would not eagerly accept the offer, and acknowledge it as the expression of the unknown yearning and the fulfilment of the ancient need."

—*Plato: 'Symposium,' pp. 192–212.*

"Love is the energy of integration which makes a cosmos of the Sum of Things."

—*F. W. H. Myres: 'Human Personality and Its Survival of Bodily Death;' Longmans; 1907, pp. 84–85.*

जितने परिमाण के स्त्री और पुरुष हो जाते हैं वह इतना बड़ा था। उसने अपने इसी स्वरूप को दो में विभक्त किया जो पति और पत्नी के रूप में प्रकट हुआ।

अद्वैत को पाने के लिए द्वन्द्व को उत्पन्न करने की आवश्यकता हुई। यह अद्वैत-स्थिति ही निर्वाण है। और, निर्वाण मृत्यु तथा मिथुन-वासनाओं से प्राप्त होता है। मृत्यु-वासना में अतीव दुःख और मिथुन-वासना में अतीव सुख होता है। उच्छ्रिति में दोनों, अर्थात् सुख-दुःख की संवेदना नहीं रहती। वास्तव में, सुख-तत्त्व और निर्वाण में कोई अन्तर ही नहीं है। डॉ॰ फ्रायड ने भी ऐसा ही कहा है, जिसका तात्पर्य है कि 'चैत्त जीवन का प्रमुख स्वभाव है उत्तेजनाओं और संवेदनाओं को एक ही प्रकार की साम्यावस्था में रखकर सदा क्षोभ को विनष्ट करना। ऐसा सुख-तत्त्व के द्वारा हो जाता है।'[१] वास्तव में, सच्चा सुख है निर्वाण की प्राप्ति, जहाँ पर संसार-समर नहीं दिखाई पड़ता और जहाँ न मिथुन है, न द्वन्द्व है। निर्वाण परम सुख है। मरण ही परम शान्ति है। जहाँ भेद-ज्वालाएँ निर्वापित रहती हैं, वही शाश्वत निद्रा है। जब-जब क्षोभ निकल जाता है, व्यक्ति उसी परम शान्ति का आस्वादन करने लगता है। भय में आँखें मूँदकर उसी परम शान्ति के अजस्र स्रोत के द्वार का उद्घाटन करने में अनवरत प्रयत्न होते रहते हैं। क्षोभ निकालना सुख है, और उसके निकलने से उस परम शान्ति की अवस्था प्राप्तकल्प हो जाती है। अत्यधिक दुःख में ज्ञप्ति स्तम्भित हो जाती है, संवेदना का ज्ञान नहीं रहता है। ऐसी ज्ञप्ति मरणावस्था के समान है; क्योंकि दोनों में संवेदना का ज्ञान नहीं रहता है। परम सुख में भी यही बात होती है। घनक्षीब को शम प्राप्त होता है। आँसुओं से क्षोभ निकल जाता है, उसी से मृत्यु की अवस्था मालूम होने लगती है। अतएव, सुख और दुःख दोनों के आधिक्य में लोग आँसू बहाते हैं। निद्रा परम शान्ति देनेवाली है,[२]; क्योंकि क्षोभ का उसमें नाममात्र नहीं रहता है। वह तात्कालिक मरण ही है।

प्रक्षीणवासना निद्रा तुर्यशब्देन कथ्यते।[३]

× × ×

मूढं सुषुप्तमावस्थं त्रिभिर्हीनं मृतं भवेत्॥

१—"The ruling tendency of psychic life, perhaps of nerve-life altogether, is the struggle for reduction, keeping at a constant level, or removal of the inner stimulus tension (The Nirvana-Principle, as Barbara Low terms it)—a struggle which comes to expression in the pleasure principle."

—S. *Freud : 'Beyond the Pleasure Principle.'*

२—निद्रावस्थिति में चैतन्य का नाम 'स्वपिति' है—

'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सतासोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति।
तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्व ं ह्यपीतो भवति।'—बृहदारण्यकोपनिषद् : ८–१

—अर्थात् उस अवस्था में पुरुष अपनी स्वीयावस्था को प्राप्त होता है, इसीलिए वह 'स्वपिति' कहा गया।

३—योगवासिष्ठ : उत्पत्ति-प्रकरण : २२.७

यत्र चित्तं मृतं तत्र सत्त्वमेकं स्थिरं समम्।
तदेव योगिनः सर्वे यत्नात्संवादयन्ति हि॥[1]

—ज्यों-ज्यों व्यक्ति मरण के समीप (आसन्न) होता है, त्यों-त्यों वह परम शान्ति का आस्वादन करता है। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक क्षण में इसका अनुभव करता है। कुन्ती दुःख का, नित्य दुःख का, वर माँगती है। साधु करुणा को लुभावनी बताते हैं। भवभूति करुणा को ही रस मानते हैं। ऑस्कर वाइल्ड करुणा को सर्व-रस मूल बताते हैं, शेली के लिए दुःखद वाणी देनेवाले गीत ही सुमिष्ट हैं।[2] इसका कारण यही है कि उसमें व्यक्ति को अपनी वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है और वास्तविक सुख का बोध होता है। जितना अधिक दुःख होता है, हम उतना ही अधिक शान्ति के समीप आते हैं। गालिब ने कहा है—'दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना।' दुःख के मार्ग से शान्ति को पाना सुख-मार्ग से कहीं अधिक सरल है। प्रतिकूल साधना से मोक्ष-प्राप्ति अनुकूल साधना से कहीं सुलभ है। सुख और दुःख इसी मरण के सामीप्य और दूरी से समझाये जा सकते हैं। अतएव, सुकरात बार-बार अपने शिष्यों को मरण के लिए सन्नद्ध रहने के लिए उद्‌बोधित करते थे। वे कहते थे कि दार्शनिक का गम्य-स्थान मरण है। मोक्ष का रस बिना बन्धन के नहीं मिल सकता। सुख की रुचि दुःखी को ही हो सकती है। अभाव ही रसारस का निर्णय करता है। इस सम्बन्ध में पहले कही गई ऑस्कर वाइल्ड की यह उक्ति ध्यातव्य है—

जिसने कभी न खाई रोटी
दुश्चिन्ता में,
जो न कभी रोता रहता है
अर्द्धरात्रि में,
बाट नहीं जो जोह रहा है
कल की,
वह क्या जाने, भला तुम्हें
ओ मेरी स्वर्गिक शक्ति![3]

१—वही : निर्वाण, पूर्वार्द्ध : १२४.३८

२—We look before and after,
And pine for what is not,
Our sincerest laughter,
With some pain is fraught,
Our sweetest songs are those that tell of saddest thought.
—*P. B. Shelley : 'The Skylark.'*

३—Who never ate his bread in sorrow,
Who never spend the mid-night hours,
Weeping and waiting for the morrow,
He knows you not, ye heavenly powers.
—*Oscar Wilde : 'De Profundis', p. 50.*

सभी वासनाओं, सभी संसार-वैचित्र्य का मूल ध्येय वही शान्तावस्था का पाना है। जबतक वासनाओं का वेग है, तबतक मानव प्रवृत्ति-निवृत्ति-चक्र में एवं आकर्षण-विकर्षण-रूपी भव-पाश में बद्ध रहता है। किन्तु, अतीत में अनुभूत परम शान्ति की विस्मृति नहीं होती। जीव संसार की सभी यातनाओं के बीच में अपने जीवन-उद्देश्य को; अर्थात् उस परम शान्ति को स्मरण रखता है और स्पंद-से-स्पंद में होता हुआ, योनि-से-योनि में जाता हुआ निरन्तर संग्राम से भवपाश का खण्डन कर डालता है। वह समय आ जाता है जब उसके—

भिद्यते हृदयग्रंथिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

—अर्थात् उस परावर (कार्य-कारण-स्वरूप शान्तं शिवं अद्वैतमहमस्मि) के बोध से हृदय की ग्रंथियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, सभी संशय विकीर्ण होते हैं, सभी कर्मों का क्षय हो जाता है और व्यक्ति के हृदय में—

परे परिणतं ज्ञाने शिथिलीभूतदुर्ग्रहम्।
ज्योत्स्नाऽहीनस्फटिकवच्चेतः शीते विराजते॥[१]

—अर्थात् विषय-ज्वालाएँ निर्वापित होती हैं और व्यक्ति अपनी स्वस्थिति को पाता है तथा वह आत्माराम, आत्मक्रीड हो जाता है। तब जीव अपने परम सत्य, परम शिव, परम सुन्दर रूप को पहचान लेता है। उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। वह आप्तकाम, अकाम हो जाता है। वही मोक्ष है, वही शून्य है, वही निर्वाण है। ऐसी स्थिति में जीव का जीवत्व लुप्तप्राय हो जाता है। विश्व-समुद्र में जीव जल-विन्दु-लीन हो जाता है। उस समय न तो उसे राग है, न द्वेष, न सुख है, न दुःख—

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्...।[२]

१—योगवासिष्ठ : उपशम : ५,२४
२—माण्डूक्योपनिषद् : ७

उपसंहार

अपने को जानो, स्वीकार करो, वही हो जाओ

अपने में से बाहर निकल जाने की प्रवृत्ति में ही जीव का जीवत्व है। परन्तु, प्रत्येक क्रिया के साथ-साथ उसके समान और उससे विपरीत प्रतिक्रिया होती है, इसलिए प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ-साथ उतनी ही निवृत्ति का उदय होता है। इस भाँति प्रवृत्ति निवृत्ति, राग-द्वेष, हर्ष-शोक, बुभुक्षा-मुमुक्षा आदि द्वन्द्वों की अविरल धारा ही जीव का जीवन है। इसी प्रकार के द्वन्द्व के चक्रों के अवलम्बन से ही संसार का रथ नियत चल रहा है और जगत्-स्रोत बह रहा है। व्यावहारिक दृष्टि से यही है संसार का, जगत् का, भव का, जीवन का विचित्र रूप। यदि पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो यह विदित होगा कि क्रिया-प्रतिक्रिया के अविच्छेद्य सतत साहचर्य के कारण ज्यों-ज्यों क्रिया होती है, और प्रवृत्ति का उदय होने लगता है; त्यों-त्यों प्रतिक्रिया, निवृत्ति आकर उसे नष्ट कर देती है। सुतरां नित्य एक शान्त, प्रवृत्ति-निवृत्ति का अतीत केवल रह जाता है।

'तदेवावशिष्टः शिवः केवलोऽहम्', 'शान्तं शिवमद्वैतम्'।
'नेह नानास्ति किंचन',—'एकमेवाद्वितीयम्',—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'।

यही अध्यात्म का सार है। खुद खुद है, आप आप ही है,—और रहेगा;—अपने में से बाहर जाना अर्थहीन वाक्य है, भ्रम है, अज्ञान है, माया है, मरीचिका है। और इस माया, अज्ञान में फँसकर जीव अपनी स्थिति को भूल गया है, एक अज्ञात जीवन का बोझ बह रहा है। इसलिए उसे दुःख, अशान्ति भोगना पड़ता है। जीव अपने को जानकर भी नहीं जानता है। अपना घर छोड़कर वह प्रवास में घूम रहा है; उसे फिर अपने घर की ओर आना पड़ेगा,—और इसीलिए ही उसका सारा प्रयत्न है।

डॉ० फ्रायड का सिद्धान्त अध्यात्म-दृष्टि के अनुकूल है। उनके वर्णनानुसार आदि में एक अद्वय जडावस्था थी, जिसमें किसी अनिर्वचनीय कारण से शक्ति का स्फुरण हुआ।[१] इस शक्ति के स्फुरण से प्रवृत्ति-तत्त्व या जीवन-तत्त्व अथवा मैथुन-तत्त्व का उदय हुआ, जो (सब जड भिन्नताओं को मिलाकर) स्थूल रूप से एक अद्वय एवं शाश्वत स्थिति को प्राप्त करना चाहता है। उसके साथ-साथ निवृत्ति-तत्त्व या मृत्यु-तत्त्व, अथवा अहंकार-तत्त्व विपरीत दिशा की ओर चलकर द्वैत का नाश कर एक चेतनाद्वैत की स्थिति को प्राप्त करना चाहता है। यदि पहला 'आदान'-तत्त्व है तो दूसरा है 'हान'-तत्त्व। इन दोनों के बीच इनकी क्रीडा-भूमि है जीवन। मनुष्य अपनी

१—*Dr. Sigmund Freud : 'Beyond the Pleasure Principle', pp. 47, 54, 63.*

सच्ची स्थिति के विषय में जानकर भी अनजान बना रहता है। वह सदैव अपनी वास्तविक स्थिति से बाहर भागने की चेष्टा किया करता है।

मनुष्य एक अज्ञात जीवन बिता रहा है, जो इस जगत् के भीतर एक जगत्-सा है। पारमार्थिक दृष्टि से जिस प्रकार वह अपनी स्थिति से अथवा अपने राज्य से निकल पड़ा है और इस प्रकार निकल पड़ने से ही उसका अस्तित्व सम्भव हुआ है, उसी प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से भी वह सदैव अपनी स्थिति से बाहर जाना चाहता है। उसके जीवन के प्रत्येक अंग में यही क्रिया काम कर रही है। यह बहिर्मुखता व्यवहारतः उसका स्वभाव बन गई है।

मनुष्य के जीवन की क्रियाओं का साधन है, उसका अन्तःकरण अथवा मन, जिसे हम समष्टि-दृष्टि से माया, व्यष्टि-दृष्टि से मन कह सकते हैं। इस मन के भीतर ही मनुष्य के जीवन का रहस्य छिपा हुआ है। वह पूर्णतः इस मन को नहीं जानता; क्योंकि पूर्णतः नहीं जानने में ही उसका जीवन है। सुतरां क्षुद्र मनुष्य का क्षुद्र जीवन इस मन के एक क्षुद्र अंश को लेकर ही अपने क्षुद्र एवं क्षणिक सुख दुःख के आलोक-अन्धकार में चलते-चलते उसको ही अपना साधारण रूप समझ बैठा है। परन्तु, अपने को अस्वीकार करके रहना सम्भव नहीं है, अतः उसके भीतर नित्य एक बेचैनी, एक असन्तोष की अस्फुट आवाज उठती रहती है, जिससे उसमें सदा एक अभाव का बोध जग जाया करता है। उसे समझ में नहीं आता कि उसका अभाव कहाँ स्थित है। वह चञ्चल हो उठता है। वर्त्तमान में उसकी तृप्ति नहीं हो पाती, अतः वह आगे-पीछे देखता रहता है और इस प्रकार आशा और स्मृति के बन्धन में बँधा रहता है। एक रीति से वह सदा एक प्रकार से उत्क्षिप्त जीवन के बोझ से दबा रहता है। वह 'जो है, सो है' इसे स्वीकार करना नहीं चाहता, जो नहीं है, वैसा होना चाहता है, स्वधर्म को छोड़ परधर्म का ग्रहण करता है। वह भूल जाता है कि स्वधर्म तो अपना काम करेगा ही; क्योंकि उससे किसी को छुटकारा नहीं मिल सकता, तथापि इस स्वधर्म के अथवा स्व-प्रकृति के विरुद्ध चलने की प्रवृत्ति के कारण उसके भीतर घोर विरोध उत्पन्न होता है, जिससे मुक्त होने की अर्थहीन प्रचेष्टा करने के कारण वह स्वर्ग-नरक पाप-पुण्य, धर्माधर्म, ईश्वर-शैतान आदि के विचित्र मानस-माया-राज्य की सृष्टि करने लगता है और इस प्रकार स्वकृत माया-जाल में फँसकर स्वयं ही अशेष यन्त्रणा का शिकार बनता है। इस भाँति उसकी सारी कलाओं की सृष्टि हुई। समष्टि-दृष्टि से इस प्रकार का आन्तर विरोध रहने के कारण मनुष्य-समाज के सभी व्यक्ति इस कला-सृष्टि को अपनाते हैं। सुतरां वह सृष्टि स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक रूप धारण कर लेती है और उसमें निन्दा-भय की सम्भावना रह नहीं जाती। परन्तु, जब किसी व्यक्ति का यह आन्तर विरोध घोर रूप धारण कर लेता है, जिसके कारण व्यक्ति समष्टि-दृष्टि द्वारा शुभ-भाव से अपने विरोध का समन्वय नहीं कर पाता, तो उस समय उस विरोध से मुक्त होने के लिए, या तो वह, प्रवृत्ति या जीवन-तत्त्व की प्रबलता के कारण, समाज-बन्धनों को तोड़ अपनी तृप्ति ले लेता है, अथवा व्यभिचार कर बैठता है; अथवा निवृत्ति या अहंकार-तत्त्व की प्रबलता के कारण, एकाधिक आधि-व्याधियों का शिकार

बन जाता है। सुतरां साधारण मनुष्य में जो चञ्चलता दीख पड़ती है, उसी के आधिक्य से असाधारण मनुष्य में एक ऐसी अति-चञ्चलता का उदय होता है, जो उन्माद, अपस्मार, विस्मृति आदि रोगों में रूपान्तरित हो जाती है। अतएव, जीव अल्प या अधिक मात्रा में नित्य ही दुःख का भागी बनता रहता है। उसे यह भान होने लगता है—दुःख है, सब दुःख-ही-दुःख है। वह सोचने लगता है कि इस दुःख से, इस बेचैनी से, अथवा भीतर की इस अन्तर्दाह-जनित ज्वाला से कैसे तृप्ति अथवा परित्राण मिले। और निमज्जनोन्मुख व्यक्ति सम्मुख-स्थित भंगुर तृण की भाँति अनेक क्षुद्र वाद या मत की ओर झुकने लगता है। इसी रीति से अनेक सम्प्रदायों का उदय हो जाता है। परन्तु, उससे क्षणिक तृप्ति कभी कभी मिल जाने पर भी अन्त में, फिर उसी अन्तर्दाह, उसी मर्मन्तुद ज्वाला अर्थात् 'आगे कहाँ ?', 'ततः किम् ?' का ध्यान बना रहता है।

मनुष्य एक अज्ञात जीवन बिता रहा है; यही उसके दुःख के मूल में है। इस अज्ञात का मूल कहाँ है ? जब तक किसी व्याधि का मूल नहीं मिले, तबतक व्याधि का पूर्ण प्रशमन नहीं हो सकता। इस मानस-व्याधि का मूल कहाँ है ?

साधारण भाषा में पुरुष के साथ दो जगत् हैं—एक आन्तर, दूसरा बाह्य; अथवा एक व्यक्ति, दूसरा समाज; जिनको मिलानेवाला यन्त्र या करण है व्यक्ति का अन्तःकरण अथवा मन। इस अन्तःकरण में एक क्रियोन्मुखी शक्ति है जो अपने को प्रकाशित कर तृप्त होना चाहती है। इसी सहज क्रियोन्मुखी वृत्ति को वासना[१] कहते हैं। इस क्रिया-प्रतिक्रिया के नियम के अनुसार मूल-वासना के दो रूप हैं—जीवन और मृत्यु, काम और अहंकार, अथवा बुभुक्षा और मुमुक्षा। परन्तु, व्यवहारतः दो होकर भी पारमार्थिक दृष्टि से वासना एक ही है, अर्थात् मुमुक्षा या मृत्यु-वासना या निर्वाण-वासना, जिसके कारण मनुष्य नित्य ही एक स्थिर, अचंचल, सुख-दुःख के ऊपर परम सुख अथवा शान्ति की स्थिति पाना चाहता है। बुभुक्षा इस स्थिति में पहुँचानेवाली सोपान-श्रेणी का काम करती है। व्यावहारिक एवं वैषयिक सुख के उपकरणों के भोगों के पीछे-पीछे दौड़ता हुआ मनुष्य तज्जनित क्षणिक सुखों का त्याग करता हुआ अनवरत उस परम-सुख के अभाव का बार-बार अनुभव करता है। डॉ॰ फ्रायड की भाषा में सुख-तत्त्व पुनरावृत्ति-तत्त्व के अधीन काम करता है। प्रत्यक्षतः देखा जाता है कि मनुष्य की सारी क्रियाएँ सुख पाने के लिए होती हैं, परन्तु, सचमुच, उसकी सारी क्रियाएँ होती हैं सुख-ज्वालाओं के निर्वाण के लिए अथवा अमृत होने के लिए।

मनुष्य की क्रिया-भूमि संसार है। जब इस काम-वासना या बुभुक्षा को लेकर पुरुष संसार में जन्म लेता है, तब वह पहले से ही यह अनुभव करता है कि वह संसार उसकी सर्वग्रासी बुभुक्षा अथवा उसके सर्वभुक् काम-उमंग के सम्मुख एक कठिन बाधा उपस्थित करता है। वह जब जैसा चाहता है वैसा हो नहीं पाता। उसके भीतर की, अन्तःकरण अथवा चित्त की, सुख-वासना को वस्तु-स्थिति के सम्मुख सिर झुकाना

१—Instinct.

पड़ता है। सुख-तत्त्व को वस्तु-तत्त्व के अधीन होना पड़ता है। मनुष्य की सारी अशान्ति के मूल में है, यही सुख-तत्त्व और वस्तु-तत्त्व के बीच का विरोध। मनुष्य अपनी सर्वग्रासी बुभुक्षा को हर तरह से सदैव तृप्त कर उसके वेग को नष्ट कर देना चाहता है, परन्तु वस्तु-तत्त्व के विरोध के कारण उसे निरुद्ध करना पड़ता है, तथा संयम को स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार जहाँ एक ओर भीतर असह्य अप्रतिरुद्ध वासना का वेग है, वहीं दूसरी ओर संसार के सामने उस वेग को, वस्तु-स्थिति के अनुकूल रहकर, तृप्त करने की चेष्टा है। अतः इन दोनों वृत्तियों के आधार स्वरूप उसके अन्तःकरण के प्रधानतः दो भाग हो जाते हैं, जिनमें एक है वस्तु-स्थिति के सम्मुख सदा लड़ने के लिए सन्नद्ध अथवा सजग ज्ञात-भूमि, और दूसरा है सहज-वासनाओं का क्रीडा स्थल अज्ञात-भूमि। मनुष्य शत्रु अथवा वस्तु-स्थिति से समर लेने की सन्नद्धता के कारणों का परिज्ञान रखता है, अतः वह ज्ञात-भूमि को ही अपना मन समझ बैठता है। अतृप्त वासनाओं की क्रीडा-भूमि मनुष्य से दूर पड़ जाती है, अतः वह उसे भूल जाता है, और वह पर हो जाता है। इसीलिए मनुष्य अपने अन्तःकरण के अथवा अपने मन के उपरितल के एक क्षुद्र अंश को अपना सम्पूर्ण मन समझ बैठता है, और वर्त्तमान रहनेवाली अपनी अज्ञात अथवा अव्यक्त प्रकृति, स्वभाव या स्वधर्म के वेगों को, जिनके विना उसका अस्तित्व ही सम्भव नहीं हो सकता, अपना न समझकर, भ्रम से निरुद्ध करने के असफल प्रयत्न में तत्पर होता है। मनुष्य, इस प्रकार, स्वधर्म को छोड़कर परधर्म को अपनाता है। वह भूल जाता है कि अपने से भागना सर्वथा असम्भव है। स्वधर्म अर्थात् अपनी सच्ची प्रकृति तो अपना काम करेगी ही। उसे यह स्मरण नहीं रहता कि—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥[१]

इसके फलस्वरूप उसे इस भ्रमात्मक जीवन में दुःख-ही-दुःख मिलते रहते हैं। पर-धर्म के ग्रहण से भय ही उसका एकमात्र साथी बन जाता है।

इस भय से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है स्वधर्म-ग्रहण, तथा उसके साथ अपनी सच्ची प्रकृति में स्थित होकर और तदनुसार चलकर उसके ऊपर उठना, एवं उसके वेगों को सुचारु रूप से क्रियान्वित कर उनको तृप्त करना। इसीलिए, कहा जाता है कि अपनी सहज अवस्था ही उत्तम है। 'उत्तमा सहजावस्था।' परन्तु, किसी वस्तु के ग्रहण के पूर्व उसका परिज्ञान आवश्यक है, अतः स्वधर्म को ग्रहण करने अथवा उसमें स्थित होने के पूर्व उसे पूर्णतः जानना आवश्यक है। अपने को पूर्णतः जानना ही व्यवहारतः और परमार्थतः प्रथम और प्रधान कर्त्तव्य है। इसीलिए उपनिषद् के ऋषि की एकमात्र वाणी है—'जानो, अपने को जानो', यथा—

१—भगवद्गीता : ३. ३३, ३. ३५

आत्मा वारे विजिज्ञासस्व, आत्मैव विजिज्ञासितव्यः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥[1]

मनुष्य क्षुद्र मन लेकर अपना क्षुद्र जीवन बिता रहा है, इसीलिए वह अपने बृहत् मन से, अपने बृहत् मन के निर्द्वन्द्व वेगों के सम्मुख घबराता है। अपने क्षुद्र मन के क्षुद्र संस्कारों से उन वेगों को जानना चाहता है, अर्थात् राख से आग को छिपाना चाहता है। परन्तु, यह चेष्टा असम्भव है। उसके ज्ञात क्षुद्र मन की क्रियाओं के साथ-साथ अव्यक्त अथवा अज्ञात बृहत् मन के वेग उसके सभी इन्द्रिय-द्वारों से बाहर निकल आते हैं। वह अपने वाक्य से अथवा ज्ञातभाव से नहीं कहना चाहता, पर उसके अन्तः के वेग प्रत्येक रोमकूप से, प्रत्येक इन्द्रिय से, अर्थात् उसकी आँखों, कानों, नाक, हाथों-पैरों आदि की अविरत चंचलता से, उसे धोखा देकर सदा बाहर आया करते हैं। इतना ही नहीं, वे अन्तः के भावावेग उसके ज्ञात मन की सुव्यवस्थित धारा को तोड़कर अव्यवस्थित रूप में कल्पना-जालों की सृष्टि करने लगते हैं। मन, वाक्य और शरीर की क्रियाओं, अर्थात् आचरणों द्वारा वे अतृप्त, निगृहीत अथवा अन्तर्निरुद्ध भावावेग अपने को येन-केन-प्रकारेण तृप्त करने की चेष्टा किया करते हैं। यदि हमें अपने को पूर्णतः जानना है, तो हमें निस्संकोच अपनी सारी क्रियाओं को ज्ञप्ति के दिवालोक में रखना होगा, और स्वीकार करना पड़ेगा अपने क्षुद्र ज्ञात मन के क्षुद्र संस्कारों को हटाकर साहसपूर्वक अपने स्वधर्म को।

पर यह काम होगा कैसे? हमें इसे ज्ञात मन से ही तो जानना होगा? हमारा ज्ञात मन तो सामाजिक, खण्डित, उपाधियुक्त, देश-काल-पात्र से अवच्छिन्न, कठिन संस्कारों का पुंजीभूत क्रियान्वित रूप है और अज्ञात-अव्यक्त है। सर्वथा उससे विपरीत, असामाजिक, अखण्डित, व्यापक, निरुपाधिक, देशकाल-पात्रातीत, स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, शिशुवत् सावलील, वहमान शक्ति का आदि रूप। अतः ज्ञात मन से इन अज्ञात चित्त-वृत्तियों को जानने की चेष्टा करना सर्वथा निरर्थक है। सिपाही के सामने चोर की भाँति, ज्ञात के सामने अज्ञात सदा छिप-छिपकर अपना काम करना चाहता है। साधारण ज्ञात मन से यह काम होना सम्भव नहीं है। जबतक ज्ञात मन के सामाजिक संस्कारों का कठिन बन्धन हट नहीं जाता है, तब तक इसे जानने की कोई भी आशा नहीं है। इसीलिए, अध्यात्म-दृष्टि से ज्ञान का प्रथम और प्रधान साधन है **वैराग्य**। यहाँ तक कहा गया है कि ज्ञान और कुछ नहीं है, वह है केवल वैराग्य की पराकाष्ठा, यथा—'वैराग्यस्य पराकाष्ठा ज्ञानम्'। वैराग्य भी प्रगतिशील है। सामाजिक संस्कारों के प्रति वैराग्य ही बाल-वैराग्य है। उससे मनुष्य के अन्दर मुमुक्षा इस स्थिति में आ जाती है कि वह उपाधियुक्त सामाजिक बन्धनों के विरुद्ध चलकर भी अपने चित्त-वेग से मुक्त होना चाहता है। उस समय उसके भीतर सामाजिक संस्कारों की महत्ता नहीं रह जाती। इसलिए, उसके ज्ञात मन के दिवालोक में उसके अपने अज्ञात वासना-वेग आत्मप्रकाश कर सकते हैं। जिसके मन में यह वैराग्य प्रबल है, वह अपने अन्दर

१—मुण्डकोपनिषद् : २. ७. ५

डूबता रहता है और अज्ञात के वेगों को जानकर उसे तृप्त कर चरितार्थ कर देता है। वेगों की तृप्ति से, अन्त में, उनकी क्रियोन्मुखी सारी शक्ति शान्त हो जाती है, सभी दुःख-ज्वालाएँ निर्वाण को प्राप्त होती हैं, पुरुष मृत्यु से ऊपर उठकर अमृत को प्राप्त कर लेता है, और आप्तकाम, आत्मकाम एवं अकाम होकर परम साम्य में स्थित हो जाता है। परन्तु, जिसके मन में वैराग्य इतना प्रबल नहीं होता है, वह किसी श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष की शरण में जाता है। जब उसके मन में सामयिक वैराग्य का वेग हो आता है और वह बेचैन हो जाता है, तब गुरु की शरण में जाकर अपने मन की ज्वालाओं का वर्णन करता है, जिससे उसके अन्दर के भावावेगों का रेचन हो जाता है और उसे क्षणिक तृप्ति मिलती है। इसीलिए, किसी-किसी धर्म सम्प्रदायों में प्रख्यापन[१] की प्रणाली पाई जाती है। वह पुरुष प्रख्यापन द्वारा अपने चित्त-वेगों से कुछ सीमा तक शान्त होकर फिर गुरु के उपदेशानुसार अपने वासना-वेगों की तृप्ति के लिए प्रयत्न करता है। परन्तु, जिस पुरुष में इतना भी वैराग्य नहीं है, उसके लिए क्या उपाय है? क्या उसका जीवन असफल होगा?

अध्यात्म-योग में गुरु-शिष्य के वर्णन-प्रसङ्ग में उपनिषद् का आदेश यह है—

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥[२]

—अर्थात् गुरु को श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए और होना चाहिए सच्चा विद्वान्। और, शिष्य के लिए भी प्रशान्तचित्तता और शमान्वितता अनिवार्य है। यह उत्तम अधिकारी की बात है। जिसके मन की चञ्चलता दूर नहीं हुई है तथा जिसके मन का वैराग्य प्रायः अदृढ है, उसके लिए डॉ० फ्रायड की महत्ता है। पहले ही कहा जा चुका है कि अज्ञात मन के भावावेगों की जानकारी परमावश्यक है, और उन्हें जानने के लिए ज्ञात मन असमर्थ है। यदि किसी उपाय से इस ज्ञात मन के कठिन बन्धन हटा दिये जायँ, तो अज्ञात क्रियाओं के बाहर आने में कोई भी रुकावट नहीं रह जाती। वैराग्य से जिस प्रकार रुकावट दूर की जाती है, उसी प्रकार डॉ० फ्रायड की चित्त-विश्लेषण-प्रक्रिया के प्रयोग से ज्ञात मन हट जाता है और अज्ञात की सारी क्रिया पुरुष की ज्ञानगोचरता में आ जाती है। इसके साथ-ही साथ भाव-रेचन हो जाने से, अर्थात् ज्ञात अज्ञात के विरोध के दूर हो जाने से मन की अस्वाभाविक विक्षिप्तता दूर होने में समर्थ होती है, और मन साधारण एवं सहज स्थिति में आ जाता है। उस समय सहज-भाव से वह अपने स्वधर्म का पालन करने में समर्थ होता है। मन की अस्वाभाविक विक्षिप्तता को दूर कर उसे साधारण स्थिति में लाने का श्रेय चित्त-विश्लेषण-प्रक्रिया को है। जो काम साधारण रीति से विशेष अवस्था में ऋषि, मुनि,

---

१—Confession.

२—मुण्डकोपनिषद् : १, २, १३

साधक महापुरुष किया करते हैं, उसी को अंशतः एक सुदृढ वैज्ञानिक भित्ति पर सुप्रतिष्ठित करना डॉ० फ्रायड की प्रणाली का काम है। माया या अविद्या की अथवा उसके व्यष्टि-रूप मन की शक्ति की दो अवस्थाएँ हैं—साधारण और विशेष; अथवा शास्त्र की भाषा में आवरण और विक्षेप। साधारण या आवरण शक्ति से मन का उदय अर्थात् बहिर्मुखता विषय की, और संसार के प्रति सुख-दुःख के बन्धनों से साधारणतः आबद्ध होना है; और विशेष या विक्षेप शक्ति से उन बन्धनों को और अधिक पृथक्-पृथक् कर, और अधिक विशेष-विशेष बन्धनों को स्वीकार करना है। पहला मन की अज्ञात-भूमि का धर्म है, और दूसरा ज्ञात-भूमि का। पहले में भाव प्रधान है, दूसरे में क्रिया। चित्त-विश्लेषण की प्रक्रिया से व्यक्ति इस विक्षेप या विशेष बन्धनों की जटिलता से मुक्त होने में समर्थ होता है, वह अवसाधारण स्थिति से साधारण स्थिति में आ जाता है। केवल रह जाती है, उस साधारण वासना-वेगों की तृप्ति। जब ये वेग तृप्त होते हैं, तब व्यक्ति समस्त क्रियोन्मुखी शक्ति से मुक्त होकर अक्रिय निर्विकल्प रूप को अथवा अमृत को प्राप्त कर लेता है।

अध्यात्म-दृष्टि से चित्त-विश्लेषण को देखने से यह विदित होता है कि व्यक्ति की एक सत्य पारमार्थिक स्थिति है, जो उसका स्वराज्य है और जो अद्वय शान्त एवं निष्क्रिय है। असाधारण स्थिति में व्यक्ति उस अद्वय, शान्त एवं निष्क्रिय स्थिति से पृथक् हो गया रहता है। अपने स्वास्थ्य को खोकर व्यक्ति रोग का शिकार बन जाता है और उसका वह रोग अभिनिवेश के कारण दृढ होता हुआ विचित्र रूपों की जटिलता में कठिन, कठिनतर, कठिनतम हो जाता है। व्यक्ति अपने वैयक्तिक और सामाजिक जीवनों के संघर्ष और विरोध से आत्मरक्षा करने के लिए अधिकतर सामाजिक संस्कारों का ग्रास बन जाता है। परन्तु, इससे सर्वथा आत्म-प्रवंचन के लिए विवश होने के कारण उसके भीतर सदा एक बेचैनी काम करती रहती है। इस बेचैनी से मुक्त होने के लिए वह जितना ही प्रयत्न करता है, उतना ही, एक दलदल में फँसे हुए मनुष्य की भाँति अपने मानस-मायाजाल में अधिकतर कठिनता के साथ फँसता जाता है। उसके अन्दर के वासना-वेग को, जो कि विना तृप्ति के कभी शान्त हो ही नहीं सकता, निरुद्ध होना पड़ता है और बाहर की वस्तुस्थिति के साथ संघर्ष से बने हुए ज्ञात मन के दास अहंकार और उसके गणों के साथ उसे सदा लड़ते रहना पड़ता है।[१] इस भाँति उसका जीवन विक्षिप्तता का आधार बन जाता है, और उसे सदा एक अभाव का बोध होता रहता है, अतः व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन में साम्य प्राप्त करने का पहला और प्रधान उपाय है उस अभाव को पूर्णतः जानना तथा ज्ञात मन के क्षुद्र परधर्म में रहने के कारण अज्ञात-अव्यक्त के व्यापक स्वधर्म में जो क्षोभ पैदा हो गया है, उसके स्वरूप को पहचानना।

डॉ० फ्रायड का चित्त-विश्लेषणशास्त्र और प्रक्रिया इस स्वरूप को जानने के

१—*S. Freud : 'The Ego and the Id.'*

अमूल्य साधन हैं। स्वच्छन्दानुबन्ध [१] से ज्ञात मन का बन्धन शिथिल हो जाता है और उस शास्त्र के विभिन्न तत्त्वों की सहायता से उस शिथिल-बन्धन के भीतर बद्ध भाव आसानी से बाहर निकल पड़ते हैं। रुद्ध, निगृहीत भाव-वेगों के रेचन के साथ-साथ चित्त में एक स्वस्ति की ठंडी साँस आ जाती है। व्यक्ति का सारा जीवन एक अस्वाभाविक विक्षिप्त स्थिति में से निकलकर स्वाभाविक, एकाग्र एवं सहज-अवस्था को प्राप्त कर लेता है, और व्यक्ति परधर्म की अँधेरी कोठरी से बाहर आकर स्वधर्म के खुले मैदान में निर्भय होकर चलने में समर्थ होता है।

इस कार्य में अज्ञात-अव्यक्त की सारी क्रियाओं को जानने के लिए डॉ० फ्रायड ने सर्वप्रथम स्वप्नों का अनुव्याख्यान किया है। फिर उनके और उनके अनुयायियों के अक्लान्त उद्यम और सत्यनिष्ठा के परीक्षण और अनुशीलन से जागते स्वप्न, अनुदिन की त्रुटियाँ [जिसमें विस्मृति, भूल-चूक (मन, वाक्य और शरीर से कृत समस्त तथाकथित अकारण क्रियाएँ) सम्मिलित हैं,] रंग-रस, मुद्रादोष, जीविका-ग्रहण, प्रतीक, जीवन में मैथुन या काम भाव का स्थान, कला, काव्य पुराणादि का रूपक, साम्प्रदायिक धर्म आदि भाव-राज्य की सारी क्रियाओं को, जो कि पहले प्रायः कारणहीन समझी जाती थीं, अथवा उनकी प्रबलता के कारण ज्ञात मन की कार्य-कारण-शृंखला में उन्हें न बाँध सकने के लिए लोग उनसे डरते थे, और उस डर से मुक्त होने के लिए ईश्वर-शैतान, स्वर्ग-नरक आदि काल्पनिक एवं अलौकिक विषयों की सृष्टि कर फिर उन सबके द्वारा अपने को बाँधकर दुःख पाते थे,—एक ही अटल, सहज, स्वाभाविक हेतु-फल-सन्तति अथवा कार्य-कारण-शृंखला में बाँधकर मनुष्य के अस्वाभाविक जीवन को स्वाभाविक बना दिया है।[२] व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन को एक असाधारण स्थिति से एवं परधर्म से उठाकर एक साधारण स्थिति में एवं स्वधर्म में प्रतिष्ठित करने का श्रेय डॉ० फ्रायड का है। अतः चित्त-विश्लेषण-शास्त्र मन की विक्षिप्तता दूर कर उसे एकाग्र करने में बहुत दूर तक समर्थ है।

अब यह जानना अवशिष्ट रह जाता है कि व्यक्ति किस प्रकार अपने स्वधर्म को स्वीकार कर, एकाग्रता के साथ, अपने वैयक्तिक मन के साधारण वेग (शास्त्र की भाषा में, माया की आवरण-शक्ति) को तृप्त कर शान्त हो सकता है। अध्यात्मयोग का पहला अंश डॉ० फ्रायड के सिद्धान्तों के अनुसार सहज हो जाता है, व्यक्ति की

१—Free Association.

२—*S. Freud : 'Interpretation of Dreams'* ; *Varendouk : 'The Psychology of Day-Dreams'; S. Freud : 'Psycho-pathology of Everyday life'; 'Wit and the Unconscious'; 'Totem and Taboo.'* इसके अतिरिक्त डॉ० फ्रायड की अन्य पुस्तकें और फिष्टर (Pfister), जोन्स (Jones), रैंक (Rank), फेरेंक्जी (Ferenczi) आदि के ग्रन्थ अवलोकनीय हैं। जो मनोवैज्ञानिक चित्त-विश्लेषण-शास्त्र की प्रणाली द्वारा मानसिक रोगों की चिकित्सा में अभिरुचि रखते हैं, उन्हें डॉ० त्रिग्वी ब्राटॉय (Trygve Braatoy, M.D.), द्वारा लिखित '*Fundamentals of Psychoanalytic Technique* (John Wiley & Sons, Inc. New York या Chapman & Hall, Ltd., London, 1954) जो अभी-अभी सन् १९५४ में प्रकाशित हुई है, पढ़ना चाहिए।

सच्ची प्रकृति सुस्पष्ट हो जाती है, और उस प्रकृति को स्वीकार करने तथा अपनाने में कोई अस्वाभाविक बाधा नहीं रह जाती। मन विक्षिप्तावस्था को त्याग कर एकाग्र होने में समर्थ होता है। पातंजलयोग[1] के अनुसार वह योग का अधिकारी होता है, अर्थात् अध्यात्मयोग के दूसरे अंश में प्रवेश करता है।

डॉ० फ्रायड अपने को सदा एक साधारण वैज्ञानिक क्षेत्र में ही रखना चाहते थे। उनका अनुशीलन जब-जब उनको साधारण विज्ञान की सहज परिसमाप्ति के, जो वेदान्त-विज्ञान अथवा अध्यात्म-विज्ञान है, सामने एकाएक ले आता था, तब-तब वे अपने को रोक लेते थे। एक वैज्ञानिक का संस्कार उन्हें उनकी अनिवार्य परिणति से भी अलग खींच लेता था। वे बीच में रहना चाहते थे। जिस अस्वाभाविक अज्ञान-बन्धनों के बाह्य रूप को उन्होंने पहचाना है, उसी के आन्तर बन्धनों के सामने वह जीव-बुद्धि के कारण घबराते-से थे। उनके उद्घोषों से, लगता है वे साधारण जड-बुद्धि बहिर्मुख व्यक्ति की भाँति अपनी अन्तर्मुखता को बाहर ही रख देना चाहते थे। गेटे[2] के समान वे अरूप एवं निराकार से डरते थे। वे यह बात भूल ही गये कि अध्यात्म ही आदि, मध्य और अन्त है; केवल मध्य में एक अज्ञान का माया-जाल अपनी मरीचिका को फैलाये हुए है। उन्होंने इस मरीचिका के बाह्य रूप को समझते हुए भी, उससे अपनी तृष्णा मिटानी चाही है। परन्तु, अधिक दिनों तक यह काम चल नहीं सकता। चित्त-विश्लेषकों की तीव्र एवं सरल सत्यनिष्ठा उनको इस आन्तर बन्धनों से भी मुक्त करेगी। जब तक यह काम नहीं होता है, तब तक अध्यात्म की अतीन्द्रिय, सूक्ष्म एवं निर्मल स्थिति को जड-विज्ञान के इन्द्रियग्राह्य स्थूल, समल हाथों से कलंकित होना पड़ेगा; जैसा कि जेनेवा के एक दर्शन के अध्यापक ने बताया था। एक बार एक मनोविकलक (चित्त-विश्लेषक) के साथ दार्शनिक आलोचना के प्रसंग में जेनेवा-युनिवर्सिटी के एक दर्शन के अध्यापक को रहस्य के साथ पूछना पड़ा था; 'पर, कहिए तो जडोन्माद से अभिभूत एक रोगी एवं किसी अध्यात्मविद् पण्डित में क्या अन्तर है?'[3] चित्त विश्लेषण की प्रक्रिया में विपद् की काफी सम्भावना है। चित्त-विश्लेषक में किसी व्यक्ति के चित्त के सब भावों के प्रकाश को तटस्थ होकर स्वीकार करने की अमूल्य शक्ति रहनी चाहिए; क्योंकि विश्लेषण का प्रधान साधन है विश्लेषक और पात्र के बीच सरल एवं अकपट आत्मवत् व्यवहार की अवस्थिति—जिसका पूर्ण विकास अपदेशन[4] में होता है। यदि चित्त-विश्लेषक उदासीन न हो सके, उसकी क्षुद्र

१—पातंजलयोग-सूत्र : १, व्यास-भाष्य

२—देखिए भूमिका।

३—A professor of the University of Geneva, during a philosophical discussion with a psycho-analyst found it necessary to interject good humouredly—"But what difference do you make, then, between a metaphysian and a patient suffering from dementia Praecox?"

—*C. Bandouin : 'Studies in Psycho-analysis,' p. 32.*

४—Transference.

भोग-वृत्ति उसके ऊपर प्रभुत्व करती रहे, तो व्यभिचार अनिवार्य है। इसलिए, उपनिषद् के ब्रह्मनिष्ठ गुरु के कुछ गुण विश्लेषक में रहने चाहिए। डॉ० फ्रायड में इसका अभाव नहीं था। एक बार एक अमेरिकी दर्शन ने उनके साथ वार्त्तालाप करने के उपरान्त यही लिखा था कि डॉ० फ्रायड के चेहरे पर एक ऐसा कोमल, सरल एवं अकपट भाव-रेचन खेल रहा था कि उसे लगा, मानो वह किसी अन्तरङ्ग मित्र के पास आया हो। अतः अध्यात्मयोग में गुरु का जो स्थान है, वही विश्लेषण-क्रिया में विश्लेषक का है। दोनों का ही दुरुपयोग हो सकता है। इसके सम्बन्ध में बोडुईन महोदय का एक कथन सार्थक है—'क्योंकि एक द्रव्य विषमय है, इसलिए हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि उसका व्याधिशमक मूल्य नहीं है। तिस पर भी, यदि वह विषमय द्रव्य हो, तो हमें उपयोग करने के पूर्व दो बार अवश्य सोच लेना चाहिए।[१] विकलक के प्रति पात्र का यह भाव सम्बन्ध ही गुरु के प्रति शिष्य के आत्म-समर्पण और भक्ति के बराबर है। विष के समान अपात्र में पड़ने से भय और सुपात्र में पड़ने से अभय की प्राप्ति होती है। इसलिए, डॉ० फ्रायड ने अनेक बार इस विषय में सबको सचेत होने का अनुरोध किया है। बोडुईन ने अच्छी तरह इस भाव का प्रकाश किया है।[२] श्रुति में दो शब्दों (श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ विद्वान्) में इस भाव का दिग्दर्शन है। तन्त्र-शास्त्र में आया है—

> ज्ञानं यत्र समाभाति स गुरुः शिव एव हि।
> अज्ञानिनां वर्जयित्वा शरणं ज्ञानिनां व्रजेत् ॥[३]

१—'Because a substance is poisonous, we must not therefore infer that it can have no curative value. Still, if it be poisonous, we must think twice before we use it.'

—*C. Bandouin : 'Studies in Psycho-analysis.' p. 104.*

२—In so far as the psycho-analyst exercises such an (personal) influence, it is the outcome of a mingling of numerous qualities, which we cannot always expect to find assembled in the same individual—such qualities as the quasi-artistic talent for intuitively divining the sub-conscious, a severely critical sense, firmness and decision, confidence and self-command, sympathy, moral value—all the qualities which characterise a great spiritual director [F. N.:—Confession has been termed as 'anticipation of psycho-analysis.' A Roman Catholic writer (Cochet, Psycho-analyse et mysticisme, p. 562.), though strongly critical of psycho-analysis, writes—'Without transference no cure. As soon as transference has occurred, the doctor's task of moral regeneration resembles that with which Catholic confessors are familiar. It is of great value in a Protestant land where so many young men suffer from hidden troubles and unavowed torments.'] —*Ibid, p. 116.*

३—कामाख्यातन्त्र

—अर्थात् जहाँ पर सम्यक् प्रकार ज्ञान विराजित है, वही शिव-स्वरूप कल्याणकारी गुरु हैं। अज्ञानियों का परित्याग कर ज्ञानियों की शरण में जाना चाहिए।

सिद्धशास्त्र योगवासिष्ठ का आदेश है—

तत्त्वं ज्ञातुमतो यत्नाद्धीमानेव हि धीमता।
प्रामाणिकः प्रबुद्धात्मा प्रष्टव्यः प्रणयान्वितम्॥

प्रामाणिकस्य पृष्टस्य वक्तुरुत्तमचेतसः।
यत्नेन वचनं ग्राह्यमंशुकेनेव कुङ्कुमम्॥

अतत्त्वज्ञमनादेयवचनं वाग्विदां वर।
यः पृच्छति नरं तस्मान्नास्ति मूढ़तरोऽपरः॥

प्रामाणिकस्य तज्ज्ञस्य वक्तुः पृष्टस्य यत्नतः।
नानुतिष्ठन्ति यो वाक्यं नान्यस्तस्मान्नराधमः॥

अज्ञता-तज्ज्ञते पूर्वं वक्तुर्निर्णीय कार्यतः।
यः करोति नरः प्रश्नं पृच्छकः स महामतिः॥

अनिर्णीय प्रवक्तारं बालः प्रश्नं करोति यः।
असमः पृच्छकः स स्यान्न महार्थस्य भाजनम्॥[1]

—अर्थात् अतएव, बुद्धिमान् व्यक्ति, तत्त्व को जानने के लिए, प्रमाणपटु (श्रोत्रिय) प्रबुद्धात्मा (ब्रह्मनिष्ठ) धीमान् व्यक्ति को यत्न के साथ प्रणयपूर्वक पूछे। वसन से जिस प्रकार कुंकुम का ग्रहण होता है, उसी प्रकार उत्तमचेता प्रामाणिक पुरुष से पूछकर आदर के साथ उनके वचनों को मानना चाहिए। अतत्त्वज्ञ एवं उपदेश देने में असमर्थ अयोग्य पुरुष को जो इस विषय के सम्बन्ध में पूछता है, उससे बढ़कर मूढ कोई और नहीं है।... जो मनुष्य पहले ही 'वक्ता अज्ञ है या तत्त्वज्ञ है', इस विषय का निर्णय करने के बाद प्रश्न पूछता है, वही महामति प्रश्नकर्त्ता है। आदि।

इसके साथ ही योगवासिष्ठ में प्रामाणिक वक्ता महापुरुष के लक्षण के सम्बन्ध में निम्नलिखित उक्ति है—

महापुरुषता ह्येषा शमादिगुणशालिनी।
सम्यग्ज्ञानं विना राम सिद्धिमेति न काञ्चन॥[2]

—अर्थात् हे राम! शमदमादि गुण और प्रकृष्ट ज्ञान ही महापुरुष के लक्षण हैं। सम्यग्ज्ञान के विना यह महापुरुषत्व सिद्ध नहीं होता है।

शमादि गुणों के अधिकारी के कार्यों का वर्णन यों है—

श्रुत्वा पृष्ट्वा दृष्ट्वा च भुक्त्वा स्नात्वा शुभाशुभम्।
न हृष्यति ग्लायति यः स शान्त इति कथ्यते॥

१—योगवासिष्ठ : मु० प्रकरण, ११.४३-४८
२—वही : २०. ३

यः समः सर्वभूतेषु भावि कांक्षति नोज्झति ।
जित्वेन्द्रियाणि यत्नेन स शान्त इति कथ्यते ॥

पृष्टावदातया बुद्ध्या यथेवान्तस्तथा बहिः ।
दृश्यन्ते यत्र कार्याणि स शान्त इति कथ्यते ॥

× × ×

अमृतस्यन्दसुभगा यस्य सर्वजनं प्रति ।
दृष्टिः प्रसरति प्रीता स शान्त इति कथ्यते ॥

योऽन्तःशीतलतां यातो यो भावेषु न मज्जति ।
व्यवहारी न संमूढः स शान्त इति कथ्यते ॥[1]

—अर्थात् जो महापुरुष शुभाशुभ दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, भोजन अथवा शुभाशुभ जल से स्नान कर हर्ष या ग्लानियुक्त नहीं होते, वही शान्त कहलाते हैं। जो सर्वभूतों के प्रति समदर्शी हैं, जिन्होंने यत्न के साथ अपनी इन्द्रियों का जय किया है, जो भावी सुख आदि की इच्छा नहीं रखते, और जो प्राप्त विषय का परित्याग नहीं करते, वे ही शान्त हैं। जो दूसरों की कुटिलता आदि जानकर भी भीतर और बाहर स्वच्छ बुद्धि के साथ काम करते हैं, वही शान्त हैं। अमृतस्यन्द की भाँति जिनकी सुन्दर दृष्टि सब लोगों के प्रति प्रीति के साथ प्रसारित हुआ करती है, जिनका अन्तर शीतल है, और जो विषयों के साथ व्यवहार करते हुए भी मूढ लोगों के समान आसक्त नहीं होते, वही शान्त कहलाते हैं। अतः यह देखा जाता है कि विश्लेषण-कार्य के लिए उन्हीं दोनों बातों की प्रधान आवश्यकता है, जो अध्यात्मयोग के लिए अनिवार्य-सी हैं और वे बातें हैं विश्लेषक या गुरु का निर्वाचन और उनके प्रति आत्म-समर्पण के साथ जिज्ञासा, जिसका उल्लेख भगवद्गीता के निम्नांकित श्लोक में भी हुआ है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥[2]

—अर्थात् तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषों के सामने आत्म-समर्पण के साथ सेवा करते हुए अपने चित्त की दुःख ज्वालाओं के सम्बन्ध में वार्त्तालाप कर सत्य एवं तत्त्व को जानने के लिए तैयार होना चाहिए।

इस रीति से समुद्र की भाँति अतलस्पर्श एवं निर्विकार व्यक्ति के सामने संकोचरहित होकर जब अपने चित्त के क्षुद्र-से-क्षुद्र सामाजिक संस्कारों से निरुद्ध तथाकथित पाप-पुण्यात्मक भावों का वर्णन किया जाता है, तब उन भावावेगों के रेचन से चित्त का क्षोभ दूर हो जाता है। जिन समस्याओं को मनुष्य क्षुद्र संस्कार-जनित अज्ञान से असाधारण समझकर सदा भीतर ही भीतर अपने को कोसा करता था, जिनको वैयक्तिक समझकर घबराता था, उन्हीं को वह समग्र-दर्शन से सुस्पष्ट रूपेण

१—वही : १३. ७२-८३
२—भगवद्गीता : ४. ३४

यह देखता है कि वे वैयक्तिक नहीं हैं, वरन् सर्वव्यापक हैं। वह देखता है कि वह इस भासमान जगत् का एक क्षुद्र अंश नहीं है, बल्कि वह पूर्ण जगत् ही है, सारे प्राणी-जगत् की जो समस्याएँ हैं वे उसकी भी हैं; उसका मन क्षुद्र, खण्डित, वैयक्तिक नहीं, बल्कि व्यापक, अखण्ड, साधारण प्राकृतिक है। इस प्रकार उसके मन के विक्षेप दूर हो जाते हैं, वह जगत् के अन्दर का जगत् होकर अपने चित्त की 'ध्येय-वासनाओं' का परित्याग करने के लिए सन्नद्ध हो जाता है। फिर, उसके उपरान्त निरन्तर प्रयत्न से जीवन्मुक्ति को प्राप्त करने के बाद वह 'ज्ञेय वासनाओं' का परित्याग कर सकता है।[१]

शिष्य और आचार्य या गुरु के सम्बन्ध में तो ये बातें हैं। परन्तु, ज्ञान-प्राप्ति के प्रकृत अधिकारी के जीवन में उसके माता-पिता का कौन-सा स्थान है, इसका उल्लेख श्रुति में इस प्रकार है—

मातृमान्पितृमानाचार्यवान् वेद।

—अर्थात् उपयुक्त माता, पिता और आचार्य जिसके हैं, वही ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

उपयुक्त गुणवान् माता-पिता की शुभेच्छा से जात, गर्भ में उपयुक्त गुणवती माता के भावों से पुष्ट-वर्द्धित, जन्म के बाद सतर्क-स्नेह से परिपूर्ण माता की भाव-कोमलता से प्रफुल्लचित्त तथा सस्नेह-विनय-दृष्टि से सजग पिता के ज्ञान-निर्देश से तीक्ष्णधी

१—माया या अज्ञान के आवरण और विक्षेप के रूप ही भाषान्तर से योगवासिष्ठ की ज्ञेय और ध्येय नामक वासनाएँ हैं—

"सर्वत्र वासनात्यागो राम राजीवलोचन।
द्विविधः कथ्यते तज्ज्ञैर्ज्ञेयो ध्येयश्च मानद॥
अहमेषां सदर्थानामेते च मम जीवितम्।
नाहमेभिर्विना कश्चित् न मयैते विना किल॥
इत्यन्तर्निश्चयं कृत्वा विचार्य मनसा सह।
नाहं पदार्थस्य न मे पदार्थ इति भाविते॥
अन्तःशीतलया बुद्ध्या कुर्वत्या लीलया क्रियाम्।
यो नूनं वासनात्यागो ध्येयो रामः स कीर्त्तितः॥
सर्वं समतया बुद्ध्या यं कृत्वा वासनाक्षयम्।
जहाति निर्ममो देहं ज्ञेयोऽसौ वासनाक्षयः॥
अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः।
तिष्ठति ध्येयसन्त्यागी जीवन्मुक्तः स उच्यते॥
निर्म्मूलकलनां त्यक्त्वा वासनां यः शमं गतः।
ज्ञेयत्यागमयं विद्धि मुक्तं तं रघुनन्दन॥
ध्येयं तं वासनात्यागं कृत्वा तिष्ठन्ति लीलया।
जीवन्मुक्ता महात्मानः सुजना जनकादयः॥
ज्ञेयन्तु वासनात्यागं कृत्वोपशममागताः।
विदेहमुक्तास्तिष्ठन्ति ब्रह्मण्येव परावरे॥

—यो० वा० : उप० प्र०, १६, ६-१८

बालक की निर्मल दृष्टि के सामने ठीक-ठीक जिज्ञासा पैदा हो सकती है। इसका जिक्र करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा है—

यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा
तच्छैलिनिरब्रवीत्............ ।[1]

इस गूढ रहस्यमन्त्र का भाष्य सम्पूर्ण रूप से डॉ० फ्रायड के सिद्धान्तों में पाया जाता है। शैशव जीवन की महत्ता की घोषणा ही एक रीति से चित्त विश्लेषण शास्त्र का प्रधान काम है। शैशव में मैथुन-जीवन यदि सुचारु रूप से, बिना किसी असतर्क क्षत के, बीत सके; यदि माता-पिता-धात्री आदि का सस्नेह, सतर्क-सजग, संयत व्यवहार हो तो ईडिपस व्यूह का दुष्परिणाम शिशु के जीवन में नहीं आ सकता। उससे शिशु सरल एवं सहज मन की परिणति से हमेशा अपने जीवन को सुखी समृद्ध, विनीत तेजस्वी पायगा और निरर्थक निरोध-निग्रह से उसका भावी-जीवन पंगु नहीं हो सकेगा। साधारण समाज-बन्धनों के कारण जो कुछ निरोध होंगे, वे उपयुक्त आचार्य के 'सौम्य' कहकर सप्रेम बुलाने से तथा उनके प्रथम मन्त्र

ॐ सह नाववतु ॥ सह नौ भुनक्तु ॥ सह वीर्यं करवावहै ॥ तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥[2]

से बालक का चित्त आसानी से उनके प्रति अनुरक्त होने लगता है, सुतरां तदुपरान्त कुशल कुम्भकार के हाथों की मिट्टी की भाँति बालक सुनिपुण आचार्य की शुभेच्छा-परिपूरित परिस्थिति और निर्देश में रहकर शौच, आचार[3] आदि की शिक्षा प्राप्त कर अपने चित्त और बुद्धि-वृत्ति को सुसंस्कृत कर लेता है। इस रीति से वह सदा स्वस्थ, स्वधर्म-निरत, आत्मवान्[4] रहते हुए अपनी सहज वासनाओं का भोग के द्वारा क्षय करता रहता है। अन्त में, अध्यात्मयोग के उस चरम लक्ष्य में स्थित होकर उसके साथ तादात्म्य को प्राप्त करता है, और समझता है—

अविबोधोदयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ।
ज्ञाते संशान्तकलनं मौनमेवावशिष्यते ॥
सर्वमेकमनाद्यन्तमविभागमखण्डितम् ।
इति ज्ञास्यसि सिद्धान्तं काले बोधमुपागतः ॥
विवदन्ते ह्यसम्बुद्धाः स्वविकल्पविजृम्भितैः ।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥[5]

१—बृहदारण्यकोपनिषद् : ४, १, २

२—तैत्तिरीय०: ब्रह्म० वल्ली, अनुवाक १

३—'उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च ॥'—मनुस्मृति : २-६९

४—"ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोतमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्तु अनिराकरणमस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥"

५—योगवासिष्ठ : उत्पत्ति-प्रकरण : ८४, २४–२८

—अर्थात् अज्ञ लोग ही भेदज्ञान कर बहुत विवाद किया करते हैं। कारण, कार्य, स्वत्व, स्वामित्व, हेतु, हेतुमान्, अवयव, अवयवी, व्यतिरेक, अव्यतिरेक, परिणाम, अपरिणाम, विद्या, अविद्या, सुख, दुःख आदि जो कुछ भेद-व्यवहार हैं, वे सब अज्ञ लोगों की मिथ्या कल्पनाएँ हैं और अनभिज्ञ लोगों को समझाने के लिए ही हैं। वस्तुतः जो वस्तु है, उसमें कुछ भी भेद नहीं है, वह एक, अखण्ड, अद्वैत, अनिर्वचनीय, मौन ही है। हे राम! तत्त्वज्ञान के उदय होने से देखोगे कि आद्यन्तविहीन, विभाग-रहित, एक अखण्ड ही रह जाता है। जो लोग बुद्ध नहीं हैं, वे ही अपने-अपने विकल्पज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान के आश्रय से इस प्रकार के झगड़ों में फँस जाते हैं; परन्तु जो बुद्ध हैं, जो जग गये हैं, उनके लिए द्वैत नहीं रह जाता है। केवल व्यवहार-दशा में तत्त्वबोध के पूर्व उपदेश के लिए द्वैत कहा जाता है।

इस तादात्म्य की प्राप्ति से, पूर्णतः आप-ही-आप हो जाने से, सब हर्ष-शोक, बुभुक्षा-मुमुक्षा की माया-मरीचिका, शान्त हो जाती है, अध्यात्मयोग की परिसमाप्ति होती है—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥[1]

—अर्थात् अध्यात्मयोग से मिलनेवाला उस दुर्दर्श, गूढ, भीतर-ही-भीतर रहनेवाला, मन बुद्धि के द्वारा आच्छादित, आदि, शाश्वत, स्वयंज्योति को जानकर मनुष्य धीर होता है और हर्ष शोक का जय कर अमृत हो जाता है।

१—कठोपनिषद्: १,२.१२

अनुक्रमणिका

[जिस पृष्ठ-संख्या के आगे 'टि०' लिखा है, उस पृष्ठ की टिप्पणी में उस शब्द को देखना चाहिए ।]

भ

म

य

र

ल

व

श

स

ह

क्ष

ज्ञ